मदनलाल 'मधु'

गोर्की और प्रेमचन्द

दो अमर प्रतिभायें

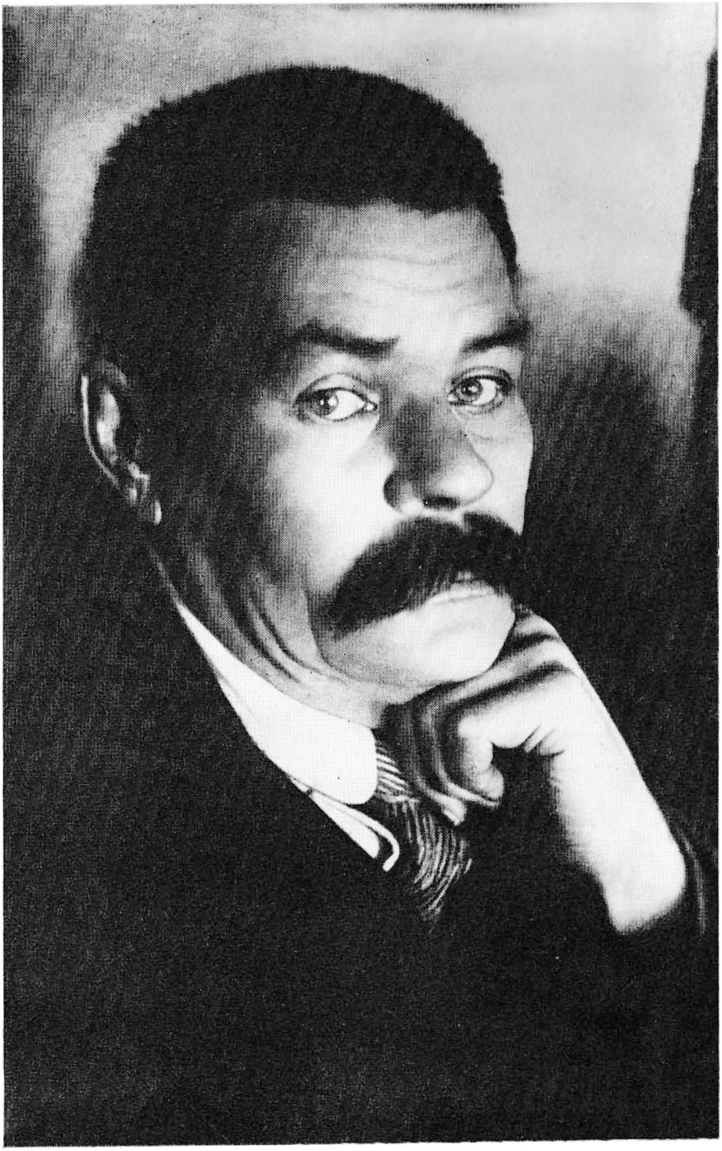
रादुगा प्रकाशन · मास्को



डा० मदनलाल 'मधु' एम० ए०, पीएच० डी०, कवि, समालोचक, अनुवादक-सम्पादक। पंजाब में लगभग दस वर्ष तक अध्यापन-कार्य, दो वर्ष तक आकाशवाणी जालन्धर से सम्बद्ध। अनेक कविताओं, रेडियो नाटकों, रूपकों, संगीत-रूपकों का सृजन। भारत सरकार के विदेश-मन्त्रालय के चुनाव पर १९५७ से मास्को के प्रगति प्रकाशन और अब रादुगा प्रकाशन में कार्यरत। एक सौ से अधिक विश्व-विख्यात रूसी और सोवियत लेखकों की रचनाओं का अनुवाद-सम्पादन। प्रेमचन्द और गोर्की के साहित्य में विशेष रुचि। महान सर्वहारा लेखक के अनेक नाटकों तथा उपन्यासों-कहानियों का अनुवाद अथवा सम्पादन। गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन तथा कृतित्व एवं जीवन-दृष्टिकोणों की सादृश्यता से दोनों पर शोध-कार्य की प्रेरणा। मास्को विश्वविद्यालय के सोवियत साहित्य विभाग द्वारा शोध-प्रबन्ध पर पीएच० डी० की उपाधि।

ISBN 5-05-001506-5

रूस और भारत की अजेय जनता को समर्पित



"साहित्यकार अपने देश, अपने वर्ग की अनुभूति, उसका कान, आंख और हृदय – अपने युग की आवाज़ होता है..."

म० गोर्की



"यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है..."

प्रेमचन्द

मदनलाल 'मधु'

गोर्की और प्रेमचन्द

दो अमर प्रतिभायें

रादुगा प्रकाशन · मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई. रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

МАДАН ЛАЛ МАДХУ

Горький и Премчанд
Два бессмертных таланта

На языке хинди

MADAN LAL MADHU

Gorky and Premchand
Two Inmortal Talents

In Hindi

दूसरा संस्करण • रादुगा प्रकाशन • मास्को १९८७

सोवियत संघ में प्रकाशित

ISBN 5-05-001506-5

अनुक्रम

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक में गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन, उनके युग के सभी पक्षों, सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए दोनों महान लेखकों के पूरे कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है, उनके चिन्तन और जीवन-दर्शन की सादृश्यता तथा अन्तर को केवल स्पष्ट ही नहीं किया गया, बल्कि उनके कारणों को भी खोजने का प्रयास किया गया है। लेखक ने ऐसी पुस्तक की आवश्यकता को विशेषतः इसलिये अनुभव किया कि भारत में गोर्की पर अभी तक जो कुछ काम हुआ है, वह अंग्रेज़ी के माध्यम से ही। डा० मधु ने मूल रूसी स्रोतों को आधार बनाया है और पुस्तक को साधारण पाठक की दृष्टि से तथा सीधी-सरल भाषा में लिखने का यत्न किया है। रूस और भारत के इन दो महान साहित्यकारों को अधिक अच्छी तरह से जानने और समझने में सहायता देना ही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। गोर्की और प्रेमचन्द ने न केवल अपने युग और अपनी जनता की समस्याओं, उनकी आशाओं-आकांक्षाओं, उनके दुख-दर्दों, संघर्षों और हार-जीतों को अपने कृतित्व में अभिव्यक्ति दी है, बल्कि ऐसी आस्थाओं, विश्वासों और साहित्यिक परम्पराओं की भी नींव रखी है, जो देश-काल की सीमाओं के बन्धन तोड़ती हुई सदा और सभी जगह मानव के उत्थान और कल्याण की प्रेरणा देती रहेंगी। मानव की महानता और सच्चे मानवतावाद के इस सन्देश ने ही लेखक को क़लम उठाने के लिये प्रेरित किया है। गोर्की और प्रेमचन्द का यह सन्देश घर-घर पहुंचे!

प्रकाशन गृह को इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि यह पुस्तक भारतीय पाठकों को बहुत पसन्द आई और उन्होंने हमें बहुत से पत्र भेजने की

कृपा की है। भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस पुस्तक की ओर विशेष ध्यान दिया और इसके संबंध में अच्छी समीक्षायें प्रकाशित कीं। उदाहरण के लिये :

"प्रस्तुत ग्रंथ में दोनों लेखकों की प्रतिभा के उन पक्षों को विद्वत्तापूर्वक उद्घाटित किया गया है जिनसे अमर साहित्य की रचना होती है।" ('नवभारत टाइम्स', ६ अगस्त, १९८१)

"गोर्की और प्रेमचन्द के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन पहले भी प्रस्तुत किया गया है, पर प्रस्तुत पुस्तक में शायद पहली बार रूस और भारत की तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इन दो महान लेखकों का क्रमबद्ध और बहुमुखी चित्र प्रस्तुत किया गया।" ('कादम्बिनी', मई १९८१)

दूसरे संस्करण के बारे में कुछ शब्द

प्रस्तुत पुस्तक का पहला संस्करण प्रेमचन्द जी के शताब्दी-समारोह के कुछ महीने पहले सन १९८० में निकला था। मास्को के भारतीय राजदूतावास में आयोजित प्रेमचन्द शताब्दी-समारोह के अवसर पर तत्कालीन सूचना और प्रसारण राज्य मन्त्री श्रीमती रामदुलारी सिन्हा ने इस पुस्तक का विमोचन किया था और राजदूत श्री इन्द्रकुमार गुजराल तथा कुछ सोवियत विद्वानों – जैसे कि प्रोफ़ेसर ये० चेलिशेव – तथा भारतीय मित्रों ने प्रोत्साहन के कुछ शब्द कहे थे। उस समय, जैसा कि स्वाभाविक था, मुझे प्रसन्नता तो हुई थी, किन्तु साथ ही मन में यह चिन्ता और शंका भी रेंग रही थी कि भारतीय या हिन्दी के समालोचकों, विद्वानों और साधारण पाठकों के हाथों में जाने पर इस पुस्तक की क्या नियति होगी। कहना चाहिये कि यदि कभी-कभी आशायें दुराशायें सिद्ध होती हैं तो शंकायें भी निराधार होकर रह जाती हैं। इस पुस्तक को लिखने के मेरे इस विनम्र प्रयास और इतने जटिल विषय पर लेखनी उठाने के दुस्साहस का जो सुखद और मधुर परिणाम सामने आया, उससे मेरी हिम्मत बहुत बढ़ी है। हिन्दी पुस्तकों के सामान्य संस्करणों की प्रति-संख्या को ध्यान में रखते हुए ६ हज़ार से अधिक प्रतियों का पूरा संस्करण ढाई वर्ष में बिक गया और १९८३ के अन्त से इसकी एक प्रति भी कहीं पर उपलब्ध नहीं थी। यदि इस बात को भी ध्यान में रखा जाये कि यह पुस्तक कोई उपन्यास या कहानी-संग्रह नहीं, बल्कि गम्भीर साहित्यिक अन्वेषण और विश्लेषण से सम्बन्ध रखती है (यद्यपि मैंने इसे साधारण पाठक को सामने रखते हुए सरल-सुबोध ढंग से लिखा है) तो इसकी लोकप्रियता

को आशातीत कहा जा सकता है। पिछले दो-तीन वर्षों से भारतीय पाठकों और पुस्तक-विक्रेता फ़र्मों के लगातार अनुरोध प्राप्त हो रहे थे कि इस पुस्तक का नया संस्करण निकाला जाये। अब यह पुस्तक नयी सज-धज और कुछ संशोधनों-परिवर्तनों से आपके हाथों में पहुंच रही है। मुझे इस बात का उल्लेख करते हुए भी बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि अहिन्दी प्रदेशों की पुस्तक-विक्रेता फ़र्मों ने इसे कन्नड़, मराठी और तमिल में छापने के भी अनुरोध भेजे हैं। १९८८ में कन्नड़ में इसका पांच हज़ार प्रतियों का संस्करण निकाला जा रहा है। मुझे आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि अगले दो-तीन वर्षों में न केवल इन्हीं दो, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के पाठकों को भी यह उपलब्ध हो सकेगी। मैं अपने पाठकों और प्रकाशकों का, विशेषकर भारतीय विभाग के अधिकारियों का आभारी हूं कि उन्होंने बड़ी दिलचस्पी लेकर इसे जल्दी से जल्दी निकालने की कोशिश की। इसी प्रकार उन पत्र-पत्रिकाओं तथा उनके पुस्तक-समीक्षकों के प्रति आभार प्रकट न करना कृतघ्नता का परिचय देना होगा जिन्होंने इस पुस्तक पर बड़ी-बड़ी तथा उत्साहवर्द्धक समीक्षायें छापीं। अंग्रेज़ी के दैनिक 'पेट्रिआट', हिन्दी के 'नवभारत टाइम्स', मासिक 'कादम्बिनी' और रूसी में 'इंडिया' पत्रिका के समीक्षकों और सम्पादकमण्डल को विशेष रूप से धन्यवाद देता हूं। लन्दन के School of Oriental and African Studies के प्रोफ़ेसर राल्फ़ रस्सेल का बहुत कृतज्ञ हूं जिन्होंने पुस्तक की बढ़िया सज-धज और विषय-वस्तु की प्रशंसा का पत्र भेजा। उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी साहित्य के प्रोफ़ेसर डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश का भी आभारी हूं जिन्होंने अपने पत्र में लिखा—"आपकी पुस्तक बहुत पसन्द आई। आपने वास्तव में दोनों लेखकों को बहुत सही संदर्भों में समझा है... मुझे आपको बधाई देते हुए हर्ष हो रहा है।" दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ज़ाकिर हुसैन कालेज के प्राध्यापक डा० कमल किशोर गोयनका ने, जो स्वयं भी प्रेमचन्द जी के साहित्य के मर्मज्ञ और गम्भीर अध्येता हैं, ख़ासे बड़े और विद्वत्तापूर्ण पत्र में इस पुस्तक पर अपने विचार लिख भेजने की कृपा की—"आपकी पुस्तक पढ़कर मुझे आश्चर्य मिश्रित आनन्द मिला। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में इतनी तटस्थता, इतनी ईमानदारी तथा प्रचार भावना से रहित पुस्तक पाकर आन्तरिक सुख मिला। आपकी पुस्तक वैज्ञानिक दृष्टि से लिखी गयी पुस्तक है जो तथ्यों से निष्कर्ष पर पहुंचती है, निष्कर्ष के अनुरूप

तथ्य तलाश नहीं करती... मैं इसी प्रकार की पुस्तक की तलाश में था..." आपने कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये हैं। हार्दिक धन्यवाद।

यदि पहले की तरह इस पुस्तक का यह दूसरा संस्करण भी गोर्की और प्रेमचन्द को अधिक अच्छी तरह से समझने में भारतीय पाठकों को सहायता देगा तो मुझे बहुत ही प्रसन्नता होगी।

डा० 'मधु'

एक पुष्प और

विश्व-विख्यात रूसी लेखक मक्सिम गोर्की को संसार के अन्य देशों की भांति भारत में भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त है। उनके 'मां' उपन्यास को तो लगभग सभी शिक्षित लोगों ने पढ़ा होगा। समालोचक मुमताज़ हुसैन ने 'गोर्की – जीवन और साहित्य' नामक अपने लेख में ठीक ही कहा है कि "अगर भारत के शिक्षित लोगों में यह मतसंग्रह किया जाये कि वे अपने देश से बाहर दुनिया के किन लेखकों को जानते हैं, तो शेक्सपीयर के बाद उनकी अधिकांश संख्या गोर्की ही का नाम लेगी।" प्रसिद्ध लेखक ख़्वाजा अहमद अब्बास ने बड़े दिलचस्प तरीक़े से गोर्की की लोकप्रियता और पाठकों पर उनके प्रभाव को व्यक्त किया है। १९६८ में 'सोवेत्स्काया कुल्तूरा' ('सोवियत संस्कृति') पत्र में छपे लेख में उन्होंने लिखा था: "दुनिया के किन तीन लेखकों ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया है? ऐसा प्रश्न पूछने पर आपको शायद यह उत्तर मिलेगा –

मक्सिम गोर्की, थॉमस
मन और बर्नार्ड शॉ।
अथवा यह –
लेव तोलस्तोय, हेर्बर्ट वेल्स
और मक्सिम गोर्की।
या यह –
चार्ल्स डिकेन्स, एर्नस्ट
हेमिंग्वेइ और मक्सिम गोर्की।
अथवा यह –

गोल्सवर्दी, फ़ान्स काफ़का
ग्रौर मक्सिम गोर्की।

हर बार तीन में से एक नाम ग्रवश्य ही मक्सिम गोर्की का होगा।"

स्वयं प्रेमचन्द ने गोर्की के निधन पर ग्रपनी पत्नी से उनकी चर्चा करते हुए यह कहा था—"जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायेगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जायेगा? वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ग्रोर पूजे जायेंगे।"

हमारे समय के ग्रनेक ग्रन्य लेखकों ने गोर्की के प्रति इसी तरह के उद्गार प्रकट किये हैं। मुल्कराज ग्रानन्द ने लिखा है—"कभी, जब मैं छोटा ही था, मेरे एक मित्र ने मुझे एक पुस्तक भेंट की। यह थी 'भूतपूर्व लोग'। मैं ग्रपने उस मित्र का ग्राजीवन ग्राभारी रहूंगा, क्योंकि उसने मुझे गोर्की से परिचित करवाया। महान रूसी लेखक द्वारा रचे गये प्रभावपूर्ण बिम्ब सदा के लिये मेरे जीवन के ग्रंग बन गये हैं।" हमारे युग के एक प्रमुखतम लेखक कृश्न चन्दर के ये शब्द भी उल्लेखनीय हैं—"गोर्की के पात्र न केवल ग्रमानवीय, निर्धनता, पतन की परिस्थितियों में रहते हैं, जिनमें पूंजीवादी व्यवस्था ने उन्हें धकेल दिया है। गोर्की के पात्र इन परिस्थितियों से टक्कर लेते हैं, ख़ुद को बदलना ग्रौर बेहतर इन्सान बनना चाहते हैं। गोर्की को विश्वास है कि सामाजिक व्यवस्था के बदलने, समाजवाद के ग्रागमन से उसका 'इन्सान' हमारी पृथ्वी पर ही नहीं, बल्कि हज़ारों ग्रन्य ग्रहों पर भी विजय प्राप्त कर लेगा। गोर्की के साथ विश्व-साहित्य की एक नई उषा का श्रीगणेश होता है।" गोर्की के प्रति भारतीय समालोचकों—लेखकों ग्रौर पाठकों की ऐसी भावनाग्रों को हम ग्रौर भी कई पृष्ठों तक उद्धृत कर सकते हैं, किन्तु इसकी ग्रावश्यकता नहीं है। हमारा ग्रभिप्राय तो केवल इस तथ्य पर ज़ोर देना है कि भारत में गोर्की की साहित्यिक सम्पदा ग्रौर परम्परा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार है तथा भारत की निरन्तर ग्रधिकाधिक शिक्षित होती हुई जनता ग्रब केवल ग्रंग्रेज़ी के माध्यम से ही नहीं, जैसा कि ग्राज से ४०-५० वर्ष पहले था, बल्कि ग्रपनी विभिन्न भारतीय भाषाग्रों में भी उनके कृतित्व का रसपान करती है ग्रौर उससे प्रभावित तथा प्रेरित हो रही है। रूसी भाषा में ही गोर्की को पढ़ने, समझने ग्रौर उनके कृतित्व पर चिन्तन-मनन करनेवालों की संख्या भी लगातार बढ़ती जा रही है।

महान भारतीय लेखक प्रेमचन्द को भारत की सीमाग्रों से बाहर

निश्चय ही बहुत समय तक वह आदर-सम्मान, वह यथोचित महत्त्व नहीं मिला, जिसके वह अधिकारी हैं। ऐसा मुख्यतः तो इसलिये हुआ कि प्रेमचन्द एक पराधीन देश के लेखक थे और तत्कालीन साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार न केवल समकालीन, बल्कि प्राचीन भारत की वैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक-कलात्मक और साहित्यिक उपलब्धियों के महत्त्व को भी यथाशक्ति कम करके भारतीयों को असभ्य और पिछड़े हुए सिद्ध करने तथा उनमें हीन वृत्ति को जन्म देनेवाली घातक नीति का अनुसरण कर रही थी। इसलिये अंग्रेज़ों की सरकार ने आम तौर पर भारतीय साहित्य से विदेशियों के परिचित होने के मार्ग में रोड़े ही अटकाये। फिर प्रेमचन्द तो भारत में अंग्रेज़ी राज की जड़ों पर प्रहार करनेवाला विद्रोही साहित्य रच रहे थे, इसलिये अंग्रेज़ों की सरकार अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से ऐसे साहित्य को दुनिया के अन्य लोगों तक क्यों पहुंचने देती, अपनी काली करतूतों का कच्चा चिट्ठा उनके सामने क्यों पेश होने देती? चुनांचे अंग्रेज़ों के शासनकाल में इस आशय के विचारों का ही प्रचार किया गया कि आधुनिक हिन्दी-उर्दू साहित्य में ऐसा कुछ भी नहीं रचा जा रहा है जिसका कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व हो। इसके अलावा एक ग़रीब तथा ग़ुलाम देश की जनता के दुख-दर्दों, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं और संघर्षों को प्रतिबिम्बित करनेवाले साहित्य में (भारतविज्ञों और भारत-प्रेमियों को छोड़कर) यूरोप के अधिकांश समृद्ध तथा शोषण की नीति पर चलनेवाले साम्राज्यवादी देशों की दिलचस्पी ही क्या हो सकती थी? यही कारण है कि भारत की सीमाओं के बाहर शोषितों-पीड़ितों के हितैषी और समर्थक, समाजवादी रूस में ही प्रेमचन्द के कृतित्व की ओर सबसे पहले ध्यान दिया गया, रूसी भाषा में उनके उपन्यासों-कहानियों के बहुत बड़े-बड़े संस्करण निकाले गये, प्रेमचन्द-साहित्य के भावात्मक और कलात्मक पक्षों का गहन तथा गम्भीर अध्ययन किया गया, उसके ऐतिहासिक महत्त्व को समझा गया और हिन्दी-उर्दू साहित्य के भावी पथ-विकास के लिये इसकी निर्णायक भूमिका पर प्रकाश डाला गया। १६२७ में ही प्रसिद्ध रूसी भारतविज्ञ, 'रामचरित मानस' के रूसी रूपान्तरकार, अकादमीशियन अ० बरान्निकोव ने प्रेमचन्द की 'सौत' तथा अन्य कई कहानियों का विश्लेषण करके प्रेमचन्द की यथार्थ जीवन की पकड़, सामयिक और सामाजिक समस्याओं की गहरी समझ और उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण की विशेष चर्चा की। उनके बाद अनेक सोवियत विद्वानों ने, जिनमें

व० बालिन, ये० चेलिशेव, इ० कोम्पान्त्सेव, व० बेस्क्रोव्नी आदि उल्लेखनीय हैं, प्रेमचन्द के विभिन्न उपन्यासों, कहानियों और साहित्यिक विचारों का सविस्तार विवेचन किया है, सर्वथा भारतीय मिट्टी की गंध लिये हुए मौलिक विषयों, विशिष्ट भारतीय लक्षणों और जोवन-चित्रों को उभारनेवाली समस्याओं तथा पात्रों पर ज़ोर दिया है, जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध और यथार्थवाद तथा सार्वभौमिक मानवतावादी अपील को लक्षित किया है। उदाहरण के लिये व० बालिन ने 'रंगभूमि' उपन्यास की भूमिका में लिखा है: "प्रतिभापूर्ण और मौलिक कलाकार प्रेमचन्द सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता रखते थे। उनके द्वारा रचे गये अनेक पात्र जातिवाचक संज्ञायें बन गये हैं।" ये० चेलिशेव ने लिखा है: "प्रेमचन्द अनूठे, दिलचस्प लेखक थे, जिनकी रचनाएं अपना विशिष्ट राष्ट्रीय स्वरूप रखती हैं।" प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व पर हंसराज रहबर की पुस्तक के रूसी अनुवाद की भूमिका में अ० लीतमन ने लिखा है: "प्रेमचन्द साधारण लोगों की आत्मा की गरिमा, ईमानदारी, साहस और संघर्ष-संकल्प और भलाई, मानवतावाद और मातृभूमि के प्रति प्रेम के उच्चादर्शों के लिये बलिदान करने की तत्परता को सामने लाते हैं।" 'गोदान' उपन्यास की भूमिका में इ० कोम्पान्त्सेव तत्कालीन भारत की परिस्थितियों का विवेचन करने के बाद लिखते हैं: "...ऐसा वातावरण था, जिसमें महान भारतीय लेखक, आधुनिक हिन्दी-उर्दू साहित्य के एक जन्मदाता, अद्भुत शब्द-जादूगर प्रेमचन्द की प्रखर और मौलिक प्रतिभा का असाधारण शक्ति से विकास हुआ।" तो इस तरह सोवियत संघ में प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व के विभिन्न पक्षों का गहन विवेचन हुआ है और उनकी साहित्यिक देन का सही महत्त्व समझा गया है। और यह भी केवल संयोग नहीं है कि जब हम रूस के साहित्य में गोर्की की भूमिका पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, तो हिन्दी-उर्दू साहित्य में प्रेमचन्द की भूमिका का हमें बरबस ख़्याल आ जाता है। ऐसा स्वाभाविक ही है, क्योंकि इन दोनों महान प्रतिभाओं की साहित्यिक भूमिका में निश्चय ही समानता है। शायद इसीलिये प्रेमचन्द को भारतीय या हिन्दी-साहित्य का गोर्की भी कहा जाता है।

ऐसा बहुत समय से होता आ रहा है, अब भी हो रहा है और सम्भवत: भविष्य में भी होगा, यद्यपि हमारे एक प्रतिष्ठित समालोचक शिवदानसिंह चौहान ने प्रेमचन्द को भारतीय या हिन्दी-साहित्य का गोर्की

कहने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए यह मत भी प्रकट किया है: "अक्तूबर १९५१ के 'हंस' में एक सोवियत आलोचक व० म० बेस्क्रोव्नी का लेख प्रकाशित हुआ, जिसे पढ़कर हमें हैरानी हुई कि उक्त आलोचक ने प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से छोटे-बड़े, बराबर के, या उनके नेता या अनुयायी, किसी भी रूप में नहीं की, बल्कि उन्होंने प्रेमचन्द के विचारों को तोलस्तोय के विचारों तक ही सीमित बताकर हमारे मित्रों की सारी कपोल-कल्पनाओं के वाग्जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब से हमारे आलोचक गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना का कोई नया आधार नहीं खोज पा रहे।" बहुत सम्भव है कि इन ३० सालों में, जब श्री शिवदान-सिंह चौहान ने यह लेख लिखा था, उनके अपने विचार भी बदल गये हों। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो भी यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि तोल्स्तोय और प्रेमचन्द के कृतित्व में बेस्क्रोव्नी ने जो समानता दिखायी है, वह भी एक सीमा तक सही है। किन्तु प्रेमचन्द अपने विकास-क्रम में उस सीमा से कहीं आगे निकल गये और उनका चिन्तन उस दिशा की ओर अधिकाधिक मुड़ता गया, जो गोर्की के चिन्तन की दिशा का द्योतक था। फिर भी वह पूरी तरह से गोर्की के मार्ग पर नहीं बढ़े, ऐतिहासिक परिस्थितियों और सामाजिक परिवेश के अन्तर के कारण शायद उसी मार्ग पर बढ़ भी नहीं सकते थे, हां, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसके बहुत निकट अवश्य पहुंच गये थे।

यहां एक अन्य बात का उल्लेख भी ज़रूरी है कि यदि व० बेस्क्रोव्नी ने अपने लेख में प्रेमचन्द और लेव तोलस्तोय के बीच सादृश्यता तक ही अपने को सीमित रखा, तो कुछ अन्य सोवियत लेखकों ने, जैसे कि बोरोवीक, रूम्यान्त्सेव आदि ने गोर्की और प्रेमचन्द के कृतित्व की सादृश्यता ही नहीं, बल्कि प्रेमचन्द पर गोर्की का प्रभाव भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

इन सोवियत विद्वानों को अपने प्रयास में यद्यपि कोई विशेष सफलता नहीं मिली और प्रोफ़ेसर ये० चेलिशेव को अपने एक लेख में यह लिखना पड़ा कि कोई सतही आधार बनाकर प्रेमचन्द पर गोर्की का प्रभाव दिखाना उचित नहीं है, तथापि श्री शिवदानसिंह चौहान का यह तर्क निर्मूल हो जाता है कि यदि व० बेस्क्रोव्नी को प्रेमचन्द और गोर्की में कोई सादृश्यता दिखाई नहीं दी, तो ऐसी सादृश्यता हो ही नहीं सकती। स्वयं प्रोफ़ेसर ये० चेलिशेव का यह मत है कि प्रेमचन्द में सक्रिय मानवतावाद लाने में

गोर्की के कृतित्व ने योग दिया यानी वह भी उन दोनों के बीच सम्बन्ध-सूत्र की उपस्थिति को मानते हैं।

हमें लगता है कि गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व का गहन अध्ययन करनेवालों को विशेष प्रयास करके ऐसी सादृश्यता का आधार खोजने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। उनके जीवन की सादृश्यता तो बरबस ध्यान आकृष्ट करती है। साधारण पाठक के मन में भी कुछ वैसा ही भाव आये बिना नहीं रह सकता, जैसा कि डा० रामविलास शर्मा या श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने व्यक्त किया है। डा० रामविलास ने लिखा है : "प्रेमचन्द की जीवन-कथा एक दूसरे महान लेखक की याद दिलाती है जिसका जीवन इतने कटु अनुभवों से भरा हुआ था कि उसने अपना नाम ही गोर्की (तिक्त) रख लिया था।" श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने गोर्की और प्रेमचन्द को, जिनका एक ही वर्ष अर्थात १९३६ में देहावसान हुआ था, श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था : "गोर्की की भांति ही उन्होंने छुटपन से कठिनाइयों की कड़वी घूंट पी थी। उनका दु:ख ही उनके लिये अमृत बन गया।" किन्तु दो लेखकों के जीवन की सादृश्यता के आधार पर ही उनके कृतित्व की सादृश्यता को प्रमाणित करना भी बहुत उचित नहीं होगा और ऐसा निष्कर्ष भी सतही हो सकता है। फिर भी यह एक सर्वस्वीकृत सत्य है कि बचपन की छापों का व्यक्ति की मनोरचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है और यदि वह व्यक्ति रचनाकार हो, तो उसके सृजन या कृतित्व में वे किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति भी पाती हैं। गोर्की और प्रेमचन्द के कृतित्व में अभिव्यक्ति की ऐसी सादृश्यता की निरन्तर अनुभूति होती है। हम यों भी कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति की ऐसी समानता उनके सृजन के दिशा-निर्धारण के रूप में प्रकट होती है।

व्यक्तिगत जीवन की छापों की भांति देश-काल की परिस्थितियों का प्रभाव भी सजग लेखक के कृतित्व में सामने आये बिना नहीं रह सकता। यदि ऐसी परिस्थितियों में भी कुछ समानता हो, तो वे भिन्न देशों के लेखकों के कृतित्व में भी कुछ समानता पैदा कर देती हैं। दूसरी ओर देश-काल की परिस्थितियों का अन्तर उनके कृतित्व की विषय-वस्तु, उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण और उनके कला-सम्बन्धी माप-दण्डों में भिन्नता भी ला देता है। गोर्की और प्रेमचन्द न केवल समकालीन लेखक थे, बल्कि गोर्की के रूस और प्रेमचन्द के भारत की विभिन्न परिस्थितियों

में पर्याप्त समानता और साथ ही भिन्नता भी थी। वे दोनों संघर्ष-युग की उपज थे और दोनों ने अपने-अपने देश के संघर्ष में अपनी पूरी सृजनशक्ति से योग भी दिया। दोनों ने दलितों-पीड़ितों और शोषितों का पक्ष लिया। किन्तु तत्कालीन रूस और भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक-धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों में अन्तर भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। शायद परिस्थितियों की यही भिन्नता बहुत सीमा तक इस बात के लिये उत्तरदायी है कि गोर्की 'मां' और 'क्लिम समगीन की ज़िन्दगी' जैसे उपन्यासों की रचना कर पाये और प्रेमचन्द 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' की। इसलिये जब गोर्की और प्रेमचन्द का नाम साथ-साथ लिया जाता है, या उनका एकसाथ अध्ययन किया जाता है तो हमारा उद्देश्य इस बात की खोज करना होना चाहिये कि उनके साहित्य में क्या सादृश्यता और क्या भिन्नता है, उनके क्या कारण हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने किस तरह की साहित्यिक भूमिका निभायी है। जब हम ऐसा आधार बनाकर इन दोनों लेखकों का "सूत्रबद्ध" अध्ययन करते हैं, तो हमें उनके कृतित्व की गहराई में पैठने, उनकी उपलब्धियों और त्रुटियों एवं असंगतियों को बहुत अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलती है और तुलनात्मक अध्ययन उचित और वैज्ञानिक अर्थ ग्रहण कर लेता है। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ऐसा ही प्रयास किया गया है। सफलता-असफलता का निर्णय आप करेंगे।

इस पुस्तक के बारे में अपने दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में हमें "सूत्रबद्ध अध्ययन" की थोड़ी-सी व्याख्या करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसी आवश्यकता इसलिये अनुभव हो रही है कि 'राजकमल प्रकाशन' ने १९५५ में 'प्रेमचन्द और गोर्की' नाम से ५८५ पृष्ठों का एक बड़ा लेख-संग्रह प्रकाशित किया था। गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व पर प्रकाश डालनेवाला यह अपने ढंग का प्रथम और निश्चय ही सराहनीय प्रयास था, क्योंकि इन दो लेखकों के बारे में बहुत-सी सामग्री एक ही पुस्तक में जुटा दी गयी है। किन्तु पुस्तक की सम्पादिका शचीरानी गुर्टू और शिवदानसिंह चौहान के लेख को छोड़कर शेष सभी लेख या तो केवल प्रेमचन्द या केवल गोर्की के बारे में हैं। परिणामस्वरूप इन दोनों लेखकों के जीवन और कृतित्व को एकसाथ समझने में उनसे बहुत कम सहायता मिलती है। उनका सुसम्बद्ध, सुगठित और संतुलित रूप पाठक के सामने नहीं आ पाता। कभी-कभी ऐसे लगता है मानो इन

दोनों लेखकों के जीवन और कृतित्व को ज़बर्दस्ती एक कमरे में बन्द कर दिया गया है, किन्तु कमरे के बीचोंबीच एक दीवार खड़ी है, जिसके परिणामस्वरूप दीवार के एक ओर गोर्की तथा दूसरी ओर प्रेमचन्द बैठे दिखाई देते हैं। तुलनात्मक स्पष्टीकरण की दृष्टि से लिखे गये शचीरानी गुर्टू और शिवदानसिंह चौहान के लेखों में विवेचन और विश्लेषण बहुत कम और नोक-झोंक कहीं अधिक है। उनसे साधारण पाठक को गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन तथा कृतित्व को समझने और उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के बारे में कोई मत बनाने में विशेष सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उनमें खण्डन अधिक और मण्डन कम है। इसलिये ऐसे उपयोगी और सूत्रबद्ध अध्ययन की आवश्यकता अभी तक अनुभव हो रही थी। इसके अलावा गोर्की वाले भाग से न केवल गोर्की के जीवन और कृतित्व पर पर्याप्त प्रकाश ही नहीं पड़ता, बल्कि कुछ लेखों में अनेक तथ्यगत भूलें और अशुद्धियां भी रह गयी हैं। उदाहरणार्थ अमृतराय के लेख में कहा गया है कि गोर्की का जन्म १८६७ में हुआ था (पृष्ठ ४२४)। यह भूल बहुत साधारण होते हुए भी अखरती है। गोर्की का जन्म १८६८ में हुआ था। इसी लेख में आगे चलकर कहा गया है कि "एक स्टीमर पर काम करते हुए ही उसे (गोर्की को) साहित्य के प्रति अनुराग पैदा हुआ। इसका जनक था स्मूरी नामक एक व्यक्ति जो स्टीमर का रसोइया था। वह गोर्की को तरह-तरह के उपन्यास और कहानियां सुनाता था" (पृष्ठ ४२४–४२५)। वास्तविकता यह है कि स्मूरी गोर्की को पढ़कर नहीं सुनाता था, बल्कि गोर्की से पुस्तकें पढ़वाकर ख़ुद उन्हें सुनता था। पृष्ठ ३८५ पर हमें यह वाक्य पढ़ने को मिलता है–"मैंने (अर्थात गोर्की ने) पुश्किन, लेर्मोन्तोव, नेक्रासोव इत्यादि के अनुवाद पढ़े।" कल्पना कीजिये, गोर्की ने इन महान रूसी कवियों की रचनाओं के अनुवाद पढ़े! रूसी लेखकों और उनकी पुस्तकों के नामों के मामले में तो ऐसी गड़बड़ है कि कभी-कभी यह समझना ही कठिन हो जाता है कि किसकी चर्चा की जा रही है।

ऐसा सम्भवतः इसलिये हुआ है कि गोर्की के बारे में जिन महानुभावों के लेख इस संग्रह में शामिल किये गये हैं, उन्होंने गोर्की के जीवन और कृतित्व का अंग्रेज़ी के माध्यम से ही अध्ययन किया है, सो भी कुछेक रचनाओं का ही और रूसी भाषा तथा रूसी जीवन से उनका कोई घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रहा है। इसके अलावा उक्त पुस्तक का ढंग से

सम्पादन करने का कष्ट भी नहीं उठाया गया है, अन्यथा बहुत-सी साफ़ नज़र आनेवाली भूलें अवश्य सुधारी जा सकती थीं। उपर्युक्त पुस्तक में प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व से सम्बन्धित भाग में लेख काफ़ी पुराने हैं जबकि पिछले २०-२५ वर्षों में बहुत-सी नयी सामग्री और शोधकार्य, जिसमें सोवियत भारतविज्ञों, विशेषतः व० बालिन का गम्भीर विवेचन भी शामिल है, हमारे सामने आये हैं। इसलिये यहां भी एक नया मूल्यांकन अपेक्षित है। प्रेमचन्द के सुपुत्र अमृतराय का काम इस दृष्टि से विशेषकर उल्लेखनीय है। उन्होंने 'गुप्तधन' शीर्षक से प्रेमचन्द की छप्पन अनुपलब्ध कहानियां छापी हैं, जिनसे प्रेमचन्द की कहानी-कला के विकास को समझने में सहायता मिलती है, उन्हीं के द्वारा 'चिट्ठी-पत्री' के नाम से दो भागों में प्रकाशित सामग्री से प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और साहित्यिक दृष्टिकोणों पर प्रकाश पड़ता है और इसी भांति पत्र-पत्रिकाओं में जहां-तहां बिखरी और 'विविध प्रसंग' शीर्षक से तीन भागों में संग्रहीत सामग्री की मदद से तत्कालीन विषयों और समस्याओं पर प्रेमचन्द के विचारों और इस प्रकार उनके साहित्य को भी अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। उनकी पुस्तक 'क़लम का सिपाही' भी लेखक के बड़े श्रम और धैर्य की परिचायक है तथा प्रेमचन्द के जीवन, युग और साहित्य को समझने में योग देती है। इस उपयोगी सामग्री के अतिरिक्त डा० रामविलास की पुस्तक 'प्रेमचन्द – उनका युग', मदनगोपाल की पुस्तक 'क़लम का मज़दूर', डा० राजेश्वर गुरु की पुस्तक 'प्रेमचन्द – एक अध्ययन', डा० महेन्द्र भटनागर की पुस्तक 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' और गंगाप्रसाद विमल की रचना 'प्रेमचन्द' तथा अन्य कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। स्वतन्त्र भारत की अधिकाधिक साक्षर होती हुई जनता अपने महान लेखकों की साहित्यिक धरोहर के महत्त्व के प्रति अधिकाधिक सजग होती जा रही है। इस पुस्तक को भी इसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयास कहा जा सकता है।

एक अन्य कारण से भी हमें गोर्की और प्रेमचन्द के विषय पर फिर से चिन्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई। बात यह है कि अपने समय की विभिन्न समस्याओं पर गोर्की और प्रेमचन्द द्वारा लिखी गयी टिप्पणियों और लेखों को सामने रखते हुए उनके विचारों और दृष्टिकोणों का बहुत कम विवेचन किया गया है। गोर्की और प्रेमचन्द के इस सृजन-पक्ष की लगभग अवहेलना की गयी है। किन्तु इन लेखों और टिप्पणियों

से इन दोनों महान लेखकों के उपन्यासों और कहानियों आदि को समझने में बड़ी मदद मिलती है। हमारे लिये यह अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक रुझान क्या थे, वे किन शक्तियों के पक्ष-पोषक और किन के विरोधी थे। इतना ही नहीं, भारत, भारतीय जनता और भारतीय संस्कृति के प्रति गोर्की का दृष्टिकोण और दूसरी ओर, रूस, रूसी जनता तथा रूसी साहित्य की परम्पराओं एवं दुनिया के प्रथम समाजवादी देश अर्थात सोवियत संघ के प्रति प्रेमचन्द के रवैये को समझना भी बहुत ज़रूरी है। प्रेमचन्द के मानसिक विकास-क्रम की थाह पाने की दृष्टि से तो यह सर्वथा अनिवार्य है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस पक्ष से सम्बन्धित सामग्री गोर्की और प्रेमचन्द के ललित साहित्य के विवेचन की अच्छी पृष्ठभूमि का काम देगी। इसलिये इस पुस्तक के पहले दो अध्यायों में इसी सामग्री पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

यदि सीमित आकार की विवशता के बावजूद यह पुस्तक साधारण हिन्दी-पाठकों और साहित्यप्रेमियों के लिये गोर्की और प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व को अधिक अच्छी तरह से समझ पाने, रूस और भारत की तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इन दोनों महान लेखकों का क्रमबद्ध और बहुमुखी चित्र प्रस्तुत करने के ध्येय में उपयोगी और रूस तथा भारत की जनता को और अधिक निकट लाने में सहायक सिद्ध होगी, तो कई वर्षों का मेरा यह श्रम सार्थक हो जायेगा।

कड़ियां टूटेंगी

"भारत में अंग्रेज़ी राज के दिन
पूरे हो चुके हैं..."

मक्सिम गोर्की

भारत, भारतीय जनता के भाग्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति में गोर्की की रुचि कोई संयोग की बात नहीं थी। जब हम हज़ारों वर्षों के इतिहास के पृष्ठ उलटते हैं, उनकी छान-बीन करते हैं, तो हमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान सोवियत देश के मध्य एशियाई क्षेत्रों के साथ भारत के आर्थिक-व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध अनेक शताब्दियों से बने रहे हैं। सोवियत और कुछ भारतीय इतिहासज्ञों ने इन सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखा है: "बुद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति सारे मध्य एशिया और इंडोनेशिया के कुछ भागों में फैली हुई थी और इन विस्तृत क्षेत्रों में अनेक बौद्ध-विहार और अध्ययन-केन्द्र थे।" वाख़्श नदी की घाटी में अजीन-तेपे नामक बौद्ध-विहार तथा तेरमेज़, समरक़न्द और मारी में खोजे गये बौद्ध-विहार और महात्मा बुद्ध की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियां इन प्राचीन सम्पर्क-सूत्रों के जीते-जागते प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। भारत और मध्य एशियाई क्षेत्रों के बीच सदियों से व्यापार होता रहा है। वास्तुकला, संगीत, नृत्य, भाषा-साहित्य तथा रीति-रिवाजों पर पारस्परिक प्रभाव भी बिल्कुल स्पष्ट है। भारतीय दर्शन, चिकित्साशास्त्र, गणित और खगोलशास्त्र तो पुराने ज़माने से मध्य एशिया की जातियों में लोकप्रिय रहे हैं।

पश्चिम के अन्य अनेक देशों की भांति रूस और रूसी लोगों को भी भारत अपनी ओर खींचता रहा है। इसीलिये पिछली कुछ शताब्दियों में समुद्र के रास्ते भारत तक पहुंचने के अनेक सफल-असफल प्रयास हुए। रूस के साहसी व्यापारी अफ़ानासी निकीतिन को, जो त्वेर नगर के रहने-

वाले थे, १५ वीं शताब्दी में बहुत-सी कठिनाइयां और मुसीबतें झेलकर भारत पहुंचने में कामयाबी मिली। कहा जा सकता है कि रूस और भारत का सीधा सम्पर्क तभी से आरम्भ हुआ। अफ़ानासी निकीतिन कई वर्षों तक भारत में रहे और उन्होंने अपने अनुभवों की एक दिलचस्प पुस्तक 'तीन समुद्र पार' लिखी। स्पष्ट है कि रूसियों को भारत और वहां के जीवन से परिचित कराने की दृष्टि से अफ़ानासी निकीतिन की यात्रा और उपर्युक्त पुस्तक का बहुत महत्त्व है। बाद की शताब्दियों में कुछ अन्य लोगों ने, जिनमें गेरासिम लेबेदेव और पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के भारतविज्ञ प्रोफ़ेसर इ० प० मिनायेव का विशेष उल्लेख किया जा सकता है, भारत में रूसी जनता की दिलचस्पी को और बढ़ाया। लेबेदेव १७८५ से १७९७ तक बारह साल भारत में रहे और उन्होंने कलकत्ता में यूरोपीय ढंग का पहला थियेटर स्थापित किया तथा यूरोप में 'हिन्दुस्तानी भाषा' का पहला व्याकरण प्रकाशित किया। पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के भारतविज्ञ इ० प० मिनायेव (१८४०–१८९०) तीन बार भारत गये और उन्होंने बुद्ध धर्म, भाषाशास्त्र और भारतीय संस्कृति पर कई महत्त्वपूर्ण कृतियां रचीं।

भारत, भारतीय जनता और साहित्य तथा संस्कृति में रूसी लोगों की गहरी रुचि की यह परम्परा आगे बढ़ती और समृद्ध होती गयी। १९ वीं और २० वीं शताब्दी में यह परम्परा एक नये उत्कर्ष-बिन्दु पर तब पहुंची, जब रूसी क्रांतिकारी-जनवादियों जैसे कि हर्ज़ेन, दोब्रोल्यूबोव और चेर्निशेव्स्की ने साम्राज्यवाद तथा औपनिवेशिक नीति का विरोध करते हुए भारत के स्वतन्त्रता-संघर्ष का समर्थन किया और १८५७–१८५८ की पहली भारतीय क्रान्ति के कुचले जाने पर दोब्रोल्यूबोव ने 'सोव्रेमेन्निक' ('समकालीन') पत्रिका में यह लिखा: "इन्सान के सब्र की भी कोई हद होती है," तथा जब लेव तोलस्तोय ने भारत में अत्यधिक रुचि लेते हुए न केवल राजनीतिक दृष्टि से भारत का पक्ष-पोषण किया, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा दर्शन, विशेषतः बुद्ध धर्म के प्रभाव में अपने जीवन-दर्शन का निरूपण कर उससे रूसी और भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों पर अपने प्रभाव की गहरी छाप भी अंकित की। रोमां रोलां ने 'तोलस्तोय का जीवन' नामक अपनी पुस्तक में इस तथ्य पर बहुत ज़ोर दिया है कि १८४७ में, जब लेव तोलस्तोय १९ वर्षीय युवक थे और कज़ान के एक अस्पताल में थे, तो वहां बुद्ध धर्म के अनुयायी,

एक लामा से उनकी भेंट हुई और उसी लामा से उन्हें पहली बार प्राचीन धर्म के इस सार का ज्ञान प्राप्त हुआ कि हिंसा से बुराई का प्रतिकार नहीं किया जाना चाहिये। इस विचार ने उन्हें इस हद तक प्रभावित किया कि उन्होंने कज़ान विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषा विभाग में दाख़िला लिया। लेव तोलस्तोय पर भारतीय धर्म और दर्शन के प्रभाव की गोर्की ने भी चर्चा की है। उन्होंने लिखा है: "भारतीयों के धार्मिक-दार्शनिक विचारों से लेव तोलस्तोय ही प्रभावित नहीं हुए, जनसाधारण (रूसी) भी इनसे परिचित हैं।" बाद में, विश्व-विख्यात लेखक हो जाने पर भी पूर्वी, विशेषतः भारतीय दर्शन, बुद्ध धर्म और प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा लोक-कला तोलस्तोय की रुचि का केन्द्र बनी रही। उनके निजी पुस्तकालय में भारत-सम्बन्धी अनेक पुस्तकें विद्यमान हैं और उनकी जीवनी के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि १८८३ में वह विख्यात भारतविज्ञ इ० मिनायेव से, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, तूला शहर में मिले और उनके बीच बुद्ध धर्म की विस्तृत चर्चा हुई। स्पष्ट है कि भारत और भारतीय संस्कृति के प्रेमी तोलस्तोय वहां की जनता पर अत्याचार करनेवाले, उसका निर्दयता से शोषण करनेवाले अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों की कटु आलोचना किये बिना और भारतीयों के स्वतन्त्रता-संग्राम के पक्ष में आवाज़ उठाये बिना नहीं रह सकते थे। 'भारतीय के नाम' उनका पत्र ऐसी ही भावनाओं से ओत-प्रोत है और उसे एक प्रकार से भारतीयों के पक्ष-पोषण का घोषणापत्र कहा जा सकता है। तोलस्तोय को इस बात का पूरा विश्वास था कि भारत की प्रतिभाशाली जनता, जिसने विश्व को इतनी उच्च संस्कृति दी, अवश्य ही अंग्रेज़ों की दासता के बन्धन तोड़कर मुक्त होगी और अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेगी।

रूसी क्रांतिकारी-जनवादियों और लेव तोलस्तोय की भांति लेनिन और मक्सिम गोर्की के रूप में भी भारत को अपने बड़े मित्र और पक्ष-पोषक मिले।

१९वीं शताब्दी के पांचवें-छठे दशकों में जिस प्रकार रूसी क्रांतिकारी-जनवादियों ने भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन की हिमायत की थी, उसी प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं शताब्दी के पहले दो दशकों में लेनिन जैसे महान क्रांतिकारी नेता ने अनेक बार भारत की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन किया। उन्होंने १८५७ के विद्रोह को

भारत की आज़ादी की पहली लड़ाई की संज्ञा दी थी, जिसे कुछ पश्चिमी इतिहासकारों ने "सिपाहियों की बग़ावत" कहकर उसका महत्त्व कम करना चाहा था। १९०७ में उन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों के बारे में लिखा। १९०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ़्तारी के सिलसिले में बम्बई के मज़दूरों ने जो हड़ताल की, लेनिन ने भारत में सर्वहारा की जागृति के रूप में उसका अभिनन्दन किया। १९२० में उन्होंने साफ़ तौर पर यह लिखा कि भारत विद्रोही एशिया का नेतृत्व कर रहा है।

मानवतावादी, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और समाजवादी विचारों से प्रेरित मक्सिम गोर्की ने भी कुछ कम उत्साह से भारत समेत उन सभी देशों के जनगण की ज़ोरदार वकालत नहीं की जो साम्राज्यवाद के शिकार हुए थे, औपनिवेशिक बन्धनों को तोड़ने के लिये छटपटा रहे थे और डटकर संघर्ष कर रहे थे। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, चिन्तक, पत्रकार और सामयिक विषयों पर टिप्पणी-लेखक के रूप में उपलब्ध गोर्की के विचार इस बात को स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने सर्वहारा के अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व और समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका को कितने गहन और व्यापक अर्थ में समझा था। हम उनके अनेक लेखों तथा पत्रों में दलित-उत्पीड़ित और शोषित के प्रति सहानुभूति और शोषक तथा अत्याचारी की भर्त्सना तथा उसका कड़ा विरोध पाते हैं। तब अत्यधिक प्राचीन संस्कृति और विश्व-इतिहास में उज्ज्वल अतीत के पृष्ठ जोड़नेवाली, किन्तु परिस्थितियों और कालचक्र के किन्हीं कारणवश दासता के जुए तले पिसनेवाली भारतीय जनता के भाग्य के प्रति वह कैसे उदासीन रह सकते थे?

भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के गोर्की के ज़ोरदार समर्थन को अभि-व्यक्ति देनेवाले अनेक उद्धरण और प्रमाण प्राप्त हैं। उन तीन लेखों का तो विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो उन्होंने १९१२–१९१३ में, जब वह इटली के काप्री द्वीप पर रह रहे थे, पीटर्सबर्ग की 'सोव्रेमेन्निक' पत्रिका के लिये, जिसका गोर्की काप्री में रहते हुए सम्पादन कर रहे थे, लिखे थे। उनका निष्कर्ष निकालते हुए गोर्की ने लिखा था: "भारत में इस बात का विश्वास दिलानेवाली आवाज़ अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जा रही है कि अब वह समय आ गया है, जब भारतीयों के लिये सामा-जिक और राजनीतिक निर्माण-कार्य अपने हाथ में लेना ज़रूरी हो गया है, कि भारत में अंग्रेज़ी राज के दिन पूरे हो चुके हैं।" इन्हीं दिनों

निर्वासित भारतीय क्रान्तिकारियों—श्रीमती कामा और उनके सहयोगी श्री कृष्ण वर्मा श्याम जी—के साथ गोर्की का पत्र-व्यवहार चल रहा था। श्रीमती कामा गोर्की की प्रतिभा की बहुत बड़ी प्रशंसक थीं। पेरिस में रहते हुए वह रूसी सामाजिक-जनवादियों के निकट सम्पर्क में आयीं और म० पव्लोविच के साथ उनकी अच्छी जान-पहचान हो गयी। श्रीमती कामा ने म० पव्लोविच से गोर्की के 'बाज़ का गीत' का फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद करने का अनुरोध किया और अनुवाद मिलने पर कहा: "यह किसी भी लेख, किसी भी घोषणापत्र से बेहतर है।" श्रीमती कामा ने गोर्की के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने का निर्णय किया और अक्तूबर १९१२ में उन्हें भारत-सम्बन्धी साहित्य भेजा। एक महीने बाद गोर्की ने श्रीमती कामा और उनके सहयोगी कृष्ण वर्मा श्याम जी को पत्र लिखे। कृष्ण वर्मा से उन्होंने अनुरोध किया कि वह 'सोव्रेमेन्निक' पत्रिका के लिये "भारत की वर्तमान स्थिति और रूस तथा इंगलैंड के प्रति भारत के रवैये के बारे में लेख भेजें", और श्रीमती कामा से "भारतीय नारी, उसकी वर्तमान स्थिति और भारत के स्वतन्त्रता-संघर्ष में उसकी भूमिका" पर लेख भेजने की प्रार्थना की। इसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि "रूसी जनवादी और रूसी नारियां इस बात से उन्हें परिचित कराने के लिये कि गंगा-तट के लोग तथा महान भारत की नारियां कैसे जीवन बिताते और संघर्ष करते हैं, आपका बहुत आभार मानेंगे।" यहां उद्धृत सामग्री से हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि गोर्की भारतीय जनता के भाग्य की बड़ी चिन्ता करते थे और "महान भारत" के प्रति विशेष स्नेह-भाव रखते थे। समय के साथ-साथ भारत का मुक्ति-आन्दोलन ज्यों-ज्यों अधिक सशक्त होता गया, भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बारे में गोर्की का विश्वास भी उतना ही अधिक दृढ़ होता चला गया। १९३२ में उन्होंने अमरीकी संवाददाताओं से अपनी एक भेंट के समय यह कहा: "३० करोड़ भारतीयों को अंग्रेज़ लार्ड और व्यापारी फूटी आंखों नहीं सुहाते और वे अधिकाधिक यह समझते जा रहे हैं कि भगवान ने उनके लिये इंगलैंड के दास होने की भूमिका निर्धारित नहीं की है।" गोर्की ने ऐसे लोगों को भी मुंहतोड़ जवाब दिया था जो यह दावा करते थे कि पूरब के लोग निरंकुश शासन के अतिरिक्त किसी और शासन-प्रणाली का अर्थ नहीं समझते, कि उन्हें स्वामी की सत्ता अपेक्षित है। गोर्की ने इस सम्बन्ध में लिखा था: "भारत में राष्ट्रीय क्रान्ति

ने अपने को काफ़ी ठोस रूप में प्रकट किया है और बहुत पहले, अतीत में भी, सिपाहियों के विद्रोह को भी इस तरह स्पष्ट करना बहुत कठिन है कि भारतीय निरंकुश शासन के अभ्यस्त हैं।" गोर्की ने ऐसे महानुभावों के विरुद्ध निरन्तर आवाज़ उठायी जो अपनी लूट-खसोट के लिये भारत के दरवाज़े खुले रखना चाहते थे। उन्होंने उन पूंजीवादी दार्शनिकों और तथाकथित मानवतावादियों को भी आड़े हाथों लिया जो मानव-कल्याण और प्यार-मुहब्बत की चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, किन्तु ऐसी सामाजिक व्यवस्था के वास्तविक रूप की ओर से आंखें मूंदे रहते हैं जिसके अन्तर्गत मुट्ठी भर लोग उपनिवेशों के करोड़ों लोगों का शोषण करते और माला-माल होते हैं। कहना न होगा कि गोर्की ने सामाजिक न्याय और सक्रिय मानवतावाद की उन्हीं भावनाओं के कारण भारत और अन्य उपनिवेशों के जनगण का पक्ष लिया जो उनके समूचे कृतित्व के अभिन्न अंग और प्रमुख तत्त्व हैं।

भारत में गोर्की की रुचि राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी, यद्यपि राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्वयं भारतीयों द्वारा भी उस समय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा था। गोर्की ने भारत के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और धर्म की भी अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। इसीलिये उनके निजी पुस्तकालय में जहां हमें भारत समेत एशिया के राजनैतिक आन्दोलनों से सम्बन्धित पुस्तकें देखने को मिलती हैं, वहां इतिहास, धर्म, विशेषतः बुद्ध धर्म, भारतीय लोक और दन्त-कथाओं की पुस्तकें और टैगोर की कुछ रचनायें भी देखने को मिलती हैं। इन विषयों पर भी गोर्की ने अपने कुछ मत प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, मानवजाति के इतिहास के बारे में अपनी राय ज़ाहिर करते हुए गोर्की ने लिखा है: "मानवजाति का इतिहास यूनान और रोम से नहीं, भारत और चीन से आरम्भ करना चाहिये।" इसी प्रकार अ० सुर्कोव के नाम 'प्राचीनकाल के महाकाव्यों में धार्मिक और पौराणिक तत्वों के बारे में' लिखे गये पत्र में उन्होंने सलाह दी थी कि "विश्व-साहित्य का इतिहास 'इलियाड' और 'ओडीसी' से नहीं, बल्कि हेसिओद और पूरब की प्राचीनतम पौराणिक कथाओं से आरम्भ करना चाहिये"। लगता है कि गोर्की का संकेत भारत की ओर था। इसी प्रकार हम देखते हैं कि भारत समेत पूरब के अन्य देशों की लोक-कथाओं और दन्त-कथाओं के गोर्की बड़े प्रशंसक थे। इनके बारे में उन्होंने लिखा है: "शब्दों के इस सुन्दर ताने-बाने का प्राचीनकाल

में जन्म हुआ। इसके बहुरंगे रेशमी धागे सारी पृथ्वी पर फैल चुके हैं और उन्होंने उसे असाधारण सौन्दर्य वाले शब्दों के क़ालीन से ढंक दिया है।" प्राचीन पूर्वी साहित्य के ऐसे ऊंचे मूल्यांकन के परिणामस्वरूप ही सम्भवतः गोर्की ने 'विश्व-साहित्य' प्रकाशनगृह की प्रकाशन-योजना तैयार करते समय 'रामायण', 'महाभारत' और 'पंचतन्त्र' को भी, जिन्हें वह विश्व-साहित्य के मूल्यवान रत्न मानते थे, उसमें स्थान दिया।

गोर्की ने भारत में धार्मिक और दार्शनिक विचारों के विकास की ओर भी बहुत ध्यान दिया था। १८९६ में, जब लेखक के रूप में उन्होंने ख्याति अर्जित ही की थी, अ० कारेलिन को भेजे गये एक पत्र में लिखा था: "संसार के अन्य सभी देशों की तुलना में भारत के लोगों ने ही सबसे पहले आदर्श की खोज शुरू की थी और उसकी सैद्धान्तिक खोज में वे ही सबसे आगे गये।" भारतीयों के धार्मिक-दार्शनिक चिन्तन का इतना ऊंचा मूल्यांकन करने के बावजूद यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि गोर्की को कुल मिलाकर तथा विशेषतः बुद्ध धर्म से सम्बन्धित चिन्तन का ढंग निराशावादी प्रतीत हुआ था और उन्होंने तोलस्तोय की तरह उसे न तो मान्यता दी और न अंगीकार किया। इस दृष्टि से लेव तोलस्तोय और गोर्की के दृष्टिकोणों में मूलभूत अन्तर है और इसका कारण सम्भवतः यही है कि वे दो भिन्न युगों की उपज थे। मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लेव तोलस्तोय जहां विकसित होते पूंजीवादी युग की बुराइयों का समाधान पितृतन्त्रात्मक परिवार या गांव के कम्यून, किसानों के सामूहिक और भाईचारे के जीवन या किसान-प्रजातन्त्रवाद में ढूंढ़ते थे, वहां गोर्की ने पूंजीवाद के सभी प्रगतिशील पक्षों – औद्योगीकरण, वैज्ञानिक-प्राविधिक उन्नति आदि को स्वीकार करते और उन्हें ऐतिहासिक विकास का अगला क़दम मानते हुए समाजवाद में उसकी बुराइयों से मुक्ति पाने का मार्ग देखा। इसीलिये गोर्की को प्राचीनकाल की सीधी-सादी जीवन-पद्धति और उससे सम्बन्धित जीवन-दर्शन भी मान्य नहीं हुआ। किन्तु, जैसा कि ऊपर दिये गये उद्धरण से स्पष्ट है, दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों की उपलब्धियों को गोर्की ने यथोचित महत्त्व प्रदान किया है। यहां यह संकेत कर देना भी सम्भवतः उपयुक्त होगा कि चिन्तक के रूप में (हम यहां कलाकार तोलस्तोय, कलाकार गोर्की और कलाकार प्रेमचन्द की चर्चा नहीं कर रहे हैं) प्रेमचन्द भी (विशेषतः जीवन के अन्तिम वर्षों में) गोर्की के अधिक निकट दिखाई देते हैं। उन्होंने

भी भाग्य ग्रौर कर्मों के फल तथा पाप-पुण्य की पुरातन भारतीय धारणाग्रों से न केवल इन्कार ही किया, बल्कि उनपर ज़ोरदार चोटें भी की हैं।

सो हम देखते हैं कि चिन्तक के रूप में गोर्की सामाजिक न्याय, समानता, सर्वकल्याण ग्रौर सक्रिय मानवतावाद के समर्थक तथा शोषण, उत्पीड़न-दमन, ग्रत्याचार ग्रौर ग्रसमानता के शत्रु थे। वह ग्रौपनिवेशिक दमन-शोषण ग्रौर ग्रत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता के परम मित्र, उसकी स्वतन्त्रता के प्रबल पक्ष-पोषक ग्रौर उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के बड़े प्रशंसक थे। उनके कृतित्व में भी ऐसे ही विचारों ग्रौर इसी तरह के चिन्तन की प्रमुखता दिखाई देती है ग्रौर इसलिये लेखक के रूप में उनका झुकाव ग्रधिक ग्रासानी से समझा जा सकता है। इस बात का उल्लेख भी ग्रावश्यक प्रतीत होता है कि वैचारिक मतभेद होने पर भी गोर्की ने रूसी पाठकों को महात्मा गांधी के चिन्तन से परिचित करवाना चाहा ग्रौर इसके लिये गांधी जी के बड़े प्रशंसक रोमां रोलां से एक लेख भेजने का ग्रनुरोध किया था। विचारों के स्वतन्त्र ग्रादान-प्रदान की गोर्की की इसी परम्परा के फलस्वरूप बाद के वर्षों में सोवियत संघ में भारत के प्राचीन ग्रौर सामयिक साहित्य, दर्शन तथा राजनीतिक-ग्रार्थिक चिन्तन का ग्रधिक तटस्थता, सहानुभूति ग्रौर भारत की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ग्रध्ययन किया गया है ग्रौर इससे कई भ्रांतियों को दूर करने तथा भारत को ग्रधिक ग्रच्छी तरह से समझने में सहायता मिली है। गोर्की की यह देन भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

नया सूरज

> "...परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नारकीय महाजनवाद या पूंजीवाद को जड़ खोदकर फेंक दी है..."
>
> **प्रेमचन्द्र**

१९वीं और २०वीं शताब्दी में जैसे रूसी राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों की भारत में रुचि बढ़ी, वैसे ही भारत, और कहा जा सकता है कि दुनिया के अन्य देशों ने भी १९वीं शताब्दी के आरम्भ से ही रूस में अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की। ऐसा कई कारणों से हुआ जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं–१८१२ में रूस में नेपोलियन की पराजय, जिसने रूसियों की देशभक्ति और वीरता की धाक जमा दी, १८२५ का दिसम्बरवादी विद्रोह, जिसके साथ रूस में निरंकुश शासन के विरुद्ध और प्रजातन्त्र के पक्ष में ज़ोरदार संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जो बढ़ता हुआ विराट किसान-विद्रोहों के रूप में सामने आया, जिसने आख़िर १८६१ में ज़ारशाही को भूदास-प्रथा के उन्मूलन के लिये विवश किया, जो किसानों के कम्यूनों पर आधारित क्रान्ति तथा आतंकवाद के दौर से गुज़रा और आख़िर मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा तथा बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में १९१७ की महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के रूप में अपने चरम-बिन्दु पर पहुंचा और दुनिया में एक नई व्यवस्था, नई सभ्यता और नई संस्कृति का शुभारम्भ हुआ। ये सभी घटनायें इतनी महत्त्वपूर्ण और युगान्तरकारी थीं कि न तो पश्चिम और न पूरब वाले ही इनके प्रति उदासीन रह सकते थे। रूस में भारत की रुचि इस कारण भी विशेष रूप से अधिक बढ़ी कि रूस पड़ोसी देश है, १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति के पहले वह भी कृषि-प्रधान देश था, उसकी जातीय और अन्य समस्यायें भी भारत जैसी थीं, वहां भी भारत की तरह राजनीतिक संघर्ष चल रहा था, वहां के सजग नेता भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का समर्थन भी

कर रहे थे और अक्तूबर क्रान्ति के बाद तो रूस सभी शोषितों-उत्पीड़ितों के लिये प्रेरणा-स्रोत बन गया और दुनिया भर के सभी जनवादी तथा प्रगतिशील नेताओं, विचारकों और लेखकों ने इस क्रान्ति का अभिनन्दन किया। भारत के राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन को तो इसने बहुत ही बल दिया।

एक अन्य, सो भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण से भी सारी दुनिया का रूस की ओर ध्यान खिंचा। वह कारण है १९वीं और २०वीं शताब्दी में रूस का सांस्कृतिक उत्थान। संस्कृति के सभी क्षेत्रों में रूस ने बड़े प्रगति-चिह्न लगाये। संगीत के क्षेत्र में जहां रूस ने ग्लीन्का और चाइकोव्स्की जैसे संगीतज्ञ दिये, चित्रकला के क्षेत्र में रेपिन, सूरिकोव और लेवितान जैसे चित्रकारों को जन्म दिया, वहां साहित्य के क्षेत्र में पुश्किन और लेर्मोन्तोव जैसे महाकवियों, तुर्गेनेव, लेव तोलस्तोय, दोस्तोयेव्स्की, चेख़ोव और गोर्की जैसे महान लेखकों ने रूस का ग़ौरव बढ़ाया और संसार भर के साहित्य-प्रेमियों का ध्यान रूस पर केन्द्रित हो गया। सम्भवतः फ़्रांस को छोड़कर, रूस के समान समृद्ध गद्य-साहित्य यूरोप के अन्य किसी भी देश ने इस अवधि में विश्व को नहीं दिया। यह साहित्य कला और विषय-वस्तु, दोनों ही दृष्टियों से बहुत उच्च कोटि का है। सभी साहित्यकार, साहित्य-प्रेमी तथा साहित्य-पारखी इसकी यथार्थवादी, जनवादी और मानवतावादी तथा गोर्की द्वारा दिये गये मोड़ के बाद समाजवादी यथार्थवादी परम्पराओं की ओर आकृष्ट हुए। भारत के राजनीतिक नेताओं ने जहां रूस के राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष की ओर विशेष ध्यान दिया, उससे अपने देश के लिये कुछ निष्कर्ष निकाले और प्रेरणा ली, वहां प्रेमचन्द जैसे सजग लेखकों ने रूसी साहित्य की अच्छी छान-बीन की, उसके महत्त्व को समझा और उससे अपने देश के लोगों को परिचित करने की कोशिश की। चूंकि राजनीति, अर्थनीति और साहित्य के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है, इसलिये प्रेमचन्द जैसे जागरूक लेखक इन विषयों पर भी चिन्तन किये बिना नहीं रह सकते थे। अतः प्रेमचन्द की मनोरचना को समझने के लिये रूसी साहित्य और सोवियत देश के बारे में उनके विचार जानना बहुत ज़रूरी है।

प्रेमचन्द के लेखों और रचनाओं में जहां-तहां अनेक ऐसे अंश और टिप्पणियां मिलती हैं, जिनमें उन्होंने रूसी साहित्य की बहुत अच्छी जानकारी, उसकी श्रेष्ठता और यूरोप की अन्य भाषाओं के साथ उसके

तुलनात्मक महत्त्व का बढ़िया परिचय दिया है। 'कहानी कला' लेख में कहानी के बढ़ते हुए महत्त्व को स्पष्ट करने के बाद उन्होंने लिखा है: "और उसे (अर्थात कहानी को) यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बल्ज़ाक, मोपासां, चेख़ोव, तोलस्तोय, मक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं।" कहानी कला के विकास का ही विवेचन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है: "यूरोप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ठ प्रचार है, पर मेरे विचार में फ़्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्च कोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य यूरोपीय भाषाओं में नहीं।" 'रूसी साहित्य और हिन्दी साहित्य' नामक अपनी टिप्पणी में तो उन्होंने और भी अधिक ज़ोर देकर रूसी साहित्य की प्रगति का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है: "उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में, जो गद्य के मूलभूत अंग हैं, सारे संसार ने रूस के प्रभाव को स्वीकार कर लिया है और फ़्रांस को छोड़कर एक भी देश उसकी बराबरी नहीं कर सकता।"

यहां दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। पहली तो यह कि प्रेमचन्द ने जिस समय रूसी साहित्य की प्रगति के महत्त्व पर ज़ोर दिया, उस समय भारत में अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का बोलबाला था तथा स्कूलों-कालेजों में अंग्रेज़ी साहित्य की ही शिक्षा पानेवाले सामान्य भारतीय इस परिधि से बाहर नहीं निकल पाते थे। प्रेमचन्द ने गद्य के क्षेत्र में रूसी और फ़्रांसीसी साहित्य की श्रेष्ठता का केवल उल्लेख ही नहीं किया, बल्कि साफ़ शब्दों में यह भी लिख दिया: "अंग्रेज़ी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिंग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियां लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनायें गाई० डी० मोपासां, बल्ज़ाक या पियरलोटी की टक्कर की नहीं।" दूसरी बात, जिसकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं, वह यह है कि फ़्रांसीसी गद्य साहित्य की श्रेष्ठता के बारे में प्रेमचन्द और गोर्की के विचारों में पूर्ण समानता है। गोर्की ने अपने विख्यात लेख 'मैंने लिखना कैसे सीखा' में ये विचार प्रकट किये हैं: "स्टैण्डल, बल्ज़ाक और फ़्लोबेर के 'बड़े' फ़्रांसीसी साहित्य ने लेखक के रूप में मुझपर वास्तविक और गहन शैक्षणिक प्रभाव डाला है। नये लेखकों को मैं उक्त लेखकों को पढ़ने की ज़ोरदार सिफ़ारिश करता हूं। वे वास्तव में ही प्रतिभाशाली कलाकार हैं, विधा के महानतम आचार्य हैं..." यह भी एक दिलचस्प संयोग है कि गोर्की

की भांति प्रेमचन्द भी नये लेखकों को फ़्रांसीसी गद्य साहित्य पढ़ने का परामर्श देते थे।

प्रेमचन्द का रूसी साहित्य का ज्ञान १६ वीं शताब्दी के महान लेखकों की रचनाओं तक ही सीमित नहीं था। वह २० वीं शताब्दी में, गोर्की के बाद रूसी साहित्य के क्षितिज पर प्रकट होनेवाले अन्य प्रखर नक्षत्रों की कृतियों से भी अवगत थे और उनके बारे में भी उनका अपना मूल्यांकन था। 'हंस' पत्रिका के प्रेमचन्द स्मृति-अंक (१६३७) में हिन्दी के जाने-माने लेखक जैनेन्द्र कुमार जैन ने कुप्रीन के 'यामा' ('पतन') उपन्यास के बारे में प्रेमचन्द की निम्न राय का उल्लेख किया है—

"भई जैनेन्द्र, वह किताब बड़ी powerful (जानदार) है। कहीं-कहीं तो मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेक़ाबू हो गया। एक जगह आंसू रुकना मुश्किल हुआ।"

'गोदान' के रूसी अनुवाद की भूमिका में प्रेमचन्द के सुपुत्र श्रीपत राय का हवाला देते हुए इ० कोम्पान्त्सेव ने लिखा है: "पश्चिमी लेखकों की रचनाओं के साथ-साथ प्रेमचन्द ने रूसी लेखकों की वे सभी पुस्तकें पढ़ी थीं जो उस समय भारत में मिल सकती थीं। तोलस्तोय, चेख़ोव, तुर्गेनेव और दोस्तोयेव्स्की की रचनाओं से वह भली भांति परिचित थे और उन्हें प्यार करते थे तथा गोर्की के प्रति उनका विशेष स्नेहभाव था। प्रेमचन्द के पुस्तकालय में शोलोख़ोव की 'धीरे बहे दोन रे' और 'परती धरती की अंगड़ाई' पुस्तकों की प्रतियां भी विद्यमान हैं।"

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे गोर्की भारतीय साहित्य और चिन्तन-परम्परा के अच्छे ज्ञाता और पारखी थे, वैसे ही प्रेमचन्द रूसी साहित्य और उसकी सशक्त परम्परा के। गोर्की ने यदि भारतीय साहित्य को रूसी जनता में लोकप्रिय बनाने के यत्न किये, तो प्रेमचन्द ने रूसी साहित्य को भारतीय जनता में।

गोर्की की भांति पत्रकार और चिन्तक प्रेमचन्द भी अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की राजनीतिक समस्याओं में बड़ी रुचि लेते थे। इस क्षेत्र में भी दोनों के विचारों की निकटता या समानता पर प्रकाश डालने से उनके साहित्य को समझने में सहायता मिलेगी। गोर्की साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व्यवस्था के कट्टर विरोधी और पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के बड़े पक्षधर थे, यह हमें ज्ञात ही है। इसी भांति जब हम प्रेमचन्द के अनेक लेखों, पत्रों और टिप्पणियों पर नज़र डालते हैं, तो उन्हें भी

दमन, उत्पीड़न, शोषण, उपनिवेशवाद और जातिवाद का विरोधी और धीरे-धीरे समाजवाद की ओर बढ़ते पाते हैं। यह मान लेना उचित होगा कि उनके चिन्तन के विकास की अवस्थायें जटिल और टेढ़े रास्तों से होकर गुज़रती हैं, कभी-कभी उनके क़दम डोलते-डगमगाते भी प्रतीत होते हैं, मगर टटोल-टटोलकर पग बढ़ाते हुए वह उसी मार्ग पर अग्रसर होते गये, जो गोर्की का मार्ग था। वह सोवियत व्यवस्था और नई सोवियत संस्कृति के ज़ोरदार पक्ष-पोषक हो गये थे, ऐसा निष्कर्ष निकालना निर्विवाद-सा प्रतीत होता है। विभिन्न अवसरों पर व्यक्त किये गये विचार और जहां-तहां बिखरी टिप्पणियां ऐसा निष्कर्ष निकालने में सहायक होती हैं।

१९१९ के दिसम्बर में अंग्रेज़ी सरकार द्वारा किये जानेवाले कुछ वैधानिक सुधारों पर अपनी राय ज़ाहिर करते हुए उन्होंने 'ज़माना' पत्रिका के सम्पादक अपने मित्र दयानरायण निगम को लिखा था: "इसलाहों (सुधारों) में अगर कोई ख़ूबी है, तो सिर्फ़ यह कि तालीम-याफ़्ता जमाअत (पढ़े-लिखे लोगों) को कुछ आसानियां ज़्यादा मिल जायेंगी और जिस तरह यह जमाअत वकील बनकर आज रिआया का ख़ून पी रही है, उसी तरह आइन्दा (भविष्य में) यह हाकिम बनकर रिआया का गला काटेगी। मैं क़रीब-क़रीब बोल्शेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूं..." लगभग इसी समय लिखे जा रहे और १९२१ में प्रकाशित उनके 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में कुछ इसी प्रकार के स्वर तब सुनाई देते हैं, जब बलराज यह कहता है: "मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज है। वे जो चाहते हैं, करते हैं।" अगले कुछ वर्षों में तो रूसी समाजवादी क्रान्ति के औचित्य और उसके सुफलों में उनकी आस्था और बढ़ी। १९२८ में प्रेमचन्द की अपनी पत्नी शिवरानी देवी से हुई बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है। अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' वह लिखती हैं: "मैं बोली: 'जब स्वराज हो जायेगा, तब क्या चूसना बन्द हो जायेगा?'—आप बोले: 'चूसा तो थोड़ा-बहुत हर जगह जाता है... हां, रूस है जहां पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहां ग़रीबों का आनन्द है। शायद यहां भी कुछ दिनों बाद रूस जैसा ही हो।'—मैं बोली: 'क्या आशा है कुछ?'—आप बोले: 'अभी जल्दी कोई उसकी आशा नहीं।' —मैं बोली: 'मान लो कि जल्दी ही हो जाय, तब आप किसका साथ देंगे?'—आप बोले: 'मज़दूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब

से कह दूंगा कि मैं तो मज़दूर हूं। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं क़लम चलाता हूं। हम दोनों बराबर ही हैं... मैं तो उस दिन के लिये मनाता हूं कि वह दिन जल्दी आये।' — मैं बोली: 'तो क्या रूसवाले यहां भी आयेंगे?'—वह बोले: 'रूसवाले यहां नहीं आयेंगे, बल्कि रूसवालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।' — मैं बोली: 'वह लोग अगर यहां आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।'—वह बोले: 'वह लोग यहां नहीं आयेंगे, हमीं लोगों में वह शक्ति आयेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहां काश्तकारों और मज़दूरों का राज्य होगा।'"

उक्त उद्धरण से दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं—१) अगर साथ देने का प्रश्न आयेगा, तो प्रेमचन्द साथ देंगे मज़दूरों और किसानों का; २) प्रेमचन्द को विश्वास था कि रूसवाले नहीं, बल्कि स्वयं भारतीय अपनी शक्ति से ऐसी व्यवस्था की स्थापना करेंगे और वे उस दिन की राह देख रहे हैं, जब ऐसा हो सकेगा।

सोवियत रूस की हर उन्नति और प्रगति से प्रेमचन्द ख़ुश होते थे और उन लोगों को मानो चुनौती के स्वर में ललकारते थे, जो सोवियत व्यवस्था को व्यर्थ ही बदनाम करते थे। १९३२ में 'जागरण' में छपी टिप्पणी 'सोवियत रूस की उन्नति' में उन्होंने लिखा: "सोवियत रूस के पंचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। एक अंग्रेज़ पत्रकार ने वहां की वर्त्तमान दशा की पांच साल पहले की हालत से तुलना करते हुए लिखा है कि रूस में नये नगरों और क़स्बों की बाढ़-सी आ गयी है। कितने ही ऐसे गांव, जहां सौ दो सौ आदमी रहते थे, वहां अब जनसंख्या पचास गुनी से ज़्यादा बढ़ गयी है। झोंपड़ों के ज़रा-ज़रा से पुरबे विशाल नगर बन गये हैं। व्यावसायिक उन्नति की यह रफ़्तार संसार के इतिहास में विस्मयजनक है। जहां जनता पर जनता के हित के लिये शासन किया जाता है, वहां ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है। साम्राज्यवादी यूरोप अभी तक यह नहीं तय कर पाया कि फ़ौजी सामान घटाया जाय या नहीं। उधर रूस एकाग्र भाव से उन्नति के मार्ग पर बढ़ता चला जा रहा है। न वहां बेकारी है, न मन्दी।"

उक्त टिप्पणी में "जनता पर जनता के हित के लिये शासन" की ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रेमचन्द ने रूस की केवल आर्थिक प्रगति और उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की ओर ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक उत्थान की ओर भी ध्यान दिया। 'हंस'

के फ़रवरी १९३३ के अंक में 'सोवियत रूस में प्रकाशन' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा था: "सोवियत रूस में जिस तरह शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है, उसी तरह पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। पांच साल पहले की बात है–१९२७ की–सोवियत स्टेट एडिटोरियल आफ़िस ने चार हज़ार भिन्न-भिन्न विषयों पर सात करोड़ चालीस लाख किताबें प्रकाशित की थीं, जिन पर कुल लागत तीन करोड़ चालीस लाख रूबल थी। केवल मक्सिम गोर्की की बीस लाख प्रतियां निकली थीं। रूस की जनसंख्या बारह करोड़ के लगभग है। इस जनसंख्या के लिये आठ करोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। और यह है पांच साल पहले की बात। सन् बत्तीस के आंकड़े मिल सकें, तो अवश्य ही इससे अधिक होंगे।"

उक्त टिप्पणी के कुछ ही महीने बाद, २१ अगस्त १९३३ के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने 'रूस में समाचारपत्रों की उन्नति' शीर्षक से एक और नोट लिखा जिसमें उन्होंने अपने विचारों को और भी अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति दी। नोट में कहा गया है: "रूस के सिवा समस्त संसार पर पूंजीपतियों का राज्य है और समाचारपत्रों को भी पूंजीपतियों का राग अलापना पड़ता है, नहीं तो उनका दीवाला निकल जाय। अधिकांश पत्र तो पूंजीपतियों के ही धन से चलते हैं। इसलिये रूस के सोवियट शासन को काले से काले रंगों में रंगने की चेष्टा की जाती है और सिद्ध किया जाता है कि अब वह बहुत जल्द रसातल में पहुंचना चाहता है। पर रूस इतनी हवाई गति से उन्नति कर रहा है कि इन समाचारपत्रों के लिये भी कभी-कभी इस उन्नति को दबा रखना कठिन हो जाता है। शिक्षा-प्रचार में इन दस-बारह बरसों में उसने जो तरक़्क़ी की है, उस पर सारा संसार दांतों तले उंगली दबा रहा है। अभी तक समझा जाता था कि सिनेमा क्षेत्र में अमेरिका सबसे आगे है। पर अब मालूम हुआ कि संसार के कुल साठ हज़ार सिनेमाघरों में सत्ताईस हज़ार केवल रूस में हैं। अमेरिका में चौबीस हज़ार हैं। शेष नौ हज़ार में सारा संसार है। एशिया में एक हज़ार से अधिक नहीं। लोहे की चीज़ों, बिजली के प्रसार में, खेती वृद्धि में वह बड़े वेग से क़दम बढ़ाता जा रहा है। अब ज्ञात हुआ कि उसने सोवियट काल में समाचारपत्रों में अश्रुतपूर्व उन्नति की है। महायुद्ध के पहले रूस में कुल आठ सौ छप्पन पत्र थे, जिनकी ग्राहक-संख्या सत्ताईस लाख थी, आज वहां चौवन सौ पत्र छपते हैं और

ग्राहक-संख्या तीन करोड़ अस्सी लाख है। अगर काग़ज़ का अभाव न होता, तो इससे भी अधिक प्रचार होता। कई पत्रों का प्रचार तो बीस लाख है। और उन चालबाज़ियों का नाम भी नहीं है, जो अन्य देशों के पत्र प्रतिद्वन्द्विता के कारण अपनी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिये किया करते हैं। सनसनी फैलानेवाली ख़बरें, चोरी, बलात्कार आदि की घटनायें, तेज़ी, मन्दी और मिल के हिस्सों की नोटिसें और शब्द जाल और पहेलियां, फ़ैशन और समाज के चुटकले, उन पत्रों में नज़र नहीं आते। तलाक़, ज़िना आदि की ख़बरें छपने नहीं दी जातीं। हां, अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों पर काफ़ी ध्यान दिया जाता है। यहां तक कि विदेशी भाषाओं के पत्रों का प्रचार भी एक करोड़ से कम नहीं। इन प्रमाणों के सामने कौन कह सकता है कि सोवियट शासन बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति में उन्नत से उन्नत राष्ट्र से भी पीछे है।"

उक्त टिप्पणी में जहां रूस में समाचारपत्रों के साथ-साथ शिक्षा और सिनेमाघरों की उन्नति की ओर ध्यान दिया गया है, वहां पूंजीवादी देशों के समाचारपत्रों के वास्तविक स्वरूप और उनके पूंजीपतियों पर निर्भर होने के कारण उन्हीं का राग अलापने की बात को स्पष्ट करना भी प्रेमचन्द नहीं भूले। पूंजीवादी देशों में प्रेस की तथाकथित आज़ादी भी सही अर्थ में आज़ादी नहीं है, प्रेमचन्द ने अपने 'जागरण' के पाठकों को यह चेता दिया।

'हंस' के फ़रवरी १९३४ के अंक में प्रेमचन्द ने 'रूस का नैतिक उत्थान' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी, जो इस प्रकार है—

"रूस को बदनाम करनेवाले अंग्रेज़ी अख़बारों में बराबर यही लिखा जाता है कि रूस में विवाह-प्रथा प्रायः उठ सी गई है, पारिवारिक संगठन नष्ट हो गया है, स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से सहवास करते रहते हैं आदि। लेकिन इन दिनों एक-दो भारतीय सज्जनों ने वहां का जो आंखों देखा वृत्तान्त लिखा है, उससे तो मालूम होता है कि रूस ने और किसी विभाग में चाहे प्रगति की हो या नहीं, लेकिन नैतिक दृष्टि से तो वह पच्छिम की अन्य सभी जातियों से आगे निकल गया है। वहां बाज़ारों में वेश्यायें अपने शिकार की तलाश में चक्कर लगाती नज़र नहीं आतीं, होटलों और कहवाख़ानों में औरतों के नंगे चित्र भी लटके नज़र नहीं आते हैं, जैसा अमेरिका और यूरोप के प्रायः सभी देशों में देखा जाता है। यही नहीं, सुज़ाक और उपदंश आदि बीमारियां, जो यूरोप में दिन-दिन बढ़

रही हैं, रूस में बहुत कम हो गयी हैं और वहां के डाक्टरों को आशा है कि कुछ दिनों में ये फ़िरंगी बीमारियां नेस्त-नाबूद हो जायेंगी। वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है, जो बाद को मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है। जहां धन थोड़े से आदमियों के हाथों में है, वहां पर लाज़िमी है कि धनवान लोग अपनी विलासिता को तृप्त करने के लिये प्रलोभनों से काम लें। जब किसी के पास इतना धन ही न रहे कि वह उसे विलासिता में उड़ा सके, तो वेश्यावृत्ति आप ही आप लुप्त हो जायेगी। फिर जब स्त्रियों के लिये जीवन के किसी विभाग में कोई रुकावट नहीं, तो वे क्यों इस लज्जास्पद वृत्ति का आश्रय लें। धन के लिये रूप को बेचना नारी पसन्द नहीं करती। वह तो प्रेम के लिये ही आत्म-समर्पण करना चाहती है। यदि वह परिश्रम से अपने जीवन को सुखी बना सकती है, तो वह यह घृणित आश्रय कभी न लेगी।"

प्रेमचन्द ने न केवल इस झूठे प्रचार का भंडाफोड़ किया कि सोवियत रूस में परिवार लगभग समाप्त हो गया है, बल्कि वेश्यावृत्ति के मूल कारण अर्थात नारी की आर्थिक निर्भरता और रूस में नारी को प्राप्त जीविका के सभी अवसरों के फलस्वरूप इस निर्भरता के अन्त पर भी उचित रूप से प्रकाश डाला है। लगभग तीस वर्ष के अपने रूसवास के आधार पर हम इस बात की पुष्टि कर सकते हैं कि रूस में परिवार ही प्रमुख सामाजिक इकाई है, पति-पत्नी के सम्बन्ध समानता पर आधारित और सुमधुर हैं तथा बच्चों को बहुत ही अधिक प्यार किया जाता है। किन्तु आज से तीस से अधिक बरस पहले, जब भारत में अंग्रेज़ों का राज था और सोवियत रूस के बारे में सही सूचनायें नहीं मिलती थीं तथा बहुत सा झूठा प्रचार किया जाता था, प्रेमचन्द ने भारतीयों में ऐसी भ्रांतियों को दूर करने में सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया।

मृत्यु के कुछ समय पहले, १९३६ में लिखे गये प्रेमचन्द के 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख में तो हम उन्हें बहुत ही ज़ोरदार शब्दों में पूंजीवाद की कड़ी आलोचना और समाजवाद को व्यावहारिक रूप देनेवाले सोवियत देश का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए पाते हैं। पूंजीवादी सभ्यता का घिनौना और अमानवीय रूप स्पष्ट करने के बाद सोवियत रूस की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है: "नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है... इस नई सभ्यता ने नारकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोद कर फेंक दी है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक

व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का सम्मानित सदस्य हो सकता है और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है।"

इसी लेख में व्यक्ति और धर्म की स्वाधीनता के असली रूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है: "स्वाधीनता का अर्थ है कि जनसाधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गांव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएं, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ते तथा सद्यः सुलभ न्याय की प्राप्ति हो और धर्म का अर्थ पुरोहितों, पादरियों और मुल्लाओं की मुफ़्तख़ोर जमात के दम्भमय उपदेशों और अंधविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुकरण नहीं है, किन्तु लोकसेवा, सहिष्णुता, समाज के लिये व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है।"

इसी लेख में समाजवाद का विरोध करनेवाली महाजनी सभ्यता पर उन्होंने इन ज़ोरदार शब्दों में चोट की है–"इस नयी सभ्यता के विरुद्ध पूंजीवाद कमर कसकर खड़ा है। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अन्तरात्मा के आदर्श पर चलने की आज़ादी – वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने-वाली बताई जा रही है। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसेवालों के लिये सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है, पर सचाई है, जो इस सारे अंधकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।"

हमें लगता है कि उन वर्षों में शायद ही किसी बड़े भारतीय लेखक ने इतने ज़ोरदार शब्दों में अंधकार को चीरकर दुनिया में समाजवाद का प्रकाश फैलानेवाली ज्योति की चर्चा की हो।

यहां इस बात की ओर ध्यान देना भी बहुत उपयुक्त होगा कि प्रत्यक्ष रूप से रूस और समाजवाद के बारे में ही नहीं, बल्कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों भारतीय राजनीति के प्रति प्रेमचन्द के रवैये में भी इसी प्रकार के झुकाव की प्रवृत्ति निरन्तर अधिकाधिक प्रबल होती गयी। 'जागरण' के ९ अक्तूबर १९३३ के अंक में प्रकाशित 'कांग्रेस और

सोशलिज़्म' लेख में उन्होंने लिखा था: "बीसवीं सदी सोशलिज़्म की सदी है, जो सम्भव है आगे चलकर कम्युनिज़्म का रूप धारण कर ले। भारत जैसे देश में जहां आबादी का बड़ा हिस्सा ग़रीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजूर हैं, सोशलिज़्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है? अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफ़रेन्डम हो, तो हमारा ख़्याल है, बहुमत सोशलिज़्म का होगा..." इसी प्रकार 'जागरण' के १६ अक्तूबर १६३३ के अंक में 'पंडित जवाहरलाल की आर्थिक नीति' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा था: "आपकी (जवाहरलाल नेहरू की) नीति वही है जिससे भारत के ग़रीब से ग़रीब आदमी को भी दैहिक और मानसिक भोजन और समान अवसर मिले। आप पूंजीपतियों के फ़ायदे के लिये वे चाहे देश के हों, चाहे विदेश के ग़रीबों और मज़दूरों का पीसा जाना नहीं देख सकते और यही आपकी नीति है। इसके सिवा अगर कोई अर्थ-नीति है तो वह धनवानों की, स्वामियों की, मोटी तोंद वालों की नीति है। जो नीति धनवालों को ग़रीबों के ख़ून पर मोटा कर करती है, उसका जितनी जल्दी अन्त हो जाय, उतना ही अच्छा। अमीर ग़रीबों को चूसकर ही अमीर बनता है। समाज की व्यवस्था ही ऐसी रखी गयी है कि हरेक व्यक्ति संसार को अपने स्वार्थ का क्षेत्र समझता है। वह लोग जो जवाहरलाल जी की इस नीति से चौंक उठे हैं, नित्य ग़रीबों को कुचले जाते देखते हैं, पर उन्हें कभी यह बात नहीं खटकती। कांग्रेस पूंजीपतियों की इस नीति का समर्थन करके राष्ट्रीय संस्था नहीं बन सकती।"

कितने स्पष्ट शब्दों में प्रेमचन्द ने यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय संस्था बनने के लिये कांग्रेस को पूंजीपतियों की नीति का समर्थन करने का मार्ग छोड़ना होगा। इंडियन नेशनल कांग्रेस के वास्तविक स्वरूप के बारे में भी कालान्तर में प्रेमचन्द के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। ३० अप्रैल १६३४ के 'जागरण' की एक 'कांग्रेस की आर्थिक योजना' टिप्पणी में उन्होंने साफ़ तौर पर यह लिखा था: "कांग्रेस ने अभी तक अपनी कोई योजना (आर्थिक योजना से अभिप्राय है) नहीं बनायी है और जब तक वह खुले तौर पर अपनी योजना पेश न कर दे, जनता को उसके विषय में भ्रम हो सकता है। सम्भव है, कांग्रेस के अपनी नीति निश्चय करते ही बहुत से ऐसे सज्जन उससे सम्बन्ध तोड़ लें, जो अभी तक उसके सत्याग्रह और असहयोग के कारण उसमें शरीक

हैं। कांग्रेस में अभी सभी विचारों के लोग मिले हुए हैं, जिनमें स्वराज्य की इच्छा के सिवा सामाजिक, आर्थिक आदि सिद्धान्तों में भेद है। कांग्रेस में बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदार और ज़मींदार, बड़े-बड़े पूंजीपति और व्यापारी शरीक हैं। सभी स्वराज्य को अपने-अपने स्वार्थों की आंख से देख रहे हैं, लेकिन इसके साथ-साथ सबके दिलों में शक भी मौजूद है। जिनके पास कुछ नहीं, वे तो साम्यवादी बने बनाये हैं, लेकिन जिनके पास सम्पत्ति और जायदाद है, वे तो साम्यवाद के भक्त नहीं हो सकते। वे कांग्रेस में अपने हित-साधन के लिये आये थे... अब तक कांग्रेस का राजनैतिक पहलू ही हमारे सामने था, उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू पर विचार करने की उस समय फ़ुर्सत ही न थी, पर आज कोई योजना केवल राजनैतिक आधार पर नहीं बन सकती। उसे आर्थिक समस्याओं का भी फ़ैसला करना पड़ेगा, तभी उसके ऐब और हुनर मालूम होंगे और लोग उसके बारे में अपनी राय क़ायम कर सकेंगे।"

प्रेमचन्द स्वयं तो कांग्रेस में उन समाजवादी प्रवृत्तियों का समर्थन करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं, जिनका चौथे दशक में जवाहरलाल नेहरू प्रतिनिधित्व कर रहे थे। काशी में जवाहरलाल नेहरू के एक व्याख्यान पर उन्होंने 'जागरण' के २० नवम्बर १९३३ के अंक में लिखा: "श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि संसार में खाने-पहनने का काफ़ी सामान है, तो भी बहुत-से मनुष्यों को नहीं मिलता और अगणित मनुष्यों को अपर्याप्त अन्न-वस्त्र मिलता है। यह दुःखजनक स्थिति दूर करने का एकमात्र उपाय साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार समाज का संगठन करना है। अन्य पद्धतियों के द्वारा यह समस्या अब तक हल नहीं हुई और उनके हल होने की संभावना भी नहीं है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्याख्यानों में वैज्ञानिक साम्यवाद (साइन्टिफ़िक सोशलिज़्म) शब्द का प्रयोग किया। आपका अभिप्राय यह था कि वर्तमान समाज में मनुष्य-मनुष्य में जो भीषण असमानता है, वह दूर हो। यह ठीक नहीं कि एक मनुष्य के पास अथाह धन भरा पड़ा हो और दूसरा मनुष्य भूखा मरता हो। समाज का इस प्रकार संघटन होना चाहिये, जिससे कोई मनुष्य भूखा न रहने पाये, सबको पर्याप्त अन्न और वस्त्र मिले और सबके उन्नति करने का समान अवसर हो..."

हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द कितने सीधे-सादे ढंग से भारत की कम पढ़ी-लिखी जनता को समाजवाद का अर्थ समझाते थे। जब हिन्दू-

महासभा और हिन्दू-सोशल लीग ने नेहरू जी के समाजवाद का विरोध किया, तो प्रेमचन्द ने किसी तरह की लाग-लपेट के बिना यह लिखा: "अब इसमें किसे संदेह हो सकता है कि हिन्दू-सोशल लीग भी हिन्दू-महासभा की भांति पूंजीपतियों की संस्था है, और वह समाजवाद का विरोध देश के हित को सामने रखकर नहीं, हिन्दू जनता के हित के लिये नहीं, बल्कि थोड़े से पूंजीपतियों के स्वार्थ को सामने रखकर कर रही है। पूंजीपति क्या हिन्दू क्या मुसलमान एक ही हैं। उनकी विचारशैली एक, उनकी स्वार्थ-लिप्सा एक। उनका उद्देश्य जनता को लूटकर अपनी जेब भरना है। जनता की आर्थिक जागृति उन्हें अपने स्वार्थों के प्रतिकूल नज़र आती है। वे चाहते हैं कि जनता सदैव इसी दशा में पड़ी रहे और वे सदैव उसका ख़ून चूसते रहें। उनका राष्ट्र-प्रेम केवल धोखे की टट्टी है... हमारा तो यह ख़याल है कि जो समाजवाद का समर्थक नहीं, वह हिन्दू नहीं। समाजवाद यही तो चाहता है कि मनुष्य-मात्र को समान भाव से शिक्षित होने और काम करने का अवसर दिया जाय, सभी काम बराबर समझे जायं, सभी समान रूप से प्रेम और शांति के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। इससे ऊंचा और पवित्र मानव-संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है?.. आज संसार में पूंजीवाद की जड़ें खोखली हो रही हैं और उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये समाजवाद से समझौता करना पड़ रहा है... पर लक्षण बतला रहे हैं कि निकट भविष्य में आजकल का पूंजीवाद ज़मीन पर पड़ा होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी। हिन्दू-सभा और हिन्दू-सोशल लीग दोनों समय और धर्म के प्रतिकूल चल रहे हैं। वास्तव में विध्वंसात्मक वह पूंजीवाद है, जिसके दामन से वह चिमटे हुए हैं, न कि समाजवाद जो भूमण्डल के लिये शान्ति, उद्धार और स्वाधीनता का सन्देश सुना रहा है।"

समाजवाद के मानवतावादी और शान्तिपूर्ण उद्देश्यों की इससे अधिक ज़ोरदार वकालत और क्या हो सकती है?

प्रेमचन्द ने मानवजाति के विकास-क्रम में आर्थिक तत्त्वों और कारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को भी बहुत अच्छी तरह समझ लिया था और इसलिये उन्होंने यह भी जान लिया था कि युद्धों का मुख्य कारण आर्थिक ही है। गोर्की की भांति प्रेमचन्द भी विश्व-शान्ति के लिये सदैव यत्नशील रहे, वह भी शान्ति के योद्धा थे। किन्तु विश्व-शान्ति बनी कैसे

रह सकती है, युद्धों से बचा कैसे जा सकता है? प्रेमचन्द ने 'जागरण' के २७ नवम्बर १९३३ के ग्रंक में 'राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता' टिप्पणी में इस प्रश्न का बहुत ही गहन, सारपूर्ण और तर्कपूर्ण उत्तर दिया है। उन्होंने लिखा है: "...समाज का संगठन आदि काल से आर्थिक भित्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिये छोटी-छोटी टुकड़ियां बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयां भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न की ओर से आंखें बन्द करके समाज का कोई दूसरा संगठन सफल नहीं हो सकता। यह तो जो प्राणी-प्राणी में भेद है, फट है, वैमनस्य है, यह जो राष्ट्रों में परस्पर तनातनी हो रही है, इसका कारण अर्थ के सिवा और क्या है। अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही राष्ट्रीयता के क़िले को ध्वंस कर सकता है। वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुंचने की चेष्टा की। उसने समझा कि समाज के मनोभाव को बदल देने से यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायेगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था... उसने (आध्यात्मवाद ने) मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा और कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गयी। समाज जहां था, वहीं खड़ा रह गया, नहीं, और पीछे हट गया... जब तक सम्पत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, शान्ति भी नहीं हो सकती)। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अत्याचार है, द्वेष और मालिन्य है, मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गांठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता... जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक संपत्ति-व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी... कुछ लोग समाज के इस आदर्श को वर्गवाद या 'क्लासवाद' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी-पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कम्पनियों

के मालिक हैं, वे इसे हौवा समझकर, आंखें बन्द करके, गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शान्त मन से देखा जाय, तो असंपत्तिवाद की शरण में आकर उन्हें भी वह शान्ति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिये वे सन्तों और संयासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती।"

ऊपर उद्धृत की गयी पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। वह सच्चे देशभक्त होते हुए भी राष्ट्रीयता की सीमाओं से बाहर निकलकर सम्पूर्ण मानवजाति के हित और कल्याण की बात सोचते थे। उन्हें यह स्पष्ट था कि पूंजीवाद और उसके साम्राज्य-वादी स्वरूप के कारण मण्डियों और उपनिवेशों की भूख ही दुनिया को विश्वयुद्धों के कगार पर लाकर खड़ा कर देती है। असंपत्तिवादी या समाज-वादी व्यवस्था ही इस प्रकार के सर्वनाशी युद्धों से बचने का एकमात्र मार्ग है।

प्रेमचन्द के लिये यह बात भी छिपी नहीं रही थी कि पूंजीपति देशी हो या विदेशी हो—दोनों की प्रवृत्ति समान है, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इसलिये किसानों-मज़दूरों और ग़रीब जनता के प्रति अन्याय और उनका शोषण करनेवाले भारतीय पूंजीपतियों को भी वह राष्ट्रीयता के नाम पर क्षमा करने को तैयार नहीं थे। उनके साहित्य और लेखों में इस आशय के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। 'जागरण' के ६ नव-म्बर १९३३ के अंक में 'अंधा पूंजीवाद' टिप्पणी की ओर ही ध्यान दीजिये—

"जिधर देखिये उधर पूंजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुई है। किसानों की खेती उजड़ जाय, उनकी बला से। कहावत के उस मूर्ख की भांति जो उसी डाल की जड़ काट रहा है, जिस पर बैठा था, यह समुदाय भी उसी किसान की गर्दन काट रहा है, जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है...

"पहले जब किसान निपट मूर्ख था, उसके लिये गोरे और काले पूंजीपति में कोई अन्तर न था। सांप और नाग दोनों ही उसके लिये समान थे। मि० बुल और सेठ पुनपुनवाला दोनों ही को देखकर वह कांप उठता था।

"तब धीरे-धीरे उसने कुछ राजनैतिक ज्ञान सीखा, राष्ट्र और जाति जैसे शब्दों से उसका परिचय हुआ और भोले बालकों की भांति जो हरेक

पदार्थ को मुंह में डाल लेते हैं, इस सरल व्यक्ति ने भी सेठ पुनपुनवाला के वैष्णव तिलक और हिन्दू-धर्म के प्रति असीम श्रद्धा और उनके नाम को उजागर करनेवाले धर्मशालों, मन्दिरों और पाठशालों को देखकर, उनका अपना उद्धारक समझा। यही सेठ पुनपुनवाला तो हैं, जिनके नाम और यश की कथाएं मोटे-मोटे अक्षरों में समाचारपत्रों में छपती हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेमी सेठ जी से उसने मन में बड़ी-बड़ी आशायें बांध लीं। ये अपने हैं, अपने देश के हैं, कितने ही स्वार्थी क्यों न हों, विदेशियों से तो अच्छे ही होंगे। उतना पुण्य कमाया है, तभी तो लक्ष्मी ने उनके ऊपर कृपा की है। अपने दुखी देशवासियों के लिए उनके मन में कहां तक दया न होगी।

"लेकिन जब पुनपुनवाला के मिलों में उसकी ऊख की ख़रीद होने लगी, जब उनकी आड़तों में उसका अनाज या सन तौला जाने लगा, तब उसे अनुभव हुआ कि सेठ जी बाहर से जितने बड़े धर्मात्मा और देशभक्त हैं, भीतर से उतने ही लुटेरे और बन्धुद्रोही भी हैं और धन और देश-प्रेम का यह सारा आडम्बर उन्होंने केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये रच रखा है।"

इसके बाद किसानों के साथ देशी और विदेशी यानी यूरोपियन मिल-मालिकों के व्यवहार की विस्तृत चर्चा करके प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं: "यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस ख़ूंख़ार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिये हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।"

धार्मिक ढकोसलों और अन्धविश्वासों की धज्जियां उड़ाने के मामले में तो प्रेमचन्द गांधी जी की आलोचना करने से भी नहीं चूके। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में धीरे-धीरे बिल्कुल वही वैज्ञानिक रुख़ अपना लिया था, जो भौतिकवादी चिन्तन को आधार बनाने पर सामने आता है।

इस अध्याय में हमने रूस, रूसी साहित्य और संस्कृति, रूस की समाजवादी क्रांति, सोवियत व्यवस्था, पूंजीवाद और समाजवाद के बारे में प्रेमचन्द के विचारों पर कुछ प्रकाश डाला है। यदि १९१९ में ही प्रेमचन्द ने अपने मित्र, 'ज़माना' पत्रिका के सम्पादक मुंशी दयानरायण निगम को अपने एक पत्र में यह लिखा था कि "मैं क़रीब-क़रीब बोल्शेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूं", तो अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने लेखनी और आत्मा की पूरी शक्ति से सामाजिक अन्याय, शोषण और उत्पीड़न

के प्रतीक पूंजीवाद पर ज़ोरदार प्रहार किये और समाजवाद में अपनी निरन्तर बढ़ती आस्था को खुलकर अभिव्यक्ति दी। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो उन्हें भगवान में भी विश्वास नहीं रहा था। इसीलिये मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र कुमार से ये शब्द कहे थे: "जैनेन्द्र, ऐसे समय ईश्वर को याद करते हैं। मुझे भी याद दिलायी जाती है। पर अभी मुझे ईश्वर को कष्ट देने की ज़रूरत नहीं मालूम हुई।" कुल मिलाकर, प्रेमचन्द के मन का झुकाव, उनकी सहानुभूति का केन्द्र-बिन्दु वही चिन्तन और वही विचारधारा है, जिसका गोर्की ने खुलकर पक्ष लिया है। प्रेमचन्द के चिन्तन में भी इसकी उत्तरोत्तर साफ़ छाप दिखाई देती है। तो क्या हम गोर्की और प्रेमचन्द के वैचारिक धरातल की समानता से इन्कार कर सकते हैं?

वोल्गा और गंगा के तटों पर

"नानी की जादू भरी इन कहानियों को कितनी बार भी क्यों न सुनता, तृप्ति न होती..."

म० गोर्की

"बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है..."

प्रेमचन्द

गोर्की का असली नाम अलेक्सेई मक्सीमोविच (पैतृक नाम) पेशकोव (कुलनाम) था और २८ मार्च १८६८ को वोल्गा तटवर्ती नीज्नी नोव्गोरोद में (जो अब गोर्की कहलाता है) एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में उनका जन्म हुआ था। मक्सिम साव्वातेयेविच पेशकोव उनके पिता और वर्वारा वसील्येव्ना पेशकोवा उनकी मां थीं। अलेक्सेई मक्सीमोविच पेशकोव के ददिहाल और ननिहाल के बारे में हमें स्वयं गोर्की के जहां-तहां बिखरे कथनों, उनके जीवनी-लेखक इ० अ० ग्रूज़देव की पुस्तक 'गोर्की और उनका समय' में दिये गये विवरणों और विशेषतः उनकी आत्म-कथात्मक उपन्यास त्रयी के पहले भाग 'मेरा बचपन' से पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। 'मेरा बचपन' में गोर्की की नानी उनके दादा और पिता की इस तरह चर्चा करती है—

"तुम्हारे दादा फ़ौजी सिपाही थे, जो तरक़्क़ी करते हुए अफ़सर के ओहदे तक पहुंच गये। लेकिन उसके बाद ही अपने मातहतों के साथ बेरहमी का सलूक करने के कारण उन्हें साइबेरिया भेज दिया गया। तुम्हारे पिता का साइबेरिया में ही जन्म हुआ। तुम्हारे दादा बचपन से ही उन्हें बड़ी निष्ठुरता से पीटा करते थे। फलस्वरूप उन्होंने कई बार घर से निकल भागने की कोशिश की: एक बार वह जंगल में जा छिपे, तुम्हारे दादा ने उनके पीछे शिकारी कुत्ते छोड़ दिये, मानो वह ख़रगोश हों... तुम्हारे

पिता बहुत छोटे थे, जब उनकी मां मर गयी। नौ वर्ष की उम्र में बाप की भी मृत्यु हो गयी। इसके बाद उनके धर्म-पिता ने, जो बढ़ई का काम करते थे, उनका पालन-पोषण किया। धर्म-पिता ने पेर्म नगर के बढ़ई-संघ में उनका नाम लिखवा दिया, लेकिन तुम्हारे पिता जी वहां से भाग गये। कुछ दिन वह बाज़ारों में अंधों को रास्ता दिखाते रहे। लेकिन १६ साल की उम्र में नीज्नी नोव्गोरोद चले आये, जहां कोलचिन के स्टीमरों पर एक बढ़ई की मातहती में काम करने लगे। बीस वर्ष की उम्र होते-होते वह लकड़ी का सामान बनाने और कुर्सी, सोफ़े आदि में गद्दी लगाने और कपड़ा चढ़ाने के काम में उस्ताद हो गये।"

नानी के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलेक्सेई पेशकोव के पिता का बचपन भी काफ़ी कटु रहा था, किन्तु चढ़ती जवानी की उम्र में ही वह अच्छे कारीगर बन गये और अच्छी कमाई करने लगे। अलेक्सेई पेशकोव की मां वर्वारा के साथ उनके प्रेम-विवाह का प्रसंग भी किसी दिलचस्प क़िस्से से कुछ कम नहीं है। नानी के शब्दों में ही—

"तुम्हारे पिता जिस दुकान में नौकरी करते थे, वह तुम्हारे नाना के कोवालिख़ा सड़कवाले मकानों की बग़ल में थी... घरों की चहारदीवारियां तो बहुत ऊंची नहीं होतीं और लोग साहसी होते हैं। एक दिन मैं और तुम्हारी मां वर्वारा बगीचे में रसभरियां चुन रही थीं कि सहसा देखती क्या हूं कि तेरा बाप चहारदीवारी के अन्दर दाख़िल है। मेरी अक़्ल गुम—क्या करूं, क्या न करूं? वह सेब के वृक्षों का झुरमुट पार कर हमारे पास आया। लम्बा-चौड़ा तन्दुरुस्त जिस्म, केवल उजली क़मीज़ और मख़-मली पतलून पहने हुए। न पांव में जूते, न सिर पर टोपी। लम्बे-लम्बे बाल कपड़े के फ़ीते से बंधे हुए। और जानते हो हज़रत आये किसलिये थे—यह कहने को कि 'वर्वारा का मेरे साथ ब्याह कर दो'। इसके पहले मैंने एक-दो बार उसे खिड़की के पास चक्कर लगाते देखा था। उसे देखकर मेरे मन में हुआ करता था—'लड़का है बड़ा सुन्दर'। मैंने उससे कहा: 'नौजवान, पहले तो यह बताओ कि किसी भले आदमी के घर आने का क्या यही रास्ता है?' वह झट मेरे सामने घुटनों के बल हो गया। बोला: 'अकुलीना इवानोव्ना! मेरा जीवन तुम्हारे हाथों में है—चाहो तो इसे रख लो, चाहो ख़त्म कर दो। वर्वारा तुम्हारे सामने है, उससे भी पूछ लो। प्रभु ईसा के नाम पर किसी तरह हम दोनों की शादी करवा दो। यह काम तुम्हारे ही बस का है।' मैं उसका प्रस्ताव सुनकर अवाक रह

गयी – देखो तो भला इस लड़के को! नज़र उठाकर देखती हूं तो तुम्हारी मां सेबों के झुरमुट में छिपी हुई उसे इशारे कर रही है। छछूंदरी का चेहरा लाल रतनार जैसे रसभरी का दाना, और आंखों में छल-छल आंसू। 'यह क्या सत्यानास किया तू ने मूर्ख छोकरी', मैंने कहा, 'तेरा सिर फिर गया है।' और तेरे बाप से मैंने कहा: 'साहबज़ादे! होश है तुम्हें कि क्या कर रहे हो? कुछ हैसियत को भी सोचा है अपनी?' उन दिनों तुम्हारे नाना पैसेवाले आदमी थे – जायदाद का बंटवारा नहीं हुआ था, उनके पास चार मकान थे, इसके अलावा काफ़ी रुपया भी था। अपने समाज में अच्छी प्रतिष्ठा थी। कुछ ही दिन पहले उनके नौ वर्ष तक रंग-रेज़ी के मुखिया रह चुकने के उपलक्ष्य में समारोह मनाया गया था और तुम्हारे नाना को सबने मिलकर कलाबत्तू का बन्द गले का शानदार कोट और टोपी भेंट की थी।"

ख़ैर, अलेक्सेई की नानी ने किसी तरह उन दोनों की शादी करवा दी, यद्यपि मामला बहुत ही गम्भीर रूप लेते-लेते बचा। अलेक्सेई के नाना तो बहुत समय तक अपनी बेटी वर्वारा और दामाद यानी अलेक्सेई के पिता से नाराज़ रहे और उन्होंने बेटी के हिस्से का दहेज भी नहीं दिया। अले-क्सेई के दोनों मामा अपने बहनोई से बहुत ख़ार खाते थे। एक तो इसलिये कि अलेक्सेई के पिता बहुत समझदार और सुन्दर व्यक्ति, कुशल कारीगर, गाने-नाचने में दक्ष और हंसी-मज़ाक़ करने में बहुत पटु थे, और दूसरे उन्हें यह शंका रहती थी कि कहीं उनका बहनोई अपनी बीवी का दहेज न मांगने लगे। उसके ऐसा करने पर सम्पत्ति का कुछ भाग उनके हाथ से निकल जाता। मिख़ाईल मामा ख़ास तौर पर अलेक्सेई के पिता के ख़िलाफ़ थे। सो इन लोगों ने अलेक्सेई के पिता को हत्या कर देनी चाही। नानी ने अलेक्सेई को यह घटना इस तरह सुनाई –

"इन लोगों ने मिलकर उसे एक पोखरी में ढकेल दिया, जहां बर्फ़ टूटी हुई थी। जब वह निकलने की कोशिश करता और किनारा थामता, तो वे जूतों से उसकी उंगलियां मसलकर उसे फिर अन्दर ढकेल देते... ईश्वर की कृपा से किसी प्रकार वह पोखरी के बीच मुंह बर्फ़ से बाहर रखकर सांस लेता रहा। ये लोग उस तक पहुंच नहीं पाते थे। चुनांचे इन्होंने कुछ देर तक उसपर बर्फ़ फेंकी और यह सोचकर चले गये कि वह ख़ुद ही पोखरी में डूब जायेगा। वह किसी तरह रेंग कर बाहर निकल आया।"

इस घटना के बाद अलेक्सेई के माता-पिता ने नीज्नी नोव्गोरोद में रहना उचित नहीं समझा। उन्हीं दिनों आस्त्राख़ान शहर में रूस के ज़ार का आगमन होनेवाला था और अलेक्सेई के पिता मक्सिम साव्वातेयेविच को वहां स्वागत-द्वार बनाने का काम मिल गया और ये लोग आस्त्राख़ान चले गये। वहीं, आस्त्राख़ान में, जब अलेक्सेई की उम्र पांच साल की भी नहीं थी, उसे हैज़ा हो गया। अलेक्सेई के पिता अपने बेटे को बहुत प्यार करते थे और चूंकि उनके कई बच्चे मर चुके थे, इसलिये इस बेटे की जान बचाने के लिये उन्होंने अपनी जान की चिन्ता किये बिना उसकी पूरी देख-भाल की। बेटे की जान तो उन्होंने बचा ली, मगर ख़ुद हैज़े की छूत लगने से चल बसे। गोर्की ने 'मेरा बचपन' में अपने पिता की अन्तिम स्मृति का यों वर्णन किया है—

"पिता जी कुछ-कुछ अंधेरे, छोटे-से कमरे के फ़र्श पर खिड़की के नीचे लेटे हुए थे... सफ़ेद वस्त्र पहने और बहुत ही लम्बे-से प्रतीत होते हुए तथा उनके नंगे पैरों की उंगलियां बड़े अटपटे ढंग से फैली हुई थीं... दयालु मुखड़ा विवर्ण था और दांत दिखाई दे रहे थे, जिनसे मुझे डर लग रहा था... बड़े लोगों को मैंने आज तक रोते नहीं देखा था और नानी द्वारा बार-बार कहे जानेवाले शब्द भी मेरी समझ में नहीं आ रहे थे। वह कह रही थी—

"'तेरे पिता जी चल बसे बेटे! जा नज़र भरकर देख ले। अब तू उन्हें कभी नहीं देख पायेगा। तेरे पिता जी मर गये, मेरे लाल, अकाल, असमय।'"

तो इस तरह अलेक्सेई मक्सीमोविच यानी गोर्की के सिर पर से पांच साल की उम्र में ही पिता का साया उठ गया। अलेक्सेई की मां वर्वारा का अपने बेटे के प्रति इसलिये कठोर रवैया हो गया कि वह उसे अपने प्यारे पति की मौत के लिये, जिनके साथ उसका बहुत ही सुखी जीवन बीत रहा था, ज़िम्मेदार मानती थी। किन्तु इसी समय अलेक्सेई के जीवन में उसकी नानी अकुलीना इवानोव्ना ने प्रवेश किया और बाद को लेखक के रूप में उसके व्यक्तित्व-निर्माण में, उसमें कहानी कहने की कला का बीज-रोपन करने की दृष्टि से उसने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्वयं गोर्की ने अपनी नानी के बारे में ऐसे उद्गार व्यक्त किये हैं—

"नानी का एक-एक शब्द मिठास से सना होता था—हर शब्द फूल की तरह ख़ुशनुमा और रसीला—सीधे दिमाग़ में गड़ जाता था। जब वह

मुस्कराती तो काली आंखों की पुतलियां फैल जातीं और उनके अन्दर एक अवर्णनीय चमक दिखाई देती। मुस्कराते समय उजले दांतों की मज़बूत पांत झलक उठती। उसके गालों का रंग कुछ काला पड़ गया था और उनपर अनगिनत झुर्रियां थीं। तो भी कुल मिलाकर चेहरे पर ताज़गी और चमक थी। उसकी सुन्दरता को बिगाड़ती थी उसकी पिलपिली नाक, जिसका सिरा लाल था और नथुने फूले हुए। चांदी की कामदार काली डिबिया से वह नास लेती थी... वह झुकी हुई लगभग कुबड़ी-सी लगनेवाली बहुत मोटी औरत थी, लेकिन उसकी गतिविधि में बड़ी बिल्ली जैसी चुस्ती और फुर्ती थी। व्यक्तित्व भी उसका बिल्ली की तरह गुदगुदा और प्यार भरा था।

"मुझे लगा कि उसके आने के पहले मैं किसी अंधेरे कोने में नींद में पड़ा था– उसने मुझे जगाकर प्रकाश में पहुंचा दिया, मेरे इर्द-गिर्द की हर चीज़ को एक धागे में पिरो दिया, मेरे गिर्द रंग-बिरंगा ताना-बाना-सा बुन दिया। वह जीवन भर के लिये मेरी मित्र, मेरे हृदय के बहुत ही निकट, सुबोध और सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति हो गयी। जीवन के प्रति उसके निःस्वार्थ मोह ने मुझे नयी प्रेरणा से ओत-प्रोत कर दिया और मुझे वह शक्ति प्रदान की, जिससे मैं अपने कठिन भविष्य का सामना कर सका।"

अलेक्सेई मक्सीमोविच की नानी को ढेरों कहानियां याद थीं और वह बहुत ही सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण ढंग से उन्हें सुनाती थी। गोर्की ने लिखा है: "नास की एक चुटकी लेकर वह मुझे सन्तों, साध-महात्माओं, जानवरों, नेकदिल डाकुओं या भूत-प्रेतों की अद्भुत कहानियां सुनाने लगती।

"कहानी सुनाते समय उसका स्वर शान्त होता, उसमें सरसता और रहस्य का भाव आ जाता था। मुंह मेरे मुंह के पास होता और फैली हुई पुतलियां मेरी आंखों में टक लगाये रहतीं, और ऐसे वह मानो आंखों की राह मेरे हृदय में शक्तिदायक आसव उंडेलती। वह बोलती नहीं, मानो गाती हो और ज्यों-ज्यों कहानी आगे बढ़ती, उसकी बोली और भी लययुक्त हो जाती। उसकी कहानियों में अपार आनन्द आता। जब कहानी ख़त्म हो जाती, तो मैं विभोर होकर कह उठता: 'और सुनाओ, नानी!'"

और कहानी फिर चलने लगती।

तो अलेक्सेई के पिता की मृत्यु हो जाने के बाद नानी अकुलीना इवानोव्ना अपनी बेटी और नाती को आस्त्राख़ान से नीज्नी नोव्गोरोद में

अपने यानी नाना के घर ले आई। नाना के घर में अलेक्सेई के बचपन के जो वर्ष बीते, उन्होंने बालक के कोमल मन पर बहुत ही गहरे चिह्न अंकित किये। गोर्की ने बाद में लिखा: "इस तरह मेरा नया जीवन शुरू हुआ – घटनापूर्ण और बेहद अजीब – जिसमें तेज़ी से उतार-चढ़ाव आये। मुझे उसका हर पन्ना याद है, मानो वह किसी प्रतिभाशाली गल्पकार की कही हुई सच्ची कहानी हो। उन बीते दिनों पर नज़र दौड़ाता हूं, तो यह विश्वास नहीं होता कि वे घटनायें सचमुच घटी थीं। बहुत-सी चीज़ों को न मानने और अविश्वास से अस्वीकार कर देने को जी होता है... मेरे नाना का घर बैर और वैमनस्य के विषैले धुएं से भरा हुआ था। हर आदमी के दिल में दूसरे के प्रति वैमनस्य तथा घृणा का भाव था। वयस्कों का दिमाग़ तो इस धुएं से बिल्कुल विषाक्त हो ही चुका था, बच्चे भी उसके प्रभाव से अछूते न थे।"

इस घर में भाई भाई का दुश्मन था, अलेक्सेई के दोनों मामा जायदाद का बंटवारा चाहते थे, आपस में लड़ते और हाथापाई करते थे, अपने पिता से उलझते थे, अपनी बीवियों को वहशियों की तरह पीटते थे, छोटे याकोव मामा ने तो पीटते-पीटते बीवी की जान भी ले ली थी। बच्चों की भी अक्सर पिटाई होती थी। बच्चों को पीटने के मामले में तो अलेक्सेई के नाना बिल्कुल दरिन्दों का सा बर्ताव करते थे। वह अपने पोतों की तो अक्सर बेंच पर लिटाकर, पतलून उतरवाकर बेंतों से पिटाई करते थे और फिर एक दिन अलेक्सेई की भी बारी आ गयी। इस पिटाई की याद करते हुए गोर्की ने लिखा है –

"नाना ने पीटते-पीटते मुझे अधमरा कर दिया। मैं बेहोश हो गया। उसके बाद मैंने खाट थाम ली। मुझे उन दिनों की स्पष्ट याद है। एक छोटे-से कमरे में, जिसमें सिर्फ़ एक खिड़की थी, मैं एक चौड़े पलंग पर पेट के बल पड़ा रहता था... इस बीमारी के दिन मेरी ज़िन्दगी के महत्त्वपूर्ण दिन थे। मुझे ऐसा लगा कि उन थोड़े-से दिनों में मैं बरबस बड़ा हो गया और मेरे चरित्र में एक नयी विशेषता आ गयी। हृदय दूसरों के प्रति गहरी संवेदना से परिपूर्ण हो गया। ऐसा मालूम हुआ कि किसी ने कलेजे पर की खाल छील दी है। अब अपने या दूसरों के दुःख और हृदय को लगने-वाली टेस से ऐसा जान पड़ता, मानो किसी ने ताज़े घाव को छू दिया हो।"

जहां तक अलेक्सेई की पढ़ाई-लिखाई का सम्बन्ध है, तो नाना के घर

आने पर शुरू में नताल्या मामी ने बालक को कुछ धार्मिक शिक्षा दी और बाद में नाना ने अक्षर जोड़-जोड़कर भजन-संहिता पढ़ना सिखाया। फिर मां ने कवितायें रटानी चाहीं जिनका परिणाम कुछ अच्छा न निकला, क्योंकि अलेक्सेई कविताओं को सुनाते वक्त उन्हें उलट-पलट देता था। मां खीझ उठती थी, कई बार उसे दण्ड भी देती थी, किन्तु कोई लाभ नहीं होता था। गोर्की ने कवितायें रटने के इस प्रसंग की यातना का इन शब्दों में वर्णन किया है—

"वह (यानी मां) मुझे नयी-नयी कवितायें रटाने लगी, पर मेरा मस्तिष्क उन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर देता। छंदों को तोड़-मरोड़कर उनकी जगह दूसरे शब्दों बैठाने की आदत-सी पड़ गयी, जो लाख कोशिश करने पर भी छूटने का नाम न लेती थी... ज्योंही मैं कविता रटने बैठता, दूसरे शब्द तिलचटों की फ़ौज की तरह मेरे मस्तिष्क पर घेरा डाल लेते।"

आख़िर स्कूल में नाम लिखवाया गया और अपने ममेरे भाई के साथ यह एक महीने तक स्कूल जाता रहा। किन्तु चेचक निकल आई, चेचक की उसी हालत में नानी के बारे में भयानक सपना देखकर खिड़की से नीचे कूद गया और तीन महीने तक चारपाई से उठने और चलने-फिरने लायक़ नहीं हो सका। इन्हीं दिनों में अलेक्सेई की मां की दुबारा शादी हो गयी और कुछ समय बाद वह अपनी मां और सौतेले पिता के पास सोर्मोवो नगर में जाकर रहने लगा। वहां मां ने फ़ौरन उसका स्कूल में नाम लिखवा दिया। "लेकिन स्कूल से मुझे पहले ही दिन से चिढ़ हो गयी। मैं निराली सूरत बनाये हुए स्कूल पहुंचा। पैरों में मां के जूते, नानी का कोई पुराना कपड़ा काटकर बनाया गया कोट, पीली क़मीज़ और ढीला-ढाला पतलून। लड़कों ने देखते ही हंसना शुरू कर दिया। पीली क़मीज़ के कारण मेरा नाम 'ईंट का एक्का' रख दिया गया"

फिर भी कुछ समय तक अलेक्सेई की पढ़ाई चलती रही और वह अंक भी अच्छे लेता रहा, किन्तु मां का एक रूबल चुरा लेने के कारण एक बार फिर पढ़ाई का सिलसिला टूटते-टूटते बचा। गोर्की ने इस घटना का ऐसे उल्लेख किया है—

"यह अपराध मैंने बिना सोचे-समझे किया था। बात यह हुई कि एक दिन मुझे छोटे बच्चे के पास छोड़कर मां कहीं चली गयी थी। बैठे-बैठे ऊब अनुभव होने लगी, तो मैंने सौतेले पिता जी की एक किताब उठा ली... किताब के पन्नों में एक रूबल और दस रूबल का नोट रखा था...

उसे बन्द करते समय मुझे अचानक यह ख़्याल आया कि एक रूबल से मैं न केवल बाइबिल (बालक अलेक्सेई के पास बाइबिल नहीं थी और इसलिए उसे अक्सर स्कूल में डांटा जाता था) ख़रीद सकता हूं, बल्कि 'राबिंसन क्रूसो' भी आ जायेगी। कुछ ही दिन पहले मैंने 'राबिंसन क्रूसो' के बारे में सुना था। एक दिन बाहर बहुत ज़ोर का पाला पड़ रहा था, इसलिये कुछ मिनट के विराम के वक़्त मैं अपने साथियों को परियों की कहानियां सुनाता रहा था। यकायक एक लड़के ने तिरस्कारपूर्वक कहा: 'परियों की कहानियों में क्या रखा है? राबिंसन क्रूसो की कहानी सच्ची कहानी है।'

"कुछ और लड़कों ने 'राबिंसन क्रूसो' पढ़ी थी और उन्होंने भी उसकी तारीफ़ की। नानी की कहानियों का अपमान मुझे बहुत अखरा और मैंने सोचा कि 'राबिंसन क्रूसो' पढ़कर मैं भी इन लोगों से कहूंगा कि 'उसमें क्या रखा है'।"

चुनांचे अलेक्सेई ने एक रूबल चुरा लिया, 'राबिंसन क्रूसो' ख़रीद ली, स्कूल में उसे पूरी तरह पढ़ भी नहीं पाया, घर लौटने पर मां ने किताब छीन ली (जो उसे कभी वापस नहीं मिली) और पिटाई भी की। सौतेले बाप ने अलेक्सेई के साथ पढ़नेवाले किसी बालक के पिता से इस चोरी का ज़िक्र कर दिया, बात छात्रों में फैल गयी और अलेक्सेई को, जिसे पहले "ईंट का एक्का" कहा जाता था, अब नया, "चोर" उपनाम मिल गया। इसलिये उसने स्कूल जाने से इन्कार कर दिया। तब मां ने स्कूल जाकर उसकी सफ़ाई दी और इस तरह उसकी पढ़ाई जारी रही। किन्तु कुछ ही समय बाद उसे फिर नाना-नानी के घर लौट जाना पड़ा। नाना की माली हालत बड़ी ख़स्ता हो चुकी थी, जायदाद का बंटवारा हो गया था, जो कुछ पूंजी हाथ में थी नाना ने वह जान-पहचान के एक आदमी को सूद पर दे दी, जो डूब गयी। इस तरह बेहद ग़रीबी और तंगदस्ती के दिन आ गये। नाना-नानी में अलगाव हो गया था। इसलिये बालक अलेक्सेई कूड़ा-कबाड़ जमाकर उसे कबाड़ी के यहां ले जाकर बेचने लगा। गोर्की ने इसका वर्णन इस तरह किया है—

"अब मैं भी थोड़ा-बहुत कमाने लगा। रविवार को बोरा लेकर तड़के ही शहर में निकल जाता और पुरानी हड्डियां, फटे कपड़े, लोहे की कीलें और रद्दी काग़ज़ जमा कर लाता... इस तरह हर सप्ताह में तीस से पचास कोपेक तक की आमदनी हो जाती। कोई-कोई हफ़्ता ख़ूब अच्छा

जाता, तो इससे भी ज़्यादा मिल जाता था! नानी पैसे लेकर जल्दी से अपने घाघरे की जेब में डाल लेती और आंखें नीची कर मुझे शाबाशी देते हुए कहती: 'धन्यवाद, मेरे लाल, दुलारे! अब हम दोनों भूखों नहीं मर सकते। ठीक है न?'"

किन्तु कबाड़ जमा करने के इस काम के कारण अलेक्सेई को स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। गोर्की ने लिखा है—

"स्कूल में मेरे लिये नयी समस्या पैदा हो गयी। लड़कों ने मुझे आवारा और कबाड़ी कहना शुरू किया। एक दिन ख़ूब झगड़ा हो गया। इसके बाद उन्होंने जाकर मास्टर जी से यह शिकायत कर दी कि मेरे बदन से कूड़े की बदबू आती है, इसलिये क्लास में मेरे साथ बैठना असम्भव है। मुझे याद है कि इस चुग़ली से मेरे दिल को गहरी ठेस लगी थी। उसके बाद स्कूल में मुंह दिखाना असम्भव प्रतीत होने लगा था, क्योंकि शिकायत सरासर झूठी थी। मैं रोज़ सवेरे अच्छी तरह से हाथ-मुंह धोता था और स्कूल जाते समय हमेशा वे कपड़े बदल लिया करता था, जो कबाड़ जमा करते वक़्त पहनता था... आख़िर मैंने तीसरे दर्जे का इम्तहान दिया और अच्छे नम्बर पाने के फलस्वरूप मुझे पुरस्कार में प्रशंसापत्र, बाइबिल, क्रिलोव की कहानियों की एक प्रति तथा बिना जिल्द की एक और किताब—'फ़ाता मोर्गाना' मिली। पुरस्कार देखकर नाना की ख़ुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा कि किताबों को अत्यन्त सावधानी से रख देना चाहिये और बोले कि उन्हें अपने ख़ास संदूक़ में बन्द कर दूंगा। उन दिनों नानी कई दिनों से बीमार थी। उसके पास पैसा नहीं था। नाना रोज़ शिकायत करते थे—

"'तुम्हारी वजह से मैं लुटा जा रहा हूं। बिक नहीं गया मैं, तो कहना।'

"अतः मैंने किताबें ले जाकर बेच दीं। उनसे मुझे पचास कोपेक मिले, जो मैंने नानी के हवाले कर दिये... स्कूल की छुट्टी हो गयी और मैंने फिर अपना धंधा आरम्भ कर दिया।"

यह धंधा पल्ले चुराने का था, जो अलेक्सेई कई अन्य लड़कों के साथ मिलकर करता था। इस काम में कबाड़ जमा करने के मुक़ाबले में ज़्यादा कमाई हो जाती थी और बस्ती के लोगों में इसे चोरी करना भी नहीं माना जाता था। किन्तु यह सिलसिला भी बहुत दिनों तक नहीं चला और अलेक्सेई की मां की मृत्यु हो जाने के कुछ दिन बाद नाना ने उससे कहा—

"अलेक्सेई! तू मेरे गले का हार नहीं है। अब भाई, यहां तेरे लिये जगह नहीं। जा, अपनी रोज़ी-रोटी की फ़िक्र कर।"

और अलेक्सेई रोज़ी-रोटी की फ़िक्र में निकल पड़ा जीवन की राहों पर!

सो कूड़ा-कबाड़ जमा करने और पल्ले चुराने के काम का अनुभव पाने के बाद बालक अलेक्सेई नगर की 'फ़ैंसी जूतों की दुकान' पर काम करने लगा। उसका ममेरा भाई साशा भी यहीं काम करता था। वह उम्र और काम के अनुभव की दृष्टि से भी बड़ा था। इसलिये शुरू से ही अलेक्सेई पर अपना रोब जमाने लगा। आख़िर उन दोनों में झगड़ा और हाथापाई भी हो गयी। इसलिये अलेक्सेई ने यह काम छोड़ देना चाहा। उसी दिन, जब वह ऐसा करने की सोच रहा था, शोरबा गर्म करते हुए उसने अपने हाथ जला लिये और उसे अस्पताल पहुंचा दिया गया। ठीक होने पर नानी उसे घर ले गयी। कुछ महीनों तक नानी के साथ रहने के बाद नाना ने अलेक्सेई को फिर से काम पर लगा दिया। इस बार उसे नानी की सगी बहन मात्र्योना के घर भेजा गया। मात्र्योना का बड़ा बेटा नक़्शानवीस था और नाना को आशा थी कि अलेक्सेई शायद वहां नक़्शानवीसी का काम सीख जाये। किन्तु नानी ने इस प्रस्ताव का शुरू से ही विरोध किया, क्योंकि वह अपनी बहन के कमीने स्वभाव और उस घर के घटियापन के वातावरण से कुछ-कुछ परिचित थी। पर नाना तो किसी तरह भी अलेक्सेई से पिण्ड छुड़ाना चाहते थे। सो अलेक्सेई वहां चला गया। उस घर में सास-बहू का अक्सर झगड़ा होता था और कुल मिलाकर बहुत ही दमघोंट वातावरण था। गोर्की ने उस घर में बिताये गये दिनों की याद करते हुए लिखा है—

"मुझे भारी मेहनत करनी पड़ती—घर की महरी का सारा काम मैं ही करता, बुध के दिन रसोईघर में फ़र्श धोता, समोवार और पीतल के दूसरे बरतनों को रगड़-रगड़कर चमकाता, शनिवार के दिन समूचे घर तथा दोनों सीढ़ियों को साफ़ करता। आतिशदानों के लिये लकड़ी चीरता और जूठे बरतन मांजता, सब्ज़ियां छीलता-काटता, टोकरी हाथ में लेकर अपनी मालकिन के साथ बाज़ार जाता, सौदा-सुलफ़ और दवाइयों के लिये किराने तथा दवाफ़रोश की दुकानों के चक्कर लगाता।"

यह सब कुछ ९-१० वर्ष की आयु के बालक को करना पड़ता, जिसे न ढंग का खाना मिलता था और न जिसके लिये ढंग से सोने की व्यवस्था थी। गोर्की ने लिखा है—

"मैं रसोईघर में पाख़ाने के दरवाज़े के ठीक सामने और बाहर की ओर जानेवाले दरवाज़े की बग़ल में सोता था। मेरा सिर रसोईघर की अंगीठी की गर्मी से भन्नाने लगता और पांव बाहर वाले दरवाज़े से आनेवाली ठण्डी हवा से सुन्न हो जाते। रात को सोने के समय मैं फ़र्श पर बिछी तमाम चटाइयों को बटोरकर अपने पांवों पर डाल लेता।"

अलेक्सेई ने जब नक़्शानवीसी सीखने की कुछ कोशिश की, तो कमीनी, बूढ़ी मालकिन ने उसके साथ ऐसा बर्ताव किया – "उसने मेरे बाल पकड़े और मेरा सिर इतने ज़ोर से मेज़ पर दे मारा कि मेरी नाक और होंठ लहूलुहान हो गये। उसने हाथ-पांव पटके, ख़ूब उछली-कूदी, मेरे नक़्शे को उठाकर फाड़ डाला, औज़ारों को फ़र्श पर फेंक दिया और फिर कूल्हों पर हाथ रखकर विजेता के अन्दाज़ में चिल्लाई –

"'ले बना नक़्शे! नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा!'"

आख़िर जाड़ा जैसे-तैसे इस घर में बिताने के बाद वसन्त आने पर अलेक्सेई इस घर से भाग गया। दो-तीन दिन तक वोल्गा-तट पर योंही घूमता रहा, घाट-मज़दूर उसे खाना खिला देते थे और उन्हीं के साथ वह रात को सो जाता था। उन्हीं मज़दूरों में से एक ने उसे 'दोब्री' जहाज़ पर बर्तन साफ़ करने की नौकरी लेने का सुझाव दिया। इस तरह अलेक्सेई दो रूबल महीना वेतन पर 'दोब्री' जहाज़ के रसोईघर में काम करने लगा। 'दोब्री' जहाज़ पर बिताये गये लगभग चार महीनों का अलेक्सेई के भावी जीवन पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अगर नानी ने बालक अलेक्सेई को कहानियां सुनने और फिर उन्हें दूसरों को सुनाने का चस्का लगा दिया था, तो 'दोब्री' जहाज़ के बावर्ची स्मूरी ने, जो उससे किताबें पढ़वाकर सुनता था, उसे किताबें पढ़ने की ऐसी काट लगा दी, जो निरन्तर बढ़ती ही चली गयी और जिसने भावी विश्व-विख्यात लेखक गोर्की की साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार करने में बड़ी मदद दी। गोर्की ने स्मूरी के बारे में लिखा है –

"वह मुझसे सदा यही कहता: 'पढ़ो, अगर कोई किताब समझ में न आये तो उसे सात बार पढ़ो। अगर सात बार पढ़ने पर भी समझ में न आये तो उसे बारह बार पढ़ो...' 'अगर तुम कुछ बड़े होते तो तुम्हें बहुत-सी बातें सिखाता... तुम पुस्तकें पढ़ो, पुस्तकों में काम की बातें होनी चाहिये। किताबें फ़िज़ूल की चीज़ नहीं हैं...' 'अगर मैं अमीर होता तो तुम्हें पढ़ने के लिये स्कूल भेज देता। अनपढ़ आदमी को पूरा

बैल ही समझो। चाहो तो उसपर जुआ लाद दो, चाहे उसे काटकर खा जाओ— दुम हिलाने के सिवा वह कुछ नहीं करता।'"

अलेक्सेई को जब 'दोब्री' जहाज़ की नौकरी छोड़नी पड़ी, तो उसे विदा करते समय भी स्मूरी ने उससे यही कहा: "पुस्तकें पढ़ना, उनसे बड़ा साथी तुम्हें और कोई नहीं मिलेगा।"

सो अलेक्सेई फिर से नाना-नानी के पास लौट आया। कुछ दिनों बाद उसने गानेवाली चिड़ियां पकड़ने का धंधा शुरू किया, जिन्हें नानी बाज़ार में बेच आती थी। इस काम में कुछ कमाई तो हो जाती थी, किन्तु नाना अक्सर यही कहते रहते थे कि चिड़ियां पकड़ने का काम करके तुम जीवन में आगे नहीं बढ़ सकोगे। जाड़ा आने पर वह अलेक्सेई को फिर से नानी की बहन मात्योना के घर ले गये। अलेक्सेई फिर वहां घर के काम-काज में खटने लगा। उस घर के सामनेवाले घर में शहर के सबसे अच्छे दर्ज़ीख़ाने में काम करनेवाला एक पोशाक-कटर रहता था, जिसकी चीनी गुड़िया-सी प्यारी बीवी किताबों की दीवानी थी। अलेक्सेई उससे किताबें मांग कर लाने और अपने मालिकों, ख़ासकर बूढ़ी मालकिन से चोरी-छिपे उन्हें पढ़ने लगा। इसके लिये उसे कई बार बूढ़ी मालकिन ने ख़ूब पीटा और उसे अन्य कई तरह के कष्ट और दुख सहने पड़े। इस डर से कि कटर की बीवी की क़ीमती किताबें बूढ़ी मालकिन के हाथों में आकर फट न जायें, उसने किराये पर सस्ती किताबें लेकर पढ़ना आरम्भ किया, जिससे उसके सिर पर काफ़ी क़र्ज़ चढ़ गया। क़र्ज़ चुकाने के लिये उसने चोरी करनी चाही, मगर जवान मालिक ने, जो अपेक्षाकृत भला और दयालु आदमी था, क़र्ज़ के पैसे देकर उसे निजात दिलाई।

गोर्की ने इस सम्बन्ध में बिल्कुल ठीक ही लिखा है—

"पुस्तकें पढ़ने की अपनी इस धुन के कारण मुझे क्या कुछ नहीं सहना पड़ा—अपमान के कड़ुवे घूंट मैंने पिये, दिल पर लगी चोटों से मैं कराह उठा। इन सबकी जब मैं याद करता हूं तो दुःख भी होता है और हंसी भी आती है।"

किन्तु इसी धुन के फलस्वरूप अलेक्सेई ने छोटी उम्र में ही बड़े ड्यूमा, मौन्तेपिन, ज़ाकोन्ने, गाबोरिओ, एमर और बुआगेबे जैसे फ़्रांसीसी लेखकों की मोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ डालीं जिससे उसकी अपनी कल्पना-शक्ति और विषय-वस्तु का पहले से ही अनुमान लगाने की क्षमता का बहुत विकास

हो गया। वह कभी-कभी ख़ुद भी कथानक की गुत्थियां सुलझाने लगता और बहुधा उसके अनुमान सही निकलते—

"पुस्तक को मैं अलग रख देता, गणित के सवाल की भांति मैं उसपर दिमाग़ लड़ाने लगता और मेरे हल अधिकाधिक सही निकलते—यह कि किस पात्र को हर तरह के सुखों का स्वर्ग नसीब होगा और किसे जहन्नुम रसीद किया जायेगा।"

इतना ही नहीं, अलेक्सेई यह भी अनुभव करने लगा था कि "ये तमाम दिलचस्प पुस्तकें कथानकों की विविधता और परिवेश की भिन्नता के बावजूद एक सी बात कहती हैं। वह यह कि भले लोग हमेशा दुःख उठाते हैं और बुरे लोगों के हाथों उन्हें अनेक मुसीबतों का शिकार होना पड़ता है। बुरे लोग भलों के मुक़ाबले में ज़्यादा मज़े में रहते हैं और उनसे ज़्यादा चतुर होते हैं। और अन्त में किसी चमत्कार के सहारे बुराई की सदा हार और भलाई की जीत होती है। 'प्रेम' से भी, जिसके बारे में पुस्तकों के सभी पुरुष-स्त्रियां सदा एक सी भाषा में बातें करते थे, मेरा जी उकता गया था।"

बालक अलेक्सेई को जहां उपर्युक्त ढंग की रचनायें और उनके लेखक पसन्द नहीं आते थे, वहां वह कुछ अन्य लेखकों को अधिक चाहने लगा था। "गौनकोर्ट, ग्रीनवुड और बल्ज़ाक के उपन्यासों में न तो खल-नायक थे और न उदात्त-नायक। केवल सीधे-सादे लोग थे, इतने सजीव कि देखकर अचरज होता। वे इस बात में कोई सन्देह नहीं छोड़ते कि उन्होंने जो कुछ कहा या किया, वह सब सचमुच ठीक उसी रूप में कहा या किया गया होगा, और ठीक इसी रूप में उसे कहा या किया जा सकता है, अन्य किसी रूप में नहीं... स्यू और ह्यूगो मुझे इतने पसन्द नहीं आये जितने कि वाल्टर स्काट। मैं ऐसी पुस्तकें चाहता, जिन्हें पढ़कर मेरे हृदय के तार झनझना उठें, मेरा रोम-रोम ख़ुशी से नाच उठे, जो लेखनी के जादूगर बल्ज़ाक की पुस्तकों की भांति हों..."

चीनी गुड़िया जैसी लगनेवाली कटर की इस बीवी ने यदि किताबें दे-देकर अलेक्सेई को पश्चिमी, विशेषतः फ़्रांसीसी गद्य साहित्य से अच्छी तरह परिचित होने की सम्भावना दी, तो घर के निचले हिस्से में आ बसनेवाली काली आंखोंवाली एक सुन्दर, युवा महिला ने, जिसे अलेक्सेई ने 'रानी मार्गो' का नाम दिया था, उसमें रूसी साहित्य के प्रति प्रेम जगाया। "तुम्हें रूसी किताबें पढ़नी चाहिये, हमारे अपने रूसी जीवन को

जानना-समझना चाहिये," वह अलेक्सेई को सीख देती। इसी 'रानी मार्गो' ने अलेक्सेई को पुश्किन की कविताओं की किताब दी। "एक ही बार में मैं सारी कवितायें पढ़ गया। मैं एक ऐसी अनबूझ अनुभूति से ओतप्रोत था, जिसका अनुभव अनदेखे सुन्दर स्थल पर पहुंचने पर होता है—सदा यह इच्छा होती है कि तुरन्त ही सारी जगह भाग-भागकर देख ली जाये... पुश्किन की कविताओं ने, उनकी सादगी और संगीत ने मुझपर ऐसा जादू किया कि इसके बाद बहुत देर तक गद्य मुझे अस्वाभाविक लगने लगा और उसे पढ़ना अटपटा लगता। 'रुस्लान और ल्युद्मीला' का कथा-प्रवेश तो नानी की श्रेष्ठतम कहानियों का निचोड़ था।" नानी की बहन, घर की बूढ़ी मालकिन अब भी अलेक्सेई के पुस्तक-प्रेम से झल्लाती और कहती: "देखो तो, किताबों में मस्त हो गया है, शैतान की दुम... दो-चार बेलने पड़ें, तो पता चलेगा..."

"लेकिन पुश्किन की कविताओं के सामने बेलने की भला क्या बिसात? जवाब में मैं पुश्किन की पंक्तियां गुनगुना उठता।"

इसी 'रानी मार्गो' की बदौलत अलेक्सेई बहुत-सा रूसी साहित्य पढ़ पाया। "अक्साकोव की लिखी हुई पुस्तक 'जीवनवृत्त', बढ़िया रूसी उपन्यास 'जंगलों में', चकित कर देनेवाले 'शिकारी के संस्मरण' मैं पढ़ चुका था। ग्रेबेन्को और सोल्लोगूब की कितनी ही पुस्तकें और वेनेवीतिनोव, ओदोयेव्स्की तथा त्यूत्चेव की कवितायें भी मैं पढ़ गया था। इन पुस्तकों ने मेरे हृदय को निखारा और उन खरोंचों तथा दाग़-धब्बों को साफ़ कर दिया जो कटु और मैली-कुचैली वास्तविक्ता से रगड़ खाने के कारण मेरे हृदय पर पड़ गये थे। अच्छी किताबों का महत्त्व, उनका मूल्य मैं अब समझता था और जानता था कि मेरे लिये उनका होना कितना ज़रूरी है। उन्हें मैं पढ़ता और एक अडिग विश्वास से मेरा हृदय भर जाता—मुझे लगता कि दुनिया में मैं अकेला नहीं हूं और, देर या सबेर, मैं अपना रास्ता खोज ही लूंगा।"

तो किताबों ने बालक अलेक्सेई को जीवन से निराश नहीं होने दिया, उसे हिम्मत नहीं हारने दी।

नानी की बहन के यहां से काम छोड़कर अलेक्सेई ने फिर से जहाज़ पर नौकरी कर ली। इस बार बड़े, तेज़ रफ़्तार और हंस की भांति सफ़ेद 'पेर्म' जहाज़ पर उसने किचन ब्वाय के रूप में काम करना शुरू किया। उसे बावर्चियों का हाथ बंटाना होता था और वेतन सात रूबल महीना

था। इस जहाज़ पर भी उसे तरह-तरह के अनुभव हुए, बहुत-से लोगों से वास्ता पड़ा और भट्ठी में कोयला झोंकनेवाले याकोव शूमोव से उसकी विशेषतः गहरी छनी। अलेक्सेई उसे अक्सर कवितायें और पढ़े हुए क़िस्से-कहानियां सुनाया करता था, जिन्हें अपने ढंग से तोड़-मरोड़ और बदल देता था। पतझर के दिन बीतने पर जब जहाज़ चलने बन्द हो गये, तो अलेक्सेई ने देव-प्रतिमाओं को संवारने-सुधारने और रंगनेवाली वर्कशॉप में काम सीखने के लिये नौकरी कर ली। वर्कशॉप की दुकान पर जहां देव-प्रतिमाओं को बेचा जाता था, उसे कारिन्दे का हाथ बंटाना और दुकान को झाड़ने-बुहारने का काम भी करना पड़ता था। यहां भी उसे अनेक नये अनुभव पाने का अवसर मिला। उसने देखा कि कैसे तरह-तरह के सन्तों की प्रतिमाओं के साथ उनके विशेष चमत्कारी गुणों को जोड़ा जाता था, कैसे देहातियों को धोखा दिया जाता था। उसने यह भी देखा कि वर्कशॉप में काम करनेवाले कारीगर किस तरह का जीवन बिताते थे। उनके ऊब भरे जीवन में कुछ रस पैदा करने के लिये वह उन्हें पुस्तकें पढ़कर सुनाता। प्रसिद्ध रूसी कवि लेर्मोन्तोव की कविताओं का स्वयं अलेक्सेई और वर्कशॉप के कारीगरों पर बहुत प्रभाव पड़ा था। "कविता भी कितनी शक्तिशाली चीज़ होती है और किस हद तक वह लोगों पर असर डाल सकती है, यह मैंने इस पुस्तक को पढ़ने के बाद बहुत ही सजीव रूप से जाना... मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैंने लेर्मोन्तोव की 'दानव' शीर्षकवाली लम्बी कविता पढ़नी शुरू की, तो... सारी वर्कशॉप मानो भारी करवट ले रही थी, जैसे कि कोई शक्तिशाली चुम्बक लोगों को मेरी ओर खींच रहा था।" इसी वर्कशॉप में उदास लोगों का जी हल्का करने के लिये अलेक्सेई एक कारीगर – पावेल – के साथ मिलकर अभिनय करता। "रंग-रोगन और काजल से हम अपने चेहरों को पोतते, सन की दाढ़ी और मूंछ लगाते, अपनी सूझ-बूझ के अनुसार तरह-तरह का हास्य-अभिनय करते और ऊब के विरुद्ध वीरतापूर्ण संघर्ष करते हुए लोगों को हंसने को बाध्य करते।" इसी वर्कशॉप में काम करने के समय कारीगरों ने अलेक्सेई का तेरहवां जन्मदिन मनाया। उस समय जिख़रेव नाम के एक कारीगर ने भाषण करते हुए कहा –

"अभी तू क्या है, कुल तेरह बरस की उम्र है तेरी। न तेरे मां है न बाप। फिर भी मैं, उम्र में तुझसे चार गुना बड़ा होने पर भी, तेरी तारीफ़ करता हूं। जानता है क्यों? इसलिये कि इतनी कच्ची उम्र होने

पर भी तूने जीवन से मुंह नहीं मोड़ा, सीधे तन कर उसका सामना किया। और ऐसा ही होना चाहिये – हमेशा आंखें खोलकर जीवन का सामना करो!"

कारीगर जिख़रेव के अलेक्सेई के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचार सोलह आने सही थे। इतनी छोटी-सी उम्र में इतना कुछ देखने-जानने और कटु अनुभवों के बावजूद भी वह डटकर जीवन से लोहा लेता रहा। यह सचमुच ही बड़ी प्रशंसनीय बात थी। इस वर्कशॉप और दुकान के कामों में अलेक्सेई का मन नहीं लगता था। एक बार तो फ़ारस भाग जाने का ख़्याल भी उसके दिमाग़ में आया। किन्तु उन्हीं दिनों अपने पुराने नक़्शान-वीस मालिक की उससे फिर भेंट हो गयी। उसने उसे पुनः अपने साथ काम करने के लिये आमन्त्रित किया। बोला: "इस साल मेले के लिये मैंने कोई चालीस हज़ार के ठेके लिये हैं। मैं तुझे बाहर, मेले के मैदान में ही काम दूंगा। एक तरह से तू ओवरसीयर का काम करेगा। जो निर्माण-सामग्री आये, उसे संभालना, इस बात की निगरानी रखना कि हर चीज़ ठीक समय पर सही जगह पहुंच जाये और मज़दूर चोरी-चकारी न करें। क्यों, ठीक रहेगा न? वेतन पांच रूबल महीना और पांच कोपेक भोजन के लिये। घर की स्त्रियों से तेरा कोई वास्ता नहीं होगा। सुबह ही काम पर निकल जायेगा और रात को लौटेगा।" तो इस तरह अलेक्सेई देव-प्रतिमायें रंगने-पोतनेवाला कारीगर न बनकर बढ़इयों, राजगीरों, प्लस्तर करनेवालों और मज़दूरों आदि की निगरानी करने लगा। इन लोगों के रंग-ढंग, तौर-तरीक़ों और सभी तरह की हरकतों से भी अलेक्सेई का अनुभव-जगत विस्तृत हुआ। किताबें पढ़ने का शौक़ भी बढ़ता गया। "घर लौटने पर ख़ूब पुस्तकें पढ़ता। 'रानी मार्गो' वाले फ़्लैट में अब एक बड़ा परिवार रहता था। पांच लड़कियां, एक से एक सुन्दर... दो लड़के थे जो स्कूल में पढ़ते थे... ये सब मुझे पढ़ने को ख़ूब पुस्तकें देते। तुर्गेनेव को तो जैसे मैं एक सांस में पढ़ गया। उसकी शैली अद्भुत है – एकदम सादगी लिये, हर बात साफ़-साफ़ समझ में आनेवाली, शरद् की हवा की भांति स्वच्छ और पारदर्शी। ऐसे ही उसके पात्र थे – निर्मल और पवित्र... रूसी पुस्तकें बड़ी अच्छी मालूम पड़तीं, बड़े चाव से उन्हें पढ़ता... गोगोल कृत 'मृत आत्मायें' पढ़ी, मगर बेमन से... 'मृत आत्मायें', 'मुर्दा घर', 'तीन मौतें', 'ज़िन्दा लाश' – ये सभी पुस्तकें एक ही थैली के चट्टे-बट्टे मालूम होतीं और उनके नामों को देखकर ही उनकी ओर से मेरा मन फिर जाता... लेकिन डिकेन्स और वाल्टर स्काट के उपन्यास मैं बड़े चाव से

पढ़ता। उनकी पुस्तकों को मैं दो-दो और तीन-तीन बार पढ़ता और हर बार ख़ुशी से छलछला उठता।" अलेक्सेई को काम तो यहां भी बेहद करना पड़ता। "मालिक मुझे पांच रूबल महीना देता और उनके बदले में मेरी जान निचोड़ने की ताक में रहता..." फिर भी शामों को अलेक्सेई अन्य कई लड़के-लड़कियों के साथ, जो उम्र में उससे बड़े थे, ओसारे पर जा बैठता, जो किताबों, स्कूल और शिक्षकों की बातें करते, लड़कियों की चर्चा करते, कभी एक तो कभी दूसरी लड़की के प्रेमचक्र में पड़ते। वे कवितायें लिखना चाहते और इसके लिये अक्सर अलेक्सेई के पास आते। "मैं बड़े शौक़ से तुकबन्दियों पर हाथ आज़माता। मैं तुक जोड़ने में दक्ष था, गीत की कड़ियां अपने आप गुंथ जातीं, लेकिन न जाने क्यों, मेरी कवितायें हमेशा हास्य-रस की रचनायें बन जातीं। ज़्यादातर कवितायें एक बड़े अफ़सर प्तीत्सिन की बेटी को लक्ष्य कर लिखी या लिखाई जातीं। मैं अदबदाकर किसी सब्ज़ी से—आम तौर पर प्याज़ से उसकी तुलना करता।"

तो इस तरह तेरह बरस की उम्र में अलेक्सेई तुकबन्दियां करने लगा था, जो बाद में उसके कवि के रूप में सामने आने में सहायक हुईं, यद्यपि उसने कविता के नहीं, कहानियों-उपन्यासों और नाटकों के क्षेत्र में ही विश्व-ख्याति प्राप्त की। इसी उम्र में उसने पहला प्रेम करने की भी कोशिश की। "अन्य किसी से पीछे न रहने की होड़ में मैं भी प्तीत्सिन की बेटी से प्रेम करने लगा। यह तो याद नहीं पड़ता कि मैं अपने प्रेम को किस तरह उसके सामने व्यक्त करता था, लेकिन इस प्रेमचक्र का अन्त दुखद ढंग से हुआ। एक दिन मैंने उससे कहा कि चलो, ज़्वेज़्दिन कुण्ड पर चलें। कुण्ड के बंद और गन्दे पानी पर एक तख़्ता तैर रहा था। तय किया कि उसी पर कुण्ड की सैर की जायेगी। लड़की इसके लिये तैयार हो गयी। मैं तख़्ते को खींचकर किनारे पर ले आया और उसपर खड़ा हो गया। तख़्ता काफ़ी मज़बूत था और मज़े से मेरा बोझ सम्भाल सकता था। लेकिन लड़की ने, जो बेल-बूटों वाली लेस और फ़ीतों से सजी हुई गुड़िया जैसी लग रही थी, जब तख़्ते के दूसरे सिरे पर पांव रखा और मैंने बड़ी शान से एक डंडे के सहारे तख़्ते को किनारे से हटाया, तो कमबख़्त तख़्ता धचका खा गया और वह कुण्ड में जा गिरी। मैं भी एक सच्चे प्रेमी की भांति उसके साथ ही कूदा और पलक झपकते में उसे पानी से बाहर निकाल लाया। लेकिन

भय और पानी की हरी काई ने लिपटकर उसे बिल्कुल चूं-चूं का मुरब्बा बना दिया था और उसके सारे सौन्दर्य को बिगाड़ डाला था।

"कीचड़ में लथपथ उसने अपना छोटा-सा घूंसा ताना और चिल्लायी – 'तुमने जान-बूझकर मुझे पानी में धक्का दिया है!'

"मैंने बहुतेरी माफ़ी मांगी, लेकिन उसपर कोई असर नहीं हुआ और वह मेरी दुश्मन हो गयी!"

इस तरह मज़दूरों, राजगीरों, बढ़इयों आदि की निगरानी करते हुए तीन साल बीत गये और अलेक्सेई सोलह साल का हो गया। उस वक़्त की उसकी मानसिक स्थिति कुछ ऐसी थी –

"मैंने अभी सोलहवें साल में ही पांव रखा था, लेकिन कभी-कभी ऐसा मालूम होता मानो मैं काफ़ी बूढ़ा हो गया हूं। जीवन में इतना कुछ मैंने देखा और भुगता था, इतना कुछ पढ़ा और बेचैनी से सोचा-विचारा था कि मुझे अपना अन्तर भारी मालूम होता था। मेरे दिमाग़ का कोठा उस अंधे गोदाम की भांति था जिसमें दुनिया भर की चीज़ें भरी थीं, जिन्हें छांटने और क़रीने से रखने की न तो मुझ में सकत थी और न योग्यता ही... छापों का बोझ और बहुलता स्थिरता प्रदान करने के बजाय मुझे और भी विचलित कर देती और मैं उसी प्रकार डोलने तथा छपाके खाने लगता जैसे धचकोले लगने पर पात्र में पानी हिलता और छपछपाता है... रोने-झींकने और शिकवा-शिकायत करने, दुःख-दर्द का गाना गाने से मुझे नफ़रत थी और बर्बरता के – ख़ून-ख़राबे, मार-पीट, यहां तक कि ज़बानी गाली-गलौज के दृश्य भी मुझे सहज ही भन्ना देते, हृदय में निर्मम क्रोध की आग भड़क उठती, मैं जंगली जन्तु की भांति मरने-मारने को तैयार हो जाता और बहुधा अपने किये पर बुरी तरह पछताता...

"ऐसा मालूम होता था मानो मेरे भीतर दो जीव निवास करते हों – एक वह जो ज़रूरत से ज्यादा गन्दगी और घिनौनेपन में से गुज़रने के बाद अब दब्बू हो गया था... वह लोगों से दूर एक शान्त और अवकाशप्राप्त जीवन बिताना चाहता था... दूसरे जीव के रोम-रोम में समझ और सचाई से भरी पुस्तकों की पवित्र भावना बसी थी... वह ज़रा-सा भी उकसावा मिलने पर फ़्रांसीसी उपन्यासों के वीर नायकों की भांति अपनी तलवार म्यान से निकालता और टूट पड़ने की मुद्रा में तनकर खड़ा हो जाता।"

इसी तरह की मानसिक उथल-पुथल और बेचैनी की स्थिति में अलेक्सेई यह अनुभव करने लगा कि उसे ज़रूर कुछ न कुछ करना चाहिये, नहीं

तो सारी ज़िन्दगी बेकार हो जायेगी। उसका मन कहता था कि उसे किसी न किसी तरह पढ़ना चाहिये, तालीम हासिल करनी चाहिये। इसीलिये दिल में दबी-घुटी सी यह गुप्त आशा संजोये हुए कि कज़ान पहुंचने पर पढ़ने का कोई रास्ता निकल ही आयेगा, वह उसी साल यानी १८८४ के शरद के दिनों में कज़ान के लिये रवाना हो गया।

"विश्वविद्यालय में पढ़ने की सूझ मुझे हाई स्कूल में पढ़नेवाले एक विद्यार्थी ने दी... मुझे अक्सर बग़ल में किताब दबाये देख उसे कुतूहल हुआ और एक दिन हमारी जान-पहचान हुई। जान-पहचान के कुछ समय बाद ही उसने कहना शुरू किया: 'तुम पढ़ो, तो बहुत तेज़ निकलो।' उसका कहना था: 'तुम्हारा जन्म विज्ञान का भण्डार भरने के लिये हुआ है।'" अलेक्सेई पेशकोव से इस तरह की बातें अन्य लोगों ने भी कही थीं और स्वयं उसका अपना मन भी उच्च शिक्षा पाने के लिये इतना अधिक लालायित था कि "यदि कोई मुझ से कहता: 'विश्वविद्यालय में तुम्हारा दाख़िला हो जायेगा, पर इसके लिये हर इतवार को तुम्हें निकोलायेव्स्काया चौक में बेंत खानी होगी' तो मैं इसके लिये भी तैयार हो जाता।" किन्तु केवल इच्छा होने से ही तो कुछ नहीं हो जाता। जीवन के अन्य सभी आराम और सुविधायें पाने की भांति उच्च शिक्षा पाने के लिये भी पैसे की ज़रूरत थी। अलेक्सेई के पास तो वह बिल्कुल नहीं था। इसलिये "मैं समझ गया कि विश्वविद्यालय की पढ़ाई मेरे लिये सपना है।" पेट भरने और भूख की ज्वाला से बचने के लिये वह वोल्गा की गोदियों में पन्द्रह-बीस कोपेक की मजूरी करता और यदि वहां कुलियों, बेकारों और उचक्कों से सम्पर्क के अनुभव प्राप्त करता रहा, तो साथ ही कुछ समय बाद विश्वविद्यालय के ग़रीब तथा क्रांतिकारी विचार रखनेवाले विद्यार्थियों के साथ भी उसका नाता जुड़ गया। इनमें से एक का नाम गुरी प्लेतन्योव था। उसी ने अलेक्सेई को अपने साथ रहने के लिये आमन्त्रित किया और इस तरह वह "अजीब मनोरंजक और गन्दे 'मरुसोव्का' में रहने लगा, जो एक बड़ी-सी ख़स्ताहाल इमारत थी, जिस पर भूखे छात्रों और वेश्याओं तथा अपनी जीवन-लीला लगभग समाप्त कर चुके कुछ अजीब-से लोगों ने सम्भवतः ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया था।" अलेक्सेई को इस मकान में रहनेवाले अजीब-अजीब लोगों के अजीब अनुभव हुए और यहीं उसने पहली बार गुप्त राजनीतिक कार्य में भाग लिया। इस घर में रहनेवाले दो आदमी गिरफ़्तार कर लिये गये और फिर पुलिस

इस घर पर छापा मारकर एक अन्य व्यक्ति को पकड़ ले गयी। अलेक्सेई के मित्र गूरी प्लेतन्योव ने ही उसे यह गुप्त सूचना देने के लिये भेजते हुए कहा: "सम्भल कर जाना। शायद वहां ख़ुफ़िया पुलिसवाले हों... मैं अद्मिराल्तेय्स्काया स्लोबोदा की ओर उड़ चला। गुप्त काम में साझीदार वनने से मुझे बड़ी ख़ुशी हो रही थी।" तो अलेक्सेई के लिये गुप्त राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की जो शुरुआत इस पहले अनुभव से हुई, उसका सिलसिला आगे बहुत समय तक चलता रहा जिसका ज़ारशाही की समाप्ति तथा १९१७ की महान अक्तूबर क्रान्ति के बाद ही अन्त हुआ। अलेक्सेई पेशकोव नरोदवादी विचारधारा रखनेवाले विद्यार्थियों के अध्ययन-मण्डल में भाग लेने लगा, जो अन्द्रेई देरेन्कोव की दुकान के पीछे वाले अंधेरे कमरे में इकट्ठे हुआ करते थे। "अन्द्रेई देरेन्कोव से मेरा परिचय किसने कराया, यह मुझे याद नहीं। उसकी छोटी-सी परचून की दुकान थी... उसके पास दुर्लभ और ग़ैरक़ानूनी किताबों की एक लाइब्रेरी थी, जो कज़ान में सर्वश्रेष्ठ थी। शहर भर के कालेजों के विद्यार्थी और क्रान्तिकारी विचारों के अन्य लोग उन पुस्तकों को पढ़ते थे... सारा घर उनके शोर-गुल और बहस-मुबाहिसों से गूंजा करता था... वे मोटी-मोटी किताबें कांख तले दबाये आते, उनके पृष्ठों पर उंगलियां रखते, एक-दूसरे से गरज-गरजकर बातें करते हुए उन सत्यों पर ज़ोर देते, जो उन्हें पसन्द आते थे... वे मुझे यों देखते, जैसे कोई बढ़ई ऐसी लकड़ी के टुकड़े को देखता है, जिससे कोई असाधारण वस्तु बनायी जा सकती है... मेरा परिचय कराते हुए मुझे 'गुदड़ी का लाल' या 'जनता का पूत' कहते, जो मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं अपने को जीवन का सौतेला पूत महसूस करता था... मेरे विद्यार्थी-बन्धु मेरे साथ गुरु जैसी पूरी सख़्ती बरतते थे।" किन्तु अलेक्सेई पेशकोव इन विद्यार्थियों के राजनीतिक विचारों और जनता यानी आम किसानों में उनकी आस्था तथा उनकी जागृति के आधार पर क्रान्ति के दृष्टिकोण को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता था—"उनके लिये जनता बुद्धि, सहृदयता एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य का मूर्त्त रूप थी... ऐसी जनता से मैं अपरिचित था। वे बढ़इयों, गोदी मज़दूरों और राज-मिस्त्रियों की अमूर्त्त समष्टि के रूप में जनता की चर्चा करते थे और अपने को उससे नीचे मानते थे। किन्तु मुझे लगता कि ख़ुद यही लोग सौन्दर्य और बुद्धि के मूर्त्त रूप हैं... और वे मानव प्रेम के नये नियमों के अनुसार अधिक स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन का नवनिर्माण करना चाहते हैं... जनता को

पूजनेवालों की इस जमात की बातें मेरे हृदय पर ताज़गी देनेवाली वर्षा की शीतल बूंदों का काम करती थीं। देहातों के दुखी जीवन एवं किसानों के कष्टों के बारे में सीधी-सादी किताबों ने मेरी भावना को पुष्ट किया।" इस तरह अलेक्सेई पेशकोव कज़ान विश्वविद्यालय में नहीं, बल्कि एक ओर तो अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के लिये साधारण लोगों और दूसरी ओर नरोदवादी अध्ययन-मण्डलों के सदस्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के फल-स्वरूप जीवन के व्यावहारिक विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाता रहा। चूंकि इस समय के रूस में नरोदवाद ही मुख्य राजनीतिक विचारधारा थी और मार्क्सवादी मण्डल इस विचारधारा का विरोध करते हुए अपना स्थान बनाने ही लगे थे, इसलिये अलेक्सेई पेशकोव (जो नरोदवादियों के विचारों को पूरी तरह स्वीकार न करते हुए भी अपने लिये कोई दूसरा रास्ता नहीं देख सकता था, क्योंकि ऐसा रास्ता दिखानेवाले बहुत कम थे और ख़ुद उसकी राजनीतिक चेतना बड़ी सीमित थी) नरोदवादियों के मण्डलों और उनकी राजनीतिक गतिविधियों से ही सम्बन्धित रहा। केवल एक बार ही कज़ान मार्क्सवादी अध्ययन-मण्डल के संगठनकर्त्ता फ़ेदोसेयेव से उसकी भेंट हो पायी और उन दोनों की बातचीत और फिर मिलने के फ़ेदोसेयेव द्वारा दिये गये वचन से अलेक्सेई के सामने एक नये राजनीतिक क्षितिज के उभरने की सम्भावना पैदा हुई, किन्तु वह भेंट हो न पाई और इसलिये कज़ान में बिताये गये चार सालों (१८८४–१८८८) के दौरान उसे नरोदवाद की ही शिक्षा मिलती रही और १८८८ में तो वह नरोदवादी कार्यकर्त्ता रोमास के साथ क्रास्नोवीदोवो गांव में नरोदवादी प्रचार-कार्य भी करता रहा। किन्तु गांव और किसानों का जो आदर्शवादी रूप नरोदवादी प्रस्तुत करते थे, क्रास्नोवीदोवो में घटी घटनाओं ने (जहां अलेक्सेई की मुश्किल से जान बची) उसके सन्देहों-शंकाओं को अधिक सबल बनाया और नरोद-वाद में उसकी आस्था की नींव को हिला दिया।

कज़ान में बिताये गये चार साल अलेक्सेई की राजनीतिक चेतना की दृष्टि से ही नहीं, जीवन के कुछ अन्य पक्षों की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व रखते हैं। इन्हीं वर्षों के दौरान उसने गोदी-मज़दूर के तौर पर काम करने के अलावा वसीली सेम्योनोव की बेकरी और फिर देरेन्कोव की बेकरी में भी काम किया। सेम्योनोव की बेकरी में उसे जो अनुभव हुए, बाद में उनके आधार पर कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियां लिखी गयीं। "अपने जीवन के इस अध्याय का मैंने 'मालिक', 'कोनोवालोव' और 'छब्बीस

श्रौर एक लड़की' में वर्णन किया है। बड़ी कमबख़्ती का जीवन था वह! लेकिन अनुभवों से भरा हुआ।" अलेक्सेई के कज़ान-वास की अवधि की अन्य दो घटनायें थीं—मरीया देरेन्कोवा के प्रति पहले निराश प्रेम की पीड़ा की अनुभूति और आत्म-हत्या की कोशिश। ऐसी कोशिश उसने १९ वर्ष की आयु में, २ दिसम्बर १८८७ को की। वह नौजवान, जो जीवन की बहुत ही कठिन चुनौतियां स्वीकार कर उनकी कलाई मरोड़ चुका था, उस पर भी निराशा, ऊब और एकाकीपन हावी हो गया और उसने आत्म-हत्या का प्रयास किया। उसे इस स्थिति तक ले जानेवाले कई कारण थे, जिनमें नानी की दुखद मृत्यु, मरीया देरेन्कोवा के प्रति प्रेम में निराशा और सेम्योनोव की बेकरी के मज़दूरों (जिनमें वह राजनीतिक चेतना लाने की कोशिश करता रहा था) का यह निर्णय कि वे विद्यार्थियों को "लोहे के डंडों" से मारेंगे, उल्लेखनीय हैं। अन्तिम कारण ने उसे बहुत ही बुरी तरह परेशान कर डाला। "मैं वहां से (बेकरी के मज़दूरों के बीच से) उठकर चला गया। उस वक़्त मुझे ऐसा लग रहा था जैसे वर्षों का बीमार हूं। हृदय में ऐसी टीस उठ रही थी, जो दबाये न दबती थी और जो मानो मुझे निगल जाना चाहती थी... काबान नदी के तट पर मैं बड़ी देर तक बैठा रहा, नदी के काले जल में ढेले फेंकता रहा। एक ही विचार, एक ही रूप में, घिरनी की तरह, मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था—'क्या करूं?'

"दिसम्बर में मैंने आत्म-हत्या कर लेने का निश्चय किया। मैंने 'मकार के जीवन की एक घटना' कहानी में इस फ़ैसले की पृष्ठभूमि का वर्णन करने का प्रयत्न किया है... मैंने बाज़ार से एक पिस्तौल ख़रीदी जिसमें चार गोलियां थीं। एक गोली मैंने अपनी छाती में दाग दी। मैंने दिल को निशाना बनाया था, पर गोली फेफड़े में लगी। एक महीने बाद मैं फिर बेकरी में अपने काम पर लौट आया—झेंपा हुआ, शर्मिन्दा।"

स्पष्ट है कि अलेक्सेई अब यहां से जाना चाहता था और इसके लिये संयोग भी बन गया। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, नरोदवादी कार्य-कर्त्ता रोमास ने उससे अपने साथ क्रास्नोवीदोवो गांव चलने को कहा। वहां पर गांव और किसानों-ज़मींदारों तथा पुलिस कर्मचारियों की हरकतों के कटु अनुभव पाने के बाद अलेक्सेई के घुमक्कड़ जीवन का दौर शुरू हुआ, जिसमें उसने तरह-तरह के पापड़ बेले, नये अनुभव बटोरे और बाद में 'रूस के आर-पार' संग्रह की अनेक सुन्दर कहानियों में उनका बड़ा

सजीव वर्णन किया है। इस शृंखला की कहानियों में 'इन्सान पैदा हुआ', 'विश्वासघात', 'खड्ड में', 'आ रहे हैं', 'शामत्वे के यहां शाम', 'पुस्तक' आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी कहानियां आत्म-कथात्मक हैं और अलेक्सेई के १८८९ से १८९२ तक के घुमक्कड़ जीवन में प्राप्त अनुभवों पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती हैं। इस अवधि में अलेक्सेई ने कास्पियन सागर के तट पर काल्मिक मछुओं की बस्ती में मछियारे का काम किया, कूत्या नामक छोटे-से रेलवे स्टेशन पर चौकीदारी की, यहीं 'आत्म-शिक्षा' मण्डल में भाग लेने के फलस्वरूप पुलिसवाले उसपर कड़ी नज़र रखने लगे, १८८९ के इसी वर्ष में उसे "अपराधपूर्ण राजनीतिक कार्रवाइयों" में भाग लेने के कारण पहली बार गिरफ़्तार किया गया और छूटने के बाद पुलिस उसपर "गुप्त ढंग से" नज़र रखने लगी। अलेक्सेई का घूमना जारी रहा, उसने चेरकेसी गांव में खेत-मज़दूर का काम किया, उक्रइना में यहूदियों के यहां नौकरी की, रसोइये और माल ढोनेवाले मज़दूर का भी काम किया। १८९१ के सितम्बर महीने में उसे फिर गिरफ़्तार किया गया, किन्तु कोई विशेष प्रमाण न मिलने के कारण छोड़ देना पड़ा। इसी वर्ष में एक युवा नारी का पक्ष लेने के कारण उसे इतना पीटा गया कि वह मरते-मरते बचा। इस युवा नारी पर अत्याचार की घटना का बाद में 'विश्वासघात' कहानी में वर्णन किया गया। इसी तरह रूस के विभिन्न भागों में घूमता-घामता और जहां-तहां काम करता हुआ वह काकेशिया पहुंचा, जहां सित-म्बर १८९२ में उसने एक जवान किसान औरत का बच्चा जनवाया, जिसका 'इन्सान पैदा हुआ' कहानी में बड़ा प्रभावपूर्ण चित्रण है। इसी घटना के कुछ समय बाद जब वह काकेशिया की राजधानी तिफ़लिस (अब त्बिलीसी) में पहुंचा और वहां रेलवे मरम्मत शाप में काम करते हुए पुराने क्रांतिकारी अ० म० काल्यूज्नी के साथ रहने लगा, तो उसके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना घटी। अलेक्सेई पेशकोव अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों की काल्यूज्नी से चर्चा करता रहता था और काल्यूज्नी उनसे इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसे यह सब लिखने के लिये प्रेरित किया। इसके पहले वह कुछ कवितायें रच चुका था, जिनमें से 'बूढ़े बलूत वृक्ष का गीत' उसे बहुत प्रिय थी, किन्तु कवि या लेखक बन सकने की अपनी क्षमता में उसे विश्वास नहीं था। काल्यूज्नी की प्रेरणा से उसने अपनी पहली कहानी 'मकर चुद्रा' लिखी, जो स्थानीय पत्रिका में छपी और इसके लेखक के रूप में 'मक्सिम गोर्की' (तिक्त या कटु) नाम छपा।

इस तरह रूसी और विश्व-साहित्य में उस महान लेखक का जन्म हुआ, जिसने अमरत्व प्राप्त किया और नयी तथा सशक्त साहित्यिक परम्परा की नींव रखी।

चौबीस वर्ष की आयु में लेखक के रूप में जीवन आरम्भ करनेवाले मक्सिम गोर्की ने 'समारस्काया गज़ेता' ('समारा का समाचारपत्र') के सम्पादकीय विभाग में काम किया, 'इयेगुदील ह्लामीदा' के नाम से व्यंग्य-पूर्ण शब्द-चित्र लिखे, फिर 'निज्नेगोरोद्स्की लिस्तोक' ('नीज्नी नोव्गोरोद का पत्र') के सम्पादकीय विभाग में काम किया। इन वर्षों में मक्सिम गोर्की बड़ी मेहनत करते रहे और इस मेहनत, पहले के अभावपूर्ण और घुमन्तु जीवन तथा गोली लगने से छलनी हुए फेफड़े के कारण उन्हें तपेदिक ने धर दबाया। स्वास्थ्य सुधार के लिये वह क्रीमिया और उक्रइना गये और नीज्नी नोव्गोरोद लौटकर उन्होंने अपने पहले दो कहानी-संग्रह तैयार करके १८९८ में प्रकाशित करवाये। इनके प्रकाशित होते ही उनकी गणना लेव तोलस्तोय और चेख़ोव के बराबर होने लगी। लेखक के रूप में गोर्की की ख्याति बढ़ती जा रही थी, उनका क्रांतिकारी पथ भी अधिक स्पष्ट होता जा रहा था, वह नरोदवादियों से अधिकाधिक दूर हटते और धीरे-धीरे मार्क्सवाद की ओर बढ़ते जा रहे थे, यद्यपि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक के उनके सृजन में मार्क्सवादी विचारधारा की कोई छाप दिखाई नहीं देती। 'चेल्काश' कहानी अपवाद है। साथ ही ज़ार की पुलिस भी उनपर अधिक कड़ी नज़र रखने लगी थी। तिफ़लिस के एक क्रांतिकारी मज़दूर की गिरफ़्तारी पर उसके घर की तलाशी में गोर्की द्वारा हस्ताक्षरित उनका चित्र मिला, इसलिये पुलिस गोर्की को भी गिरफ़्तार करके तिफ़लिस ले गयी। किन्तु गोर्की के विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर उन्हें छोड़ना पड़ा और वह नीज्नी नोव्गोरोद वापस आ गये। १९०० के अन्त में गोर्की का सोर्मोवो के मज़दूरों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ, जो अपनी गुप्त बैठकों में लेनिन का 'ईस्क्रा' ('चिंगारी') अख़बार पढ़ा करते थे। इस तरह वह मज़दूर आन्दोलन और मार्क्सवाद के अधिक निकट हुए और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस में आनेवाली क्रान्तिकारी लहर ने गोर्की को 'क्रान्ति का अग्रदूत' बनने की प्रेरणा दी और १९०१ में उन्होंने अपने 'करवट' ('कूपमण्डूक') नाटक में एक उदात्त मज़दूर पात्र नील का सृजन किया। इससे पहले उनके 'फ़ोमा गोर्देयेव' और 'वे तीन' उपन्यास भी प्रसिद्ध हो गये थे। १९०१ में ही गोर्की ने पीटर्सबर्ग की पहली यात्रा

की ग्रौर लौटते हुए मूल पाठ से ग्रनेक प्रतियां बनानेवाली मशीन भी साथ लेते ग्राये। पुलिस को इस बात का पता चल गया ग्रौर गोर्की पर राजद्रोह का ग्रपराध लगाकर उन्हें नीज्नी नोव्गोरोद की जेल में बन्द कर दिया गया। समूचे रूस में गोर्की के पक्ष में ग्रावाज़ उठी, तोलस्तोय ने भी गोर्की को मुक्त करने की मांग की। सरकार को उन्हें मुक्त करना पड़ा, किन्तु उनपर कड़ी नज़र रखी जाने लगी। ग्रन्त में उन्हें एक दूरस्थ गांव में निर्वासित कर दिया गया। वहां उनका तपेदिक का रोग उग्र हो गया, डाक्टरों ने चिकित्सा के लिये दक्षिण जाने को कहा ग्रौर सरकार को विवश होकर उन्हें ग्रनुमति देनी पड़ी। १६०२ में गोर्की जब क्रीमिया में इलाज करवा रहे थे, तो रूस की विज्ञान ग्रकादमी ने उन्हें ग्रपना सदस्य चुन लिया। किन्तु ज़ार ने स्वयं हस्तक्षेप करके इस सदस्यता को रद्द करवा दिया ग्रौर इसी बात के विरोध में चेख़ोव ग्रौर कोरोलेन्को ने भी ग्रकादमी की सदस्यता को त्याग दिया।

१६०५ का वर्ष गोर्की ग्रौर सारे रूस के जीवन के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। ज़ार पिता में ग्रास्था रखते हुए साधारण रूसी लोग ६ जनवरी को बीवी-बच्चों समेत लाखों की संख्या में उसे ग्रपनी याचिका देने के लिये शिशिर-प्रासाद की ग्रोर गये, जहां उनका गोलियों से स्वागत हुग्रा। सभी ग्रोर निहत्थे-निर्दोष लोगों के रक्त की नदी-सी बह चली। गोर्की ने बहुत ही क्षुब्ध होकर विश्व-जनता के नाम ज़ार के विरुद्ध एक ग्राह्वान लिखा। इसकी मूल प्रति पुलिस के हाथ में ग्रा गयी ग्रौर गोर्की को गिरफ़्तार कर लिया गया। गोर्की की रिहाई के लिये रूस में ही नहीं, विश्व भर में मांग की जाने लगी। इस तरह उन्हें मुक्ति मिली। १६०५ के मध्य में वह बोल्शेविक पार्टी के विधिवत् सदस्य बन गये, पूरी तरह मार्क्सवादियों का साथ देने लगे ग्रौर उन्होंने बोल्शेविकों के 'नोवाया जीज़न' ('नया जीवन') ग्रौर 'बोर्बा' ('संघर्ष') समाचारपत्रों की स्थापना ग्रौर प्रकाशन में बड़ा सक्रिय योग दिया। राजनीतिक गतिविधियों में बड़े जोश से हिस्सा लेने के साथ-साथ इस वर्ष में उन्होंने पर्याप्त साहित्य-सृजन भी किया। कई ग्रन्य रचनाग्रों के ग्रतिरिक्त इसी वर्ष में उनके 'सूर्य-पुत्र' ग्रौर 'बर्बर' नाटक लिखे गये, जो ग्रभी तक रंगमंच पर खेले जा रहे हैं। इसी वर्ष के दिसम्बर महीने में रूस में सशस्त्र विद्रोह हुग्रा ग्रौर इसका सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र मास्को का क्रास्नाया प्रेस्न्या हलक़ा बना। गोर्की ने, जो उन दिनों मास्को में रहते थे, इस कार्य में बड़ा सक्रिय योग दिया। विद्रोह सफल न

हो सका। ज़ाहिर है कि पुलिस गोर्की को पकड़ना चाहती थी। मित्रों के आग्रह पर वह रूस छोड़कर स्वीडन और डेनमार्क होते हुए जर्मनी पहुंचे, जहां से स्विट्ज़रलैंड और पेरिस गये और फिर अमरीका पहुंचे, जहां छः महीने रहे। गोर्की की इस विदेश-यात्रा का उद्देश्य जहां गिरफ़्तारी से बचना था, वहां रूस की जनता के राजनीतिक संघर्ष का सही स्वरूप प्रस्तुत करना, विदेशी जनमत को इस संघर्ष का पक्षपोषक बनाना, इसके लिये धन एकत्रित करना और पश्चिम की सरकारों द्वारा रूस की ज़ार सरकार को ऋण न देने का प्रचार करना था, क्योंकि इन्हीं ऋणों के बल पर ज़ारशाही रूसी जनता का दमन कर रही थी। १९०६ में विदेशों में दिये गये भाषणों और प्रचार-लेखों की संख्या इतनी अधिक थी कि एक अच्छा ख़ासा पोथा बन सकता है। किन्तु यदि गोर्की ज़ारशाही पर चोटें कर रहे थे, तो ज़ारशाही भी उनपर चोट करने से बाज़ नहीं आई। अमरीका पहुंचने पर लेखकों, बुद्धिजीवियों और मज़दूरों आदि ने गोर्की का भव्य स्वागत किया। किन्तु ज़ार के न्यूयार्क स्थित दूतावास ने गोर्की के विरुद्ध प्रचार करके इस आधार पर उनके लिये होटल के द्वार बन्द करवा दिये कि उन्होंने अपनी दूसरी पत्नी म० फ़० अन्द्रेयेवा (उनकी पहली पत्नी ये० प० पेशकोवा थीं) के साथ गिरजाघर में विधिवत विवाह नहीं किया है। इस तरह की अप्रिय स्थिति के बावजूद गोर्की वहां रहे, उन्होंने अमरीकी जीवन और पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करनेवाले देश की वास्तविक्ता का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया, जिसने उन्हें 'स्वर्ण-राक्षस' जैसी रचना का सृजन और पूंजीवाद के गढ़ का भंडाफोड़ करने की प्रेरणा दी। गोर्की के अमर उपन्यास 'मां' का सृजन-कार्य भी यहीं सम्पन्न हुआ। १९०६ के सितम्बर महीने में गोर्की अमरीका से लौटे और इटली के काप्री द्वीप में आकर रहने लगे। रूस में यह बहुत ही भयानक दमन का समय था और क्रान्तिकारियों में निराशा छायी हुई थी। गोर्की को भी एकाकीपन और उदासी की अनुभूति हो रही थी। तभी १९०७ के आरम्भ में लेनिन ने (जिनके साथ नवम्बर १९०५ में पीटर्सबर्ग में उनकी पहली भेंट हुई थी) गोर्की को रूसी सामाजिक-जनवादियों की पांचवीं कांग्रेस में भाग लेने के लिये लन्दन आमन्त्रित किया। गोर्की ने लेनिन को पहली बार सभा में बोलते सुना और उनकी तर्क-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए। १९०८ में लेनिन काप्री द्वीप में गोर्की के पास कुछ दिन रहे। तभी गोर्की ने अपने जीवन और रूस में अपने घुमक्कड़ जीवन की बहुत-सी घटनायें

लेनिन को सुनायीं। लेनिन ने उन्हें यह सब कुछ लिखने को प्रेरित किया और इसी के परिणामस्वरूप गोर्की ने बाद में अपनी आत्म-कथात्मक त्रयी 'मेरा बचपन', 'जीवन की राहों पर' और 'मेरे विश्वविद्यालय' का सृजन किया। अपने प्रवास के इन वर्षों में गोर्की ने बहुत-सी कहानियां लिखीं, जिनमें 'इटली की कथायें', 'रोमाण्टिक' और 'मोर्दोव्का' कहानियां विशेषत: उल्लेखनीय हैं। १९१३ में ज़ारशाही ने अपनी दमन-नीति का शिकंजा कुछ ढीला किया और गोर्की सात साल के प्रवास-जीवन के बाद रूस लौटे। १९१४ में पहला विश्व-युद्ध छिड़ गया। युद्ध के अगले तीन वर्षों में रूस की आम जनता और मज़दूरों का असन्तोष बढ़ता गया, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से देश की हालत बहुत ख़राब होती जा रही थी। बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मज़दूरों ने ज़ारशाही के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष आरम्भ किया, उन्हें सैनिकों को भी अपने पक्ष में करने में सफलता मिल गयी और इस प्रकार १९१७ के फ़रवरी महीने में ज़ारशाही का अन्त करने-वाली बुर्जुआ क्रान्ति हुई, जिसने आख़िर लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के निर्देशन में महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति का रूप लिया और संसार के पहले समाजवादी राज्य की स्थापना हुई। किन्तु नवोदित सोवियत राज्य को नष्ट करने के लिये विदेशी हस्तक्षेपकारियों और अन्दरूनी प्रतिक्रान्ति-कारियों ने अपना पूरा ज़ोर लगा दिया और प्रथम विश्व-युद्ध से जर्जर हुए रूस को बहुत ही कठिन वर्षों, भूख, महामारियों और विनाशकारी शक्तियों का सामना करना पड़ा। उन कठिन वर्षों में बहुत-से बुद्धिजीवी पथ-भ्रष्ट हो गये, कुछ समय के लिये गोर्की के पांव भी लड़खड़ाये, किन्तु लेनिन के पथ-प्रदर्शन और सहयोग से वह शीघ्र ही सम्भल गये। १९१९–१९२० में गोर्की की योजनानुसार विश्व-साहित्य माला का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसी बीच अत्यधिक तनावपूर्ण और कड़े श्रम का जीवन बिताने के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था, तपेदिक की पुरानी बीमारी फिर से तीव्र रूप में उभर आई थी, इसलिये लेनिन के बहुत ज़ोर देने पर वह फिर से इटली के काप्री द्वीप पर जाकर रहने लगे और १९२८ में (जब उनकी साठवीं जयन्ती सारे सोवियत संघ में बड़े उत्साह से मनायी गयी) रूस लौटे। इन वर्षों के दौरान उन्होंने अपने जीवन की अनेक घटनाओं और विभिन्न लोगों के साथ हुई अपनी भेंटों के संस्मरण लिखे, जिनमें लेखक कोरोलेन्को, कवि येसेनिन, लेनिन-सम्बन्धी पहला शब्द-चित्र (१९२४ में), जिसे उन्होंने बाद में नये सिरे से लिखा और एक बड़े

उपन्यास 'अर्तामोनोव परिवार' (हिन्दी में 'टूटती कड़ियां') का सृजन किया।

गोर्की ने अपना साहित्यिक जीवन १८९२ में आरम्भ किया था और १९३२ में, जब संसार के महानतम लेखकों में उनकी गणना होती थी, उनके साहित्यिक जीवन की चालीसवीं वर्षगांठ मनायी गयी। उसी समय उनके जन्म-नगर नीज्नी नोव्गोरोद को गोर्की नाम दिया गया, गोर्की विश्व-साहित्य संस्थान की स्थापना हुई और मास्को की एक प्रमुख सड़क को गोर्की का नाम दिया गया। उनके जीवन के इस महापर्व के बाद वह लगभग चार साल तक और जीवित रहे। स्वास्थ्य बहुत अच्छा न रहने पर भी गोर्की ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष सोवियत संघ में ही बिताये। इन वर्षों के दौरान उन्होंने अनेक नाटक लिखे और अपनी महानतम साहित्यिक उपलब्धि के रूप में 'क्लिम समगीन की ज़िन्दगी' उपन्यास रचा, जिसका चौथा भाग वह न लिख पाये, यद्यपि केवल यही नहीं, बल्कि वह और भी बहुत कुछ लिखना तथा करना चाहते थे। १ जनवरी १९३६ को ही गोर्की ने रंगमंच के प्रसिद्ध निर्देशक-प्रस्तोता व० इ० नेमिरोविच-दान्चेन्को को अपने पत्र में लिखा था: "चालाक बूढ़े की भांति मैं अपने कार्यों को बढ़ाता जा रहा हूं, ताकि मरने की फ़ुरसत न रहे। अभी बीस वर्ष तक और जीना चाहता हूं। या फिर तो तीन साल ही सही। दो ही सही!" किन्तु मृत्यु ने कम से कम दो साल तक जीवित रहने की उनकी इस चाह को भी पूरा नहीं होने दिया। १ जून १९३६ को गोर्की को फ़्लू ने धर दबाया और १८ दिन तक मृत्यु के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष करने के बाद उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। सारी दुनिया में शोक-सभायें हुईं और उन्हीं दिनों में स्वयं बहुत बीमार होते हुए भी प्रेमचन्द बनारस के 'आज' पत्र के कार्यालय में आयोजित शोक-सभा में गोर्की के सम्बन्ध में अपनी भावनाएं प्रकट करने और श्रद्धांजलि अर्पित करने गये और अपनी पत्नी शिवरानी देवी से हुई बातचीत में उन्होंने कहा: "गोर्की के मरने से मुझे बहुत दुख हुआ। मेरे दिल में यही आ रहा है कि गोर्की की जगह लेनेवाला कोई नहीं रहा।" कितनी गहरी सचाई है इन शब्दों में!

प्रेमचन्द गोर्की से बारह साल छोटे थे यानी उनका जन्म १८८० में हुआ था और इन दोनों महान लेखकों ने एक ही वर्ष यानी १९३६ में इस दुनिया से विदा ली। गोर्की की जीवनी पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। ऐसा करते समय हमने उनकी आत्मकथात्मक त्रयी अर्थात 'मेरा बचपन',

'जीवन की राहों पर' और 'मेरे विश्वविद्यालय' उपन्यासों तथा 'रूस के आर-पार' सम्बन्धी गोर्की की आत्मकथात्मक कहानियों से बहुत-से उद्धरण दिये। ऐसा करने से जहां उनकी जीवनी और सृजन-पथ का विकासक्रम रोचक हो गया (कम से कम हमें ऐसा ही लगता है), वहां उसमें प्रमाणिकता भी आ गयी। प्रेमचन्द की संक्षिप्त जीवन-झांकी प्रस्तुत करते हुए भी इसी मार्ग का अनुकरण वांछनीय प्रतीत होता है। किन्तु गोर्की की भांति प्रेमचन्द ने तीन तो क्या, एक भी आत्मकथात्मक उपन्यास नहीं लिखा। शायद उनका अन्तिम, अधूरा उपन्यास 'मंगल सूत्र' ही ऐसी रचना होता। पर उसे प्रेमचन्द बहुत थोड़ा ही लिख पाये। उन्होंने तो ले-देकर 'जीवन-सार' शीर्षक से संक्षिप्त जीवनी ही लिखी और उसमें भी अपने जीवन और अपने इर्द-गिर्द के वातावरण की न केवल बहुत ही सीमित और सीधी-सादी चर्चा की है, बल्कि झट से पाठक को यह भी कह दिया है: "मेरा जीवन सपाट, समलत मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान नहीं है।" मतलब यह कि एकदम सपाट और समतल मैदान जैसा जीवन! किन्तु क्या वास्तव में ऐसा ही था? क्या यह प्रेमचन्द की चरित्रगत नम्रता ही नहीं थी? यह सही है कि उनका जीवन गोर्की के जीवन की भांति अत्यधिक घटनापूर्ण नहीं था, फिर भी उन्हें क्या गोर्की के समान ही सभी तरह के मीठे-कड़ुए (कड़ुए कहीं अधिक) अनुभव नहीं हुए? निश्चय ही हुए और इस दृष्टि से इन दोनों महान लेखकों की सादृश्यता उल्लेखनीय है (जैसा कि हम आगे देखेंगे) और जिसका प्रेमचन्द की मनोरचना और साहित्य तथा उसके उद्देश्य के प्रति उनके दृष्टिकोण-निर्माण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यहां यह कह देना भी सुसंगत होगा कि यद्यपि प्रेमचन्द ने अलग से अपना विस्तृत जीवन-चरित्र नहीं लिखा, तथापि उनकी अनेक कहानियों, जैसे कि 'होली की छुट्टी', 'रामलीला', 'लाल फ़ीता', 'कज़ाकी', 'सौतेली मां', 'ईदगाह', 'प्रेरणा', 'ढपोरशंख', 'गुल्ली-डंडा', 'आपबीती', 'बड़े भाई साहब', 'रसिक सम्पादक', 'मृत्यु के पीछे' आदि और इसी प्रकार उनके उपन्यासों के कुछ पात्रों के जीवन-अंशों, उनके द्वारा लिखे गये ढेरों पत्रों, लेखों-समालोचनाओं, उनकी पत्नी शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' और उनके सुपुत्र अमृतराय की पुस्तक 'प्रेमचन्द — क़लम का सिपाही' से प्रेमचन्द के जीवन, उनके व्यक्तित्व और साहित्यिक विकासक्रम पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पर्याप्त

प्रकाश पड़ता है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के जीवन की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के लिये इस सारी सामग्री का जहां-तहां उपयोग किया गया है।

जैसे गोर्की का असली नाम अलेक्सेई मक्सीमोविच पेशकोव था, वैसे ही प्रेमचन्द का असली नाम धनपतराय था। पिता के ऐसा नाम रखने के पीछे सम्भवतः यही भावना रही होगी कि वह स्वयं तो जीवन भर ग़रीबी और तंगदस्ती के शिकार रहे, पर बेटा धनपति बने। ताऊ जी तो लाड़ से उसे नवाबराय बुलाते थे। धनपतराय का जन्म बनारस से कोई चार मील की दूरी पर लमही गांव में ३१ जुलाई १८८० को हुआ। उनके पिता अजायबलाल गांव के डाकख़ाने के मुंशी और बहुत ही मामूली हैसियत वाले निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति थे। धनपतराय के जन्म के समय वह कोई २०-२५ रुपये मासिक वेतन पाते थे और ४० रुपये के वेतन तक पहुंचते-पहुंचते उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। धनपतराय की मां का नाम आनन्दी देवी था, जो बहुत ही सुन्दर होने के साथ-साथ बड़े अच्छे और कोमल स्वभाव की महिला थीं। धनपतराय ने अपना रंग-रूप सम्भवतः मां से ही पाया था और यदि रक्त के प्रभाव वाली बात में कोई सचाई हो सकती है, तो आनन्दी देवी के पिता के साथ ही, जो किसी ज़मींदार के कारिन्दा होते हुए भी साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे और जिन्होंने कुछ साहित्य-सृजन भी किया था, भावी लेखक धनपतराय का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। किन्तु जहां तक गांव-देहात और किसानों के जीवन का सम्बन्ध है, जिसका बाद को अपने कृतित्व में भावी लेखक ने इतना सजीव, वास्तविक और विशद वर्णन किया है, वह तो एक तरह से उनकी घुट्टी में ही था। आख़िर तो धनपतराय एक पटवारी का पोता था, खेती-बारी के धंधे से उसका पुश्तैनी नाता था और उसके ताऊ तथा पिता अजायबलाल को डाकख़ाने की मुंशीगीरी भी शायद इसलिये करनी पड़ी कि धनपतराय के दादा द्वारा परिवार के लिये छोड़ी गयी ६६ बीघा ज़मीन में से ६० बीघा परिवार के हाथ से निकल गयी थी और ६ बीघा ज़मीन में एक बड़े परिवार की गुज़र-बसर नहीं हो सकती थी। वैसे उन दिनों कायस्थ जाति के लोगों में (धनपतराय भी इसी जाति का था) उर्दू-फ़ारसी की पढ़ाई के अधिक प्रसार-प्रचार की बदौलत मुंशीगीरी का पेशा ही आम तौर पर अपनाया जाता था। धनपतराय के पिता अधिकतर गांवों, छोटे-छोटे क़स्बों और छोटे नगरों में ही डाकख़ाने की मुंशीगीरी करते रहे, इसलिये बचपन में गांव-देहात के जीवन से धनपतराय का घनिष्ठ सम्बन्ध

बना रहा। इस दृष्टि से अलेक्सेई मक्सीमोविच पेशकोव का बचपन धनपतराय के बचपन से भिन्न रहा। अलेक्सेई के बचपन और किशोरावस्था का ही नहीं, बाद के जीवन का अधिकतर भाग भी नगरों में बीता और इसलिये गांव तथा किसानों के जीवन को वह इतनी निकटता तथा घनिष्ठता से नहीं जान पाया। हां, गांवों, क़स्बों और छोटे नगरों के मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग के मामले में दोनों की जानकारी और अनुभव की सादृश्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आगे चलकर लेखक के रूप में इन दोनों की मनोरचना और कृतित्व पर उनके बाल्यकाल के अनुभूति-क्षेत्र का प्रभाव पड़ा।

तो धनपत लमही गांव में मां-बाप और अन्य परिजन का स्नेह पाता हुआ अपना बचपन बिता रहा था, सभी बच्चों की तरह छोटी-मोटी शरारतें भी करता था, खेल-खेल में कभी किसी साथी का नाक-कान भी घायल कर देता था, दोस्तों के साथ पराये खेतों में से मटर और ऊख आदि तोड़ लेता था, आम भी झाड़ लेता था। इन सब शरारतों के कारण घर पर उलाहने भी आते थे और कभी-कभी पिटाई भी होती थी, फिर भी जीवन में रस तथा आनन्द था। "हाय बचपन, तेरी याद नहीं भूलती! वह कच्चा टूटा घर, वह पुआल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पांवों खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आंखों के सामने घूम रही हैं" ('चोरी' कहानी)। गांव में बिताये जानेवाले बचपन में बेशक यह मस्ती तो थी, पर अभाव और ग़रीबी भी उसमें से झांकते दिखाई देते हैं। बहुत थोड़ा-सा वेतन पानेवाले धनपतराय के पिता, जिन्हें परिवार के अन्य सदस्यों की भी थोड़ी-बहुत माली मदद करनी पड़ती थी, अपनी पत्नी, बेटी सुग्गी, बेटे धनपत और उसके चचेरे भाई का, जो इसी परिवार में रहता था, जैसे-तैसे भरण-पोषण करते थे। किन्तु ग़रीबी और अभाव के जीवन ने तब और भी दुखद और बोझल रूप धारण कर लिया, जब धनपतराय ८ वर्ष की आयु में मातृ स्नेह से वंचित हो गया। पिता ने कुछ महीनों बाद दूसरी शादी कर ली और घर में सौतेली मां आ गयी, जिसे धनपतराय चाची कहता था। माता के स्नेह की कमी और विमाता के व्यवहार के कारण अनुभव होनेवाली पीड़ा ने धनपतराय के मन पर गहरी छाप छोड़ी, जो बाद को उसके कृतित्व में प्रकट हुई—

"बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खि-

लौनों से भी ज़्यादा मादक—जो मां की गोद के सामने संसार की निधि की भी परवाह नहीं करती। मोहन की वह भूख कभी सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज़ की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूंजा करती थी।" कई अन्य रचनाओं में भी यह दर्द कसकता प्रतीत होता है। विशेषकर 'अलग्योझा' और 'घरजमाई' कहानियों में। धनपतराय की भांति अलेक्सेई पेशकोव भी मातृ स्नेह से वंचित रहा था। किन्तु कारण दूसरा था। अलेक्सेई की मां उसे इसलिये प्यार नहीं करती थी कि वह उसे अपने पति यानी अलेक्सेई के पिता की मृत्यु के लिये, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ज़िम्मेदार मानती थी। धनपतराय को यदि विमाता के व्यवहार का कटु अनुभव हुआ, तो अलेक्सेई पेशकोव को सौतेले बाप का, और जिस तरह अलेक्सेई पेशकोव के सिर पर से पिता और फिर मां का साया भी उठ गया था, उसी भांति धनपतराय भी अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले ही पूरी तरह यतीम हो गया था। १८९७ उसके पिता का भी देहान्त हो गया और विमाता तथा दो सौतेले भाइयों का बोझ भी धनपतराय के कमज़ोर कंधों पर आ पड़ा।

यहां अलेक्सेई पेशकोव और धनपतराय के बचपन के बहुत बड़े अन्तर का उल्लेख आवश्यक है। अलेक्सेई के बचपन में पांच वर्ष की आयु से ही नानी के आगमन, अनेक वर्षों तक दोनों की घनिष्ठता, नानी की चिन्ता और स्नेह ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। उसने जहां माता-पिता के स्नेह के अभाव की पूर्ति की, वहां नानी के अक्षय कथा-भण्डार और कहानी कहने की उसकी अद्‌भुत कला ने अलेक्सेई के अन्तर में सोये हुए लेखक को जागृत करने में भी बड़ा योग दिया। धनपतराय इतना सौ-भाग्यशाली नहीं था। उसे ऐसी नानी नहीं मिली। फिर भी उसकी दादी ने, जो उसे बहुत प्यार करती थी, किन्तु जो बहुत समय तक न तो उसके साथ, और न जीवित ही रह सकी, कुछ हद तक यह कार्य पूरा किया। दादी ने उसे बहुत-सी कहानियां सुनायीं। हां, धनपतराय के बचपन में एक अन्य व्यक्ति द्वारा सुनायी गयी कहानियों ने भी बालक की कल्पना-शक्ति को पंख दिये और बुराई तथा अन्याय पर भलाई तथा न्याय की विजय में उसके विश्वास को पुष्ट किया। यह व्यक्ति था कज़ाकी, जो उसी डाकख़ाने का हरकारा था, जिसमें धनपतराय के पिता मुंशी थे।

"मेरी बाल-स्मृतियों में कज़ाकी एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुज़र गये, लेकिन कज़ाकी की मूर्ति अभी तक आंखों के

सामने नाच रही है... कज़ाकी जात का पासी था, बड़ा ही हंसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िन्दादिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता... थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता और कभी कहानियां सुनाता। उसे चोरी और डाके, मारपीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियां याद थीं... उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे।" अलेक्सेई पेशकोव की नानी अकुलीना इवानोव्ना उसे जो क़िस्से-कहानियां सुनाया करती थी, क्या उनका मुख्य सार भी यही नहीं होता था? किन्तु बचपन में सुनी गयी इस तरह की कहानियों से यद्यपि भविष्य में किसी के कहानीकार या क़िस्सागो बनने का बीज-रोपन तो हो सकता है, पर उस बीज के एक बड़ा वृक्ष, कहना चाहिये, वट-वृक्ष बनने के लिये उसे निरन्तर सींचना, उसकी देख-भाल करना और सहेजना भी ज़रूरी होता है। धनपतराय के जीवन में इसका सिंचन किस प्रकार हुआ?

धनपतराय के जीवन में इसका सिंचन लगभग उसी प्रकार हुआ, जैसे अलेक्सेई पेशकोव के जीवन में। ढेरों कहानियों और उपन्यासों को पढ़ जाने से बचपन में लगे इस चस्के ने आगे चलकर इन दोनों को स्वयं भी क़लम हाथ में लेने के लिये प्रेरित किया। अलेक्सेई पेशकोव को यदि रूसी भाषा लिखने-पढ़ने का मूलभूत ज्ञान अपनी मामी और मुख्यतः नाना से प्राप्त हुआ था, तो धनपतराय के पहले अध्यापक एक दर्ज़ी थे, जो एक मदरसा भी लगाते थे, जहां गांव के बालक उर्दू-फ़ारसी सीखते थे। यह मदरसा कैसा था, वहां किस तरह की पढ़ाई होती थी, इसका 'चोरी' कहानी में बहुत सुन्दर वर्णन है–

"मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाया करता। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर मुझ से दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियां खा, दोपहर के लिये मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहां कोई हाज़िरी का रजिस्टर तो था नहीं और न ग़ैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का... कभी-कभी हम हफ़्तों ग़ैरहाज़िर रहते पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना

कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियां उतर जातीं... हमारे मौलवी साहब दर्ज़ी थे। मौलवीगीरी शौक़ से करते थे। हम दोनों भाई अपने गांव के कुर्मी-कुम्हारों से उनकी ख़ूब बड़ाई करते थे या कहिये कि हम मौलवी साहब के सफ़री एजेन्ट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता तो हम फूले नहीं समाते थे।"

तो इस तरह से आरम्भ हुआ उस पढ़ाई का, जिसने बाद में उसे कथा-साहित्य पढ़ने और फिर स्वयं सृजन करने की सम्भावना दी। संयोगवश यहां यह भी बता दें कि जिस तरह अलेक्सेई पेशकोव ने अपनी स्कूल की पढ़ाई के दिनों में एक रूबल की चोरी की थी और जिसके परिणामस्वरूप मां ने न केवल उसकी अच्छी पिटाई की थी, बल्कि उसने स्कूल की पढ़ाई जारी रखने का इरादा भी लगभग छोड़ दिया था, क्योंकि सौतेले बाप के किसी से ज़िक्र कर देने की वजह से चोरी की बात अलेक्सेई के सभी सह-पाठियों को मालूम हो गयी थी, इसी तरह धनपतराय ने भी अपने चचेरे भाई के साथ मिलकर एक रुपया चुराया, ताकि दोनों कुछ मज़े कर सकें। किन्तु अलेक्सेई पेशकोव की चोरी की भांति इन दोनों भाइयों की चोरी भी पकड़ी गयी। चचेरे भाई की तो ख़ूब पिटाई हुई—"हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बंधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद आंगन भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आंगन उनके आंसुओं से भीग गया है..." ऐसी कसकर पिटाई हुई थी चचेरे भाई की, किन्तु धनपतराय झूठ बोलकर बच गया। "अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूं कि जब आदमी को जान का ख़तरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदि थे, दो-चार घूंसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खायी थी। मेरा तो दो ही चार घूंसों में काम तमाम हो जाता... किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था।" 'चोरी' कहानी में जहां इस एक रुपये को चुराने की दास्तान कही गयी है, वहां 'होली की छुट्टी' में गुड़ की चोरी का बड़ा मनोरंजक वर्णन है—"अम्मां तीन महीने के लिये अपने मैके या मेरी ननिहाल गयी थीं और मैंने तीन महीने में एक मन गुड़ का सफ़ाया कर दिया था... जाते वक़्त उन्होंने एक मन गुड़ लेकर एक मटके में रखा और उसके मुंह पर एक सकोरा रखकर मिट्टी से बन्द कर दिया। मुझे सख़्त ताकीद कर दी कि मटका न खोलना। मेरे लिये थोड़ा-सा गुड़

एक हांडी में रख दिया था। वह हांडी मैंने एक हफ़्ते में सफ़ाचट कर दी... मगर मटका खोलने की सख़्त मनाही थी और अम्मां के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाक़ी थे। एक दिन तो मैंने जैसे-तैसे सब्र किया, लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा और मटके की एक मीठी चितवन के साथ होश रुख़सत हो गया।" बचपन में यों तो बहुत-से बच्चे इस तरह की छोटी-मोटी चोरियां करते हैं, किन्तु उनकी ऐसी हरकतों के कारण अलग-अलग होते हैं। कुछ बच्चे तो इसलिये चोरी करते हैं कि माता-पिता लाड़-प्यार में बहुत अधिक पैसे या उपहार और खाने-पीने की चीज़ें देकर उनकी आदतें बिगाड़ देते हैं, उनकी बढ़ती इच्छाओं और मांगों की पूर्त्ति के लिये उन्हें जितने भी पैसे दिये जाते हैं, कम होते हैं और इसलिये वे चोरी का सहारा लेते हैं। कुछ दूसरे बच्चे इसलिये चोरी करते हैं कि उनके मां-बाप अपनी ग़रीबी के कारण उन्हें कुछ भी नहीं दे पाते, हर छोटी चीज़ के लिये उनका मन तरसता रहता है। अलेक्सेई पेशकोव के एक रूबल और चचेरे भाई के साथ मिलकर धनपतराय के एक रुपया चुराने का मुख्य कारण यही ग़रीबी और यही अभाव था। अलेक्सेई पेशकोव को ग़रीवी से निपटने और अपना पेट पालने की विवशता के कारण पढ़ाई भी छोड़नी पड़ी, पर धनपतराय ने किसी तरह अपनी पढ़ाई जारी रखी और हाई स्कूल पास कर ही लिया। किन्तु कैसे उसने पढ़ाई जारी रखी, 'जीवन-सार' में उसका यह उल्लेख मिलता है— "मुझे महीने में बारह आने फ़ीस लगती थी। उन बारह आनों में से मैं एकाध आने हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले में था, उसमें छोटी जात के लोग थे। वे लोग मुझ से लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे। इसलिये फ़ीस देने में मुझे बड़ी दिक़्क़त होती थी।" पर उसे पढ़ने की धुन थी, वह ऊंची शिक्षा पाकर वकील बनना चाहता था। "उस समय मैं नवें दर्जे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी (पिता ने पन्द्रह साल की उम्र में ही धनपत की शादी कर दी थी, जिससे उसका बोझ और भी बढ़ गया था), विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ पूंजी थी, वह पिता जी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में ख़र्च हो चुकी थी। मुझे अरमान था वकील बनने और एम० ए० पास करने का।" (अलेक्सेई पेशकोव भी तो पढ़ने की ऐसी तीव्रांकाक्षा लेकर कज़ान गया था।) "दौड़-धूप करके शायद कोई दस-बारह की जगह पा जाता, पर यहां तो आगे पढ़ने की धुन थी—पांव में लोहे की नहीं, अष्टधात की

बेड़ियां थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर... पांव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे।" "महंगी अलग थी... काशी में पढ़ता था। हेड मास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बांस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुंचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक़्त पर स्कूल न पहुंचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बांधे हुए था।" तो इस तरह ट्यूशन पढ़ाकर और बड़ी तंगी की ज़िन्दगी बिताकर धनपतराय ने स्कूल पास किया। किन्तु चूंकि वह सैकण्ड डिवीज़न में पास हुआ, इसलिये कालेज में फ़ीस माफ़ न हो सकी और आगे पढ़ने का सिलसिला बन्द हो गया। हां, स्कूल की पढ़ाई के इन्हीं सालों में उसे क़िस्से-कहानियां और उपन्यास पढ़ने का बेहद शौक़ भी हो गया, जो लगभग जनून की हद तक पहुंच गया। "उस वक़्त मेरी उम्र कोई १३ साल की रही होगी। हिन्दी बिल्कुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतन्नाथ सरशार, मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी उस वक़्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनायें जहां मिल जातीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी... ये सारी पुस्तकें मैंने इसी ज़माने में पढ़ीं और पं० रतन्नाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनायें मैंने पढ़ डालीं। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी गोरखपुर के मिशन स्कूल में पढ़ता था... रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता और उसके स्टाक से उपन्यास लेकर पढ़ता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिये उसकी दुकान से अंग्रेज़ी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर लड़कों के हाथ बेचा करता था और उसके मुआवज़े में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्ष में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवल किशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और 'तिलस्मी होशरुबा' के कई भाग भी पढ़े। इस बृहद तिलस्मी ग्रंथ के १७ भाग उस वक़्त तक निकल चुके थे और

एक-एक भाग सुपर रायल आकार के दो-दो हज़ार पृष्ठों से कम न होगा... जिसने इतने बड़े ग्रन्थ की रचना की, उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। इसमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता, लेकिन इतनी बृहद कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो।" और धनपतराय तेरह-चौदह साल की उम्र में ही अनेक अन्य उपन्यासों के अलावा इस बृहद कथा के ३४ हज़ार पृष्ठ भी पढ़ चुका था। कथा-साहित्य पढ़ने का यह क्रम ऐसे ही चलता रहा और १६ साल की उम्र में जब वह गणित में कमज़ोर होने के कारण (जो उसके लिये गौरी शंकर की चोटी था) फ़ीस माफ़ करवाकर पढ़नेवाले विद्यार्थी के रूप में कालेज में दाखि़ल न हो सका, तो गणित सुधारने के लिये पुस्तकालय में जाकर बैठता। किन्तु वहां भी गणित के सवाल हल करने के बजाय उपन्यास ही पढ़ता। "गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ता। पंडित रतन्नाथ सरशार का 'फ़िसाना आज़ाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता संतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले।" क्या अलेक्सेई पेशकोव का भी इस उम्र में यही हाल नहीं था? क्या वह भी किताब-चाटू नहीं था और उसने भी सैंकड़ों उपन्यास नहीं पढ़ डाले थे और अपने इस पुस्तक-प्रेम के लिये उसे क्या-क्या कष्ट नहीं झेलने पड़े थे? दोनों भावी महान लेखकों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों से बहुत कुछ सीखा और प्रेरणा ली। किन्तु एक बड़ा अन्तर था। अलेक्सेई पेशकोव ने बड़ा समृद्ध फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ी और रूसी कथा-साहित्य पढ़ा, जबकि धनपतराय को उस समय उर्दू में जो कुछ पढ़ने को मिला, वह मोटे तौर पर अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही था। उस कथा-साहित्य को विश्व-स्तर पर लाने का काम धनपतराय को आगे चलकर स्वयं करना था। वैसे बाद के वर्षों में तो बहुत-सा पश्चिमी और रूसी साहित्य भी उसने छान डाला। पर इस उम्र में ही, जब वह उपन्यासों के ढेरों पन्ने चाट रहा था, उनके प्रभाव ने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया था। उसने स्वयं भी कुछ सृजन आरम्भ कर दिया था। "वहीं मुझे लिखने का भी शौक़ हुआ था। कभी-कभी मेरे पिता जी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी में भी आ जाते... और पूछते: 'नवाब कुछ लिख रहे हो?' मैं शरमा कर गड़ जाता।" जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ताऊ ने धनपतराय को प्यार से नवाब का नाम दिया था, इसी नाम से उसे घर में पुकारा जाता था और इसी नाम से वह लेखक के रूप

में सामने श्राया। मगर बाद को उसे नवाबराय से प्रेमचन्द बनना पड़ा। इस प्रसंग की हम श्रागे चलकर चर्चा करेंगे। हां, तो तेरह साल की उम्र में धनपतराय ने कुछ लिखना शुरू कर दिया। किन्तु क्या लिखता था वह? कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक? 'मेरी पहली रचना' से हमें इसका उत्तर मिलता है। उसने सबसे पहले न कहानी, न उपन्यास श्रौर न कविता ही लिखी, बल्कि एक नाटक, एक प्रहसन लिखा, सो भी दूर के रिश्ते के श्रपने एक मामू पर। इस प्रहसन में धनपत ने इस मामू के एक चमारिन के साथ इश्क श्रौर इसके फलस्वरूप उसकी श्रच्छी पिटाई का मनोरंजक वर्णन किया था, जिसे सुनकर सब लोग ख़ूब हंसे थे। धनपतराय ने यह नाटक श्रपने मामू के सिरहाने रख दिया था (मामू से उसकी बनती नहीं थी, क्योंकि वह उस पर रोब जमाता रहता था) श्रौर सम्भवत: पढ़ने के बाद उसने उसे जला दिया होगा। इसलिये धनपतराय की यह पहली रचना उपलब्ध नहीं है। किन्तु एक बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि धनपत ने कज्ज़ाकी से जो कहानियां छुटपन में सुनी थीं, जो सैकड़ों उपन्यास इन वर्षों में पढ़े थे, उनमें से श्रधिकांश तिलस्म श्रौर जादू के क़िस्सों से सम्बन्धित थे, पर जब उसने क़लम हाथ में ली श्रौर ख़ुद लिखने बैठा, तो एक सामाजिक व्यंग्य ही लिखा। यही सामाजिक तत्त्व उसके श्रमर साहित्य का श्रभिन्न श्रंग बना। इस दृष्टि से सृजन की प्रारम्भिक श्रवस्था में धनपतराय का मार्ग श्रलेक्सेई पेशकोव से भिन्न रहा। श्रलेक्सेई पेशकोव ने शुरू में गद्य नहीं, कवितायें रचीं श्रौर उनमें रूपकता (allegory) की प्रधानता रही श्रौर कहानीकर के रूप में भी रोमानी रंग का श्रधिक पुट रहा। किन्तु ऐसा शायद श्रनुभूति-क्षेत्र की भिन्नता श्रौर परिवेश के श्रन्तर के कारण हुश्रा। कुछ शोधकर्त्ताश्रों के श्रनुसार धनपतराय की दूसरी रचना भी एक नाटक 'होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात' था, जो प्रहसन के एक वर्ष बाद यानी १८९४ में, १४ वर्ष की श्रायु में लिखा गया था। श्रलेक्सेई पेशकोव की तुलना में धनपतराय ने कहीं पहले ही यानी कहीं छोटी उम्र में ही क़लम घिसना शुरू कर दिया था। पर श्रलेक्सेई पेशकोव की भांति धनपतराय भी श्रभी लेखक नहीं बना था, वह भी ग़रीबी श्रौर ज़िन्दगी की मुश्किलों से जूझ रहा था। हाई स्कूल पास कर चुका था, पिता का देहान्त हो चुका था, घर का सारा बोझ उसके कंधों पर श्रा गया था, ट्यूशन करके किसी तरह श्रपना श्रौर विमाता, उसके दो बच्चों श्रौर पत्नी के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करता था, बेहद ग़रीबी का शिकार

था (अलेक्सेई पेशकोव की तरह ही), किन्तु धनपत के पैरों में ज़िम्मेदारियों की बेड़ियां भी थीं, वह अलेक्सेई की तरह मुक्त पंछी नहीं था। उसके लिये तो कहीं न कहीं छोटी-मोटी नौकरी करके परिवारवालों के जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करना ज़रूरी था। नौकरी पाने का ऐसा एक सुयोग भी हो गया—"जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे... चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया।" "एक चक्रवर्ती-गणित-कुंजी दो साल हुए ख़रीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक रुपये पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दुकान से उतरा ही था कि बड़ी-बड़ी मूंछोंवाले एक सौम्य पुरुष ने, जो उस दुकान पर बैठे हुए थे, मुझ से पूछा—

"'तुम कहां पढ़ते हो?' मैंने कहा: 'पढ़ता तो कहीं नहीं; पर आशा करता हूं कि कहीं नाम लिखवा लूं।'

"'मैट्रिक्यूलेशन पास हो?'

"'जी हां।'

"'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है?'

"'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।'

"यह सज्जन एक छोटे से स्कूल के हैडमास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की ज़रूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊंची से ऊंची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हैडमास्टर से मिलने का वायदा करके चला तो पांव ज़मीन पर न पड़ते थे। यह सन् १८९९ की बात है।"

तो इस तरह १९ वर्ष की आयु में धनपतराय नौकरी के खूंटे से बंध गया।

उक्त उद्धरण के अनुसार इस अध्यापन-कार्य का आरम्भ चुनार के मिशन स्कूल से हुआ, किन्तु जो बाद में सरकारी स्कूल के अध्यापक, माडेल स्कूल के हैडमास्टर और फिर सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर तथा फिर से अध्यापन-कार्य का चक्कर काटता हुआ १९२१ की १५ फ़रवरी तक चलता रहा और जिसका असहयोग आन्दोलन और गांधी जी के भाषण की प्रेरणा से आख़िर अन्त हुआ। इन्हीं वर्षों के दौरान धनपत ने अध्यापन की दो परीक्षायें पास कीं और १९१९ तक बी० ए० कर लिया। सरकारी नौकरी

से तो १६२१ में मुक्ति पा ली, किन्तु आर्थिक परिस्थितियों ने बाद में भी कई जगह अध्यापन-कार्य, सम्पादन-कार्य और कई अन्य धंधे करने को विवश किया। अलेक्सेई पेशकोव की भांति उसे "जीवन की राहों" और "विश्वविद्यालयों" में सभी तरह के लोगों, विशेषकर तलछटी लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने, तरह-तरह की नौकरियां और धंधे करने, देश का अधिकतर भाग घूम डालने और जीवन के यथार्थ, विशेषकर समाज-बहिष्कृत और उपेक्षित, उत्पीड़ित और शोषित लोगों को बहुत निकट से जानने, उनके जैसा जीवन बिताने का अवसर नहीं मिला। हां, किसानों और देहात तथा मध्य वर्ग के जीवन से उसका सम्बन्ध जुड़ा रहा। फिर भी धनपतराय ने बचपन और किशोरावस्था में जितना कुछ देखा-जाना और सहा था, वह उसे दीन-दुखियों, उत्पीड़ितों-दलितों और शोषितों के प्रति संवेदनशील बनाने के लिये पर्याप्त था। यह संवेदनशीलता साहित्य-सृजन में ही नहीं, सामान्य जीवन की कई घटनाओं में भी प्रकट हुई। उदाहरण के लिये, अमृतराय ने ऐसी दो घटनाओं का उल्लेख किया है। धनपतराय जब चुनार में अध्यापक था, तो स्कूल की फ़ुटबाल टीम का मिलिटरी के गोरों की टीम के साथ मैच हुआ। गोरे हार गये, तो लड़कों ने ख़ुशी में हिप-हिप हुर्रा चिल्लाना शुरू किया। गोरे झल्ला उठे। किसी ने एक खिलाड़ी लड़के को ठोकर मार दी। धनपतराय भी मैच देखनेवालों में से था, उसने गोरे को ठोकर मारते देखा। शरीर बहुत मज़बूत नहीं था, फिर भी उसने मैदान में गड़ी हुई एक झण्डी उखाड़ ली और "बेतहाशा उस पर पिल पड़ा। लड़कों ने जो उसको आगे-आगे देखा तो खेलने-वाले और तमाशाई सब मैदान में कूद पड़े और उन गोरों की ऐसी पिटाई की कि उन्हें छठी का दूध याद आ गया, सारी अकड़फूं धरी रह गयी... आंखों के आगे सरीहन बेइन्साफ़ी हो रही हो तो इन्सान चुप भी कैसे रहे। ज़ुल्म देखकर उस आदमी को जैसे फिर किसी बात का होश नहीं रह जाता था... और यही चीज़ उसके वहां से उखड़ जाने का कारण बनी। सुनते हैं कि वहां, उसी स्कूल में कोई इब्ने अली नाम के मौलवी साहब थे। स्कूल के अधिकारी उसके साथ कोई बेइन्साफ़ी कर रहे थे जो मुंशी जी को बर्दाश्त नहीं हुई। उन्होंने बेधड़क मौलवी साहब का साथ दिया, खुले आम, जमकर। बात बढ़ी। मुंशी जी भी मौलवी साहब के साथ निकाल दिये गये।" कितनी समानता है अलेक्सेई पेशकोव और धनपतराय की मनोरचना, दोनों की संवेदनशीलता और न्याय-भावना में। अलेक्सेई

पेशकोव तो दूसरों का पक्ष लेता हुआ कई बार मरते-मरते बचा था। इस संवेदनशीलता और न्याय-भावना की समानता के बावजूद इस बात पर ज़ोर देना उचित होगा कि तरुणावस्था के जिन वर्षों में अलेक्सेई पेशकोव राजनीतिक चेतना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पाठ प्राप्त कर रहा था, "षड्यन्त्रकारी कार्यों" में भाग ले रहा था, "जनता में प्रचार-कार्य" कर रहा था और इस तरह जब उसकी राजनीतिक समस्याओं की पकड़ मज़बूत हो रही थी, उस समय धनपतराय अपने परिवार के जीवन-निर्वाह की समस्याओं से टक्कर ले रहा था और बाद के कुछ वर्षों में भी उसका चेतना-क्षेत्र समाज-सुधार आन्दोलन, विशेषतः आर्य-समाज से प्रभावित रहा। दोनों के साहित्य-सृजन के विकास की अवस्थाओं के अन्तर का यह भी एक कारण था। फिर भी दिशा एक ही थी—समाजापेक्षी।

तो ख़ैर, लगभग १६०० से सही अर्थ में उपन्यास रचना आरम्भ करके १६२१ तक २१ सालों में धनपतराय ने शुरू में नवाबराय और फिर प्रेमचन्द के नाम से एक लम्बा साहित्य साधना-पथ तय किया, उपन्यासकार और कहानीकार के नाते उर्दू और फिर हिन्दी साहित्य में उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की। उनके 'प्रेमा', 'किशना', 'रूठी रानी', 'वरदान' और 'सेवा सदन' उपन्यास छप चुके थे, १६०६ में प्रकाशित 'सोज़े वतन' ('मातृभूमि की वेदना') कहानी-संग्रह को लेकर सरकारी कोप के भाजन भी हो चुके थे और तभी उन्हें नवाबराय की जगह अपना प्रेमचन्द नाम रखना पड़ा था। 'सोज़े वतन' से सम्बन्धित घटना का संक्षिप्त उल्लेख किये बिना प्रेमचन्द की जीवनी पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ सकता।

"उस वक़्त मैं शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर था और हमीरपुर ज़िले में तैनात था। पुस्तक ('सोज़े वतन') को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम ज़िलाधीश का परवाना पहुंचा कि मुझ से तुरन्त मिलो... मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात ३०-४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। उनके सामने 'सोज़े वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक़्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि ख़ुफ़िया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिये मुझे बुलाया गया है। साहब ने पूछा: 'यह पुस्तक तुमने लिखी है?' मैंने स्वीकार किया।

"साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का ग्राशय पूछा ग्रौर ग्रन्त में बिगड़कर बोले: 'तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुग्रा है। ग्रपने भाग्य को बखानो कि ग्रंग्रेज़ी ग्रमलदारी में हो। मुग़लों का राज होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियां एकांगी हैं, तुमने ग्रंग्रेज़ी सरकार की तौहीन (ग्रपमान) की है ग्रादि।' फ़ैसला यह हुग्रा कि मैं 'सोज़े वतन' की सारी प्रतियां सरकार के हवाले कर दूं ग्रौर साहब की ग्रनुमति के बिना कुछ न लिखूं..." तो पांच कहानियों के इस संग्रह के कारण, जिसमें उनकी १९०७ में लिखी गयी पहली कहानी 'संसार का सबसे ग्रनमोल रत्न' भी शामिल थी ग्रौर जो कुल मिलाकर देश-प्रेम की भावनाग्रों को तीव्रता प्रदान करता था, नवाबराय को ग्रपना नाम बदलकर ग्रागे लेखन-कार्य करना पड़ा। इस तरह 'सोज़े वतन' की सैंकड़ों प्रतियां ग्राग की नज़र हुईं ग्रौर "प्रेमचन्द" नाम का जन्म हुग्रा। इस नाम का सुझाव देनेवाले ग्रपने मित्र मुंशी दयानारायण निगम को उन्होंने लिखा: "प्रेमचन्द ग्रच्छा नाम है। मुझे भी पसन्द है। ग्रफ़सोस सिर्फ़ यह है कि पांच-छः साल में 'नवाबराय' को फ़रोग देने की जो मेहनत की गयी, वह सब ग्रकारथ हो गयी। यह हज़रत क़िस्मत के हमेशा लंडूरे रहे ग्रौर शायद रहेंगे..." ग्रपने पहले उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक ढकोसलों ग्रौर पाखण्डों पर चोट करनेवाले नवाबराय ने 'सोज़े वतन' में पराधीनता के बन्धनों पर प्रहार किया था, सो भी सरकारी नौकर होते हुए। (यह कहानी-संग्रह उनकी सामाजिक चेतना के बाद बढ़ती राजनीतिक चेतना का भी परिचायक था।) यह बड़े साहस का काम था। 'सोज़े वतन' के बाद की ऐतिहासिक कहानियों में प्रेमचन्द ने देश प्रेम की इसी भावना को ग्रधिक गुप्त, किन्तु प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। उनके ग्रपने ग्रन्तर में भी यह भावना ग्रधिकाधिक प्रबल होती गयी ग्रौर ग्राख़िर सरकारी नौकरी की क़ैद से मुक्त होने पर ही उन्हें चैन मिला। प्रेमचन्द के लिये बरसों की पक्की नौकरी छोड़ना सचमुच एक बड़ा त्याग था। "एक दिन की बात है—मुझसे बोले: 'तुम राय देतीं, तो मैं सरकारी नौकरी छोड़ देता।' मैं जवाब देती हुई बोली कि इस विषय पर विचार करने के लिये दो-तीन दिन का समय चाहिये... जो उलझन उनको थी, वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई... उस समय इनको कुल मिलाकर १२५ के क़रीब मिलता था... मुझे भी इस बात की उलझन थी कि ग्राख़िर नौकरी छोड़कर हम करेंगे क्या?.. २५ वर्ष की नौकरी छोड़ते हुए तकलीफ़

तो होती थी। मगर नहीं! यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनको देखते हुए वह शायद नहीं के बराबर थी।" शिवरानी देवी की 'प्रेमचन्द घर में' पुस्तक से दिये गये उपर्युक्त उद्धरण से कठिन निर्णय करते समय पति-पत्नी, दोनों की मानसिक स्थिति स्पस्ट हो जाती है। इस दृष्टि से गोर्की और प्रेमचन्द की स्थिति के अन्तर पर ज़ोर देना उचित होगा। विख्यात लेखक हो जाने पर गोर्की को उनकी रचनाओं के प्रकाशन से रूस में ही नहीं, विदेशों से भी काफ़ी आमदनी होती थी, जबकि प्रेमचन्द को १९२१ तक सैंकड़ों कहानियों और 'सेवा सदन' जैसे उपन्यास (कुछ समय बाद 'प्रेमाश्रम' भी निकल गया) के हिन्दी प्रकाशन के बाद भी उर्दू में प्रकाशक ढूंढ़ पाने में मुश्किल होती रही, जो जीवन-पर्यन्त बनी रही और उनसे आमदनी तो बहुत ही कम हो पाती थी। कारण स्पष्ट थे—जनता बहुत कम साक्षर थी और उसकी पुस्तक ख़रीदने की शक्ति बहुत सीमित थी। इसलिये राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर अपने को, विशेषतः छोटे बच्चों तथा पत्नी सहित पूरे परिवार को आर्थिक कठिनाइयों की मंझधार में ढकेल देने का निर्णय बड़ा कठिन और साहसपूर्ण था। किन्तु प्रेमचन्द अपने साहित्य में जिन चीज़ों का प्रचार करते थे, उन्हें स्वयं भी व्यवहार में लाने के लिये यत्नशील रहते थे। यदि बाल-विधवा और नारी-उद्धार की समस्या को उन्होंने अपने अनेक उपन्यासों का केन्द्र-बिन्दु बनाया, तो स्वयं भी बाल-विधवा—शिवरानी देवी—से विवाह किया। यदि असहयोग आन्दोलन में दूसरों को अपने साहित्य द्वारा सरकारी नौकरियां छोड़ने को प्रेरित किया, तो ख़ुद भी कष्ट झेलने को तैयार हुए। यों प्रेमचन्द ने ख़ुद अपने जीवन के इसी अमली पहलू को बहुत कम स्वीकारा था और जैनेन्द्र के नाम एक पत्र में तो उन्होंने यह भी लिखा था कि "मैं क्रियात्मक आदमी नहीं हूं", तथापि वास्तविकता इसके विपरीत है। नौकरी छोड़ने के कोई तीन साल बाद, १९२४ में, अलवर के राजा ने उन्हें अपने पास आकर रहने का सन्देश भिजवाया। ४०० रुपया मासिक, बंगला और मोटर देने का आश्वासन दिया। बहुत ही कठिन आर्थिक स्थिति होते हुए भी प्रेमचन्द ने ऐसे प्रलोभन से इन्कार कर दिया। भला क्यों? इसलिये कि वह राजाओं के नहीं, जनता के पक्ष-पोषक थे। वह उनका तो भंडाफोड़ करते थे, उन्हें ब्रिटिश सरकार के शासन-स्तम्भ मानते थे। उनसे वेतन और सुख-सुविधायें पाकर क्या वह जनता, ग़रीब किसानों और मज़दूरों की वकालत कर पाते? इसी प्रकार की भावना से उन्होंने राय साहब की वह उपाधि लेने से इन्कार

किया, जो उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर मालकम हेली १९२९ में उन्हें देना चाहते थे। इस विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने अपनी पत्नी से कहा: "तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू रह जाऊंगा... अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिये हुआ है, तब गवर्नमेंट मुझ से जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा।" और बड़ी शिष्टता से इन्कार कर दिया।

१९०० से १९२१ तक के काल में नौकरी की ज़िम्मेदारी निभाने और अपनी पेचिश की दायमी बीमारी और घरेलू ज़िन्दगी की परेशानियों के बावजूद प्रेमचन्द निरन्तर लिखते रहे। उपन्यासों और कहानियों के अलावा उन्होंने अनेक समालोचनायें और सामयिक तथा राजनीतिक विषयों पर लेख भी लिखे। सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों के विरुद्ध अपने साहित्य द्वारा ज़ोरदार आवाज़ उठानेवाले प्रेमचन्द देश की आज़ादी के प्रश्न पर भी निरन्तर और गम्भीर चिन्तन करते रहते थे। वह समझने लगे थे कि देश के आज़ाद हुए बिना बहुत-से प्रश्न हल नहीं हो सकेंगे। चूंकि भारत के राजनीतिक रंगमंच पर उस समय मुख्यत: केवल एक ही पार्टी यानी इंडियन नेशनल कांग्रेस ही स्वतन्त्रता-संघर्ष कर रही थी और गांधी जी के नेतृत्व सम्भालने के बाद वह जन-आन्दोलन के मार्ग पर बढ़ चली थी, इसलिये प्रेमचन्द भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके, जैसे गोर्की शुरू में नरोदवादियों और फिर मार्क्सवादियों और लेनिन के नेतृत्व के प्रभाव में आये। गोर्की तो बड़ी सक्रियता से रूस के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेते रहे, किन्तु सरकारी नौकर होने के कारण प्रेमचन्द के लिये ऐसा करना सम्भव न था। वह केवल लेखनी द्वारा ही चेतना लाते रहे। १९२१ के फ़रवरी महीने में सरकारी नौकरी से मुक्त हो जाने पर वह गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में अधिक रुचि लेने लगे। अपने मित्र महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ मिलाकर वह चर्खे का प्रचार करते और दोनों ने चर्खे बनवाकर उन्हें बेचने की व्यवस्था भी की। भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के इतिहास की गहरी जानकारी न रखनेवालों को चर्खे के प्रचार की बात हास्यास्पद-सी लग सकती है, किन्तु साधारण, अनपढ़ और देहात के भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना लाने और देश-प्रेम की भावना जगाने का यह एक महत्त्वपूर्ण साधन था। सरकारी नौकरी से मुक्त होने के कुछ समय बाद प्रेमचन्द अपने जन्म-गांव लमही लौट गये, वहां भी चर्खे का प्रचार और चर्खे बनवाकर किसानों में मुफ़्त बांटते और उन्हें चर्खे का महत्त्व समझाते रहे। अब वह साहित्य-सृजन की ओर भी अधिक ध्यान

देते थे। सुबह लिखने बैठ जाते और दोपहर के भोजन तक लिखते। हम जानते हैं कि गोर्की भी लगभग इसी तरह से काम करते थे। यह एक उल्लेखनीय बात है कि सभी महान लेखक बड़े परिश्रमी भी होते हैं। दोपहर को आराम करने के बाद प्रेमचन्द शाम का अधिकतर समय गांव के किसानों के साथ बिताते, उनकी बातें सुनते, उनकी समस्याओं पर विचार करते, उन्हें सलाहें देते और किसानों के साथ ऐसे घनिष्ठ सम्पर्क से स्वयं भी बहुत कुछ सीखते, इन दिनों लिखे जा रहे अपने 'प्रेमाश्रम' उपन्यास और अन्य भावी पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिये सामग्री जुटाते। किन्तु यह सिलसिला कुछ ही महीने चला। लमही में उनका जीवन इसलिये कष्टप्रद हो गया कि उनकी पत्नी तथा विमाता में खट-पट रहती थी, तंगदस्ती भी थी। इसलिये वह फिर से कहीं नौकरी पाने का प्रयास करने लगे। भाग्य ने साथ दिया। उन्हीं दिनों कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में, जो राष्ट्रीय स्कूल था, हेडमास्टर की जगह ख़ाली थी। प्रेमचन्द के मित्रों, 'ज़माना' सम्पादक निगम और 'प्रताप' सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी की स्कूल के मैनेजर से अच्छी दोस्ती थी। सो वह इस स्कूल के हेडमास्टर हो गये। किन्तु वहां बहुत देर तक टिके न रह सके, क्योंकि स्कूल के मैनेजर के साथ उनकी पटरी न बैठ सकी और उसके तंग करने पर उन्हें इस्तीफ़ा देना पड़ा। अपने जीवन की इस घटना का उन्होंने 'प्रेरणा' कहानी में सुन्दर वर्णन किया है। इस बार इस्तीफ़ा देते हुए भी उसी तरह की मानसिक उलझन का सामना करना पड़ा, जिस तरह की उलझन सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देने के वक़्त हुई थी। शिवरानी देवी के साथ उनकी निम्न बातचीत इसका प्रमाण है—

"'छोड़ तो दूं (यानी नौकरी) परन्तु रोटी का प्रबन्ध कैसे होगा?'

"'होगा कैसे? जैसे पहले होता आया है—लिखाई से।'

"'क़लम के बल पर हिन्दुस्तान में अभी गुज़ारा करना कठिन है।'

"'देखा जायेगा, झंझट में काम करना ठीक नहीं।'"

सो यह नौकरी छोड़ दी। कुछ समय बाद उन्हें काशी विद्यापीठ में अध्यापक का काम मिल गया और वह बनारस में रहने लगे। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने जीवन के एक सपने को साकार किया। वह एक ज़माने से यह अनुभव कर रहे थे कि उनका अपना प्रेस होना चाहिये, जिससे वह एक बंधी हुई आय पा सकें, रोटी की फ़िक्र से निजात पा लें, अपने को पूरी तरह से लेखन-कार्य में लगा दें और यदि सम्भव हो सके, तो

अपनी पुस्तकों का स्वयं ही प्रकाशन भी कर पायें। चुनांचे अपने पास जो थोड़ी-सी जमा पूंजी थी, वह, भाइयों की पूंजी और कुछ उधार की रक़म लगाकर उन्होंने १९२३ में 'सरस्वती' प्रेस की स्थापना की। उन्हीं दिनों निगम के नाम लिखे गये पत्रों से प्रेमचन्द की माली परेशानियों का अन्दाज़ हो सकता है—"२० जुलाई से प्रेस का काम शुरू होगा, मगर खाली हाथ। मेरे पास अब कुछ नहीं रहा। कुल ८००० रु० का तख़मीना किया था। मैं ५०० रु० ज़ाइद (अधिक) ख़र्च कर चुका। अब कहां से लाऊं। दोस्तों को तक़लीफ़ देने के सिवा और कहां जाऊं। ४०० रु० एक साहब से लिये। अगर आप ३०० रु० दे सकें तो एक महीने के लिये कुछ सर हलका हो जाय... आपको मेरी माली हालत का इल्म है... इतना मायूस (निराश) न कीजिये।" प्रेमचन्द किसी न किसी तरह इस प्रेस को चालू करके इसे सफल बनाना चाहते थे। वह अपनी पुस्तकें, विशेषत: उर्दू में तो उन्हें स्वयं ही छापना चाहते थे, क्योंकि उनके लिये प्रकाशक ढूंढ़ने में बहुत कठिनाई हो रही थी। इसीलिये १४ अगस्त १९२३ के पत्र में निगम को लिखा: "मैंने अब इरादा कर लिया है कि अपनी उर्दू की किताबें ख़ुद ही छाप लूं। एक छोटा-सा 'लीथो' प्रेस रख लूं।" किन्तु 'सरस्वती' प्रेस प्रेमचन्द के लिये शुरू से ही गले की फांस बन गया। २ अगस्त १९२४ को निगम को फिर लिखा: "प्रेस ने मुझे इस क़दर परेशान कर रखा है कि मैं तंग आ गया हूं। वह बुरा वक़्त था जब मेरे सर में यह सौदाए ख़ास (पागल-पन) समाया... दरअसल मैंने यह झंझट मोल लेकर अपनी जान आफ़त में फंसाई"। प्रेमचन्द ने अपने सौतेले भाई महताब राय को प्रेस का काम देखने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी और ख़ुद काशी विद्यापीठ में अध्यापन-कार्य करते थे। एक तरफ़ तो प्रेस में घाटा हो रहा था और दूसरी तरफ़ काशी विद्यापीठ के प्रबन्धकों के साथ भी उनके मतभेद होते जा रहे थे। आख़िर उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। उन्हें लगता था कि सौतेला भाई महताब राय प्रेस को ढंग से चला नहीं पाता है। इसलिये नौकरी छोड़ने के बाद उन्होंने प्रेस का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। फिर भी घाटा होता रहा और आख़िर उन्हें लखनऊ की 'गंगा पुस्तकमाला' के व्यवस्थापक दुलारे लाल भार्गव के यहां साहित्यिक सहायक के रूप में एक सौ रुपये मासिक की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु वहां भी एक साल से अधिक समय तक न रह पाये और बनारस लौट आये।

प्रेस की मुसीबत और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद प्रेमचन्द साहित्य-सृजन करते जा रहे थे। इन्हीं दो-तीन वर्षों में 'प्रेमाश्रम' के बाद उनके 'संग्राम' और 'कर्बला' नाटक निकले और जनवरी १६२५ में 'रंगभूमि' उपन्यास भी प्रकाशित हो गया। इस उपन्यास के निकलने पर प्रेमचन्द के नाम की तूती बोलने लगी और हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं ने उन्हें उपन्यास-सम्राट की उपाधि दे दी। इन्हीं वर्षों में प्रेमचन्द के चिन्तन में बड़ी परि-पक्वता भी आई। उन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया कि आज़ादी हासिल करने के लिये देश को बड़ा संघर्ष और बड़े बलिदान करने होंगे तथा इसके लिये हिन्दु-मुसलमानों की एकता, जिसपर गांधी जी बहुत ज़ोर देते थे, बहुत ज़रूरी है। इसी उद्देश्य में योग देने की भावना से उन्होंने 'कर्बला' नाटक लिखा था, जिसमें कर्बला की घटनाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से सुरक्षित रखा गया था। १७ फ़रवरी १६२४ के पत्र में निगम को उन्होंने लिखा: "मक़सद है पोलिटिकल, बाहमी एत्तहाद (आपसी एकता) को बढ़ाना, और कुछ नहीं..." इसके लगभग एक साल पहले जब निगम ने यह पूछा था कि वह किस पार्टी में हैं, तो उन्होंने जवाब दिया था: "मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूं... मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूं जो कोतहुन्नाम (छोटे या आम लोगों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल (कार्य-विधि) बनायेगी।" वही प्रेमचन्द जो कभी आर्य-समाज के आन्दोलन के प्रगतिशील पक्षों से प्रभावित हुए थे और उसके विधिवत् सदस्य भी बन गये थे, उसके साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी कार्यों के आलोचक हो गये। २२ अप्रैल १६२३ के पत्र में निगम को लिखा: "मलकाना शुद्धि पर एक मुख़्तसर मज़मून (संक्षिप्त लेख) लिख रहा हूं। मुझे इस तहरीक (आन्दोलन) से सख़्त इख़्तिलाफ़ (बड़ा मतभेद) है। तीन-चार दिन में भेज सकूंगा। आर्य-समाज वाले भिन्नायेंगे, लेकिन मुझे उम्मीद है आप 'ज़माना' में इस मज़मून को जगह देंगे।" तो इस तरह प्रेमचन्द अधिक प्रौढ़ विचारक और कलाकार के रूप में आगे बढ़ते जा रहे थे। नाटकों और उपन्यासों के अतिरिक्त बहुत-सी छोटी कहानियां और 'निर्मला' उपन्यास भी लिखा गया, जो १६२५ से 'चांद' में धारा-वाहिक रूप में प्रकाशित होने लगा। कहानियों और अनुवाद-कार्य की आय से उनका जीवन-निर्वाह होता था। 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द का एक अन्य बड़ा उपन्यास 'कायाकल्प' १६२६ में छपा। इस उपन्यास का सबसे अधिक महत्त्व इसी बात में है कि प्रेमचन्द ने इसे मूलतः देवनागरी लिपि

में लिखा था। इसके पहले के सभी उपन्यास पहले उर्दू में लिखे गये थे और फिर उन्हें हिन्दी का जामा पहनाया गया था।

कोई एक बरस से कुछ अधिक समय तक प्रेमचन्द बनारस में रहकर अपने 'सरस्वती' प्रेस को पैरों पर खड़ा करने की कोशिश करते रहे, मगर उन्हें इसमें कामयाबी नहीं मिली और इसलिये प्रेस के घाटे को पूरा करने और परिवार का गुज़ारा चलाने के लिये प्रेमचन्द ने फिर से नौकरी की। इस बार वह लखनऊ से निकलनेवाली 'माधुरी' पत्रिका में काम करने लगे और अप्रैल १९२७ के अंक पर सह-सम्पादक के रूप में उनका नाम छपा। वह लगभग चार साल तक 'माधुरी' से सम्बन्धित रहे। किन्तु इसी बीच मार्च १९३० से उन्होंने अपना मासिक पत्र 'हंस' भी बनारस से निकालना आरम्भ कर दिया था। वह स्वयं लखनऊ में रहते थे, वहीं से 'हंस' का सम्पादन करते थे और पत्र उनके 'सरस्वती' प्रेस में छपकर तैयार होता था। 'हंस' को निकालने का एक उद्देश्य तो प्रेस के लिये काम की कमी को पूरा करना था और वास्तविक लक्ष्य देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में इस पत्रिका से मदद देना था। 'माधुरी' के सह-सम्पादक के नाते वह ऐसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि वह पत्रिका उनकी अपनी नहीं थी। कांग्रेस ने जनवरी १९३० में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास कर दिया था और तभी प्रेमचन्द ने टोकियो में रहनेवाले एक भारतीय मित्र केशोराम सब्बरवाल को अपने पत्र में लिखा था: "यह तो आपको पता ही होगा कि इस वर्ष कांग्रेस ने एक क़दम आगे बढ़ाया है और स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया है। इस बारे में भारत में बड़ा मतभेद है। मॉडरेट लोग इतना आगे तक जाने को तैयार नहीं है, और नव-नेता पूर्ण स्वराज्य से काम लेने के लिये तैयार नहीं हैं। मेरा विचार है पूर्ण स्वराज्य की मांग गर्व से अन्धे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उचित उत्तर है। डोमीनियन स्टेट्स तो एक धोखा है।" 'हंस' के प्रकाशन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द ने अपनी टिप्पणी में लिखा: "'हंस' के लिये यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिये तड़पने लगा है।" इसके बाद राष्ट्रीय चेतना आदि की चर्चा करके उन्होंने लिखा: "इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन देर में आयेगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर (निर्भर) होगा। हां, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से जल्द

लाने के लिये तपस्या करते रहें। यही 'हंस' का ध्येय होगा और इसी ध्येय के अनुकूल इसकी नीति होगी।"

यह साहित्यकार और सम्पादक के नाते प्रेमचन्द की कर्त्तव्य भावना, समाज और देश के प्रति उनके उत्तरदायित्व की चेतना का बहुत अच्छा प्रमाण है। लेखनी को तो प्रेमचन्द ने स्वतन्त्रता-संग्राम के लिये अर्पित कर ही दिया था और इसीलिये जून १९३० के एक पत्र में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी के इस प्रश्न के उत्तर में कि उनकी आकांक्षायें क्या हैं, उन्होंने लिखा: "मेरी आकांक्षायें कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों... हां, यह ज़रूर चाहता हूं कि दो-चार ऊंची कोटि की पुस्तकें लिखूं, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही हो।" और प्रेमचन्द ने मार्च १९३० के 'हंस' में अपनी 'जुलूस' तथा अप्रैल में 'समर-यात्रा' कहानी छापी। इन दोनों कहानियों और इसी प्रकार मई में 'शराब की दुकान', जून में 'मैकू' तथा नवम्बर के अंक में छपी 'आहुति' कहानियों में असहयोग आन्दोलन की बड़ी प्रभावपूर्ण झलकियां मिलती हैं। अगस्त १९३० में 'सरस्वती' प्रेस से ज़मानत मांगी गयी, 'हंस' बन्द हुआ और फिर नवम्बर में ही निकला। 'समर-यात्रा' नाम से उनका कहानी संग्रह ज़ब्त किया गया। १९३१ के आरम्भ में 'ग़बन' उपन्यास भी निकल गया और उसमें भी प्रेमचन्द ने स्वतन्त्रता-संघर्ष की अवहेलना नहीं की। १९३१ के अप्रैल महीने से उन्होंने 'कर्मभूमि' लिखना आरम्भ किया, जो पूरी तरह से स्वतन्त्रता-संग्राम और उससे जुड़े हुए प्रश्नों पर आधारित है। प्रेमचन्द केवल क़लम से ही राष्ट्रीय सेवा नहीं कर रहे थे, बल्कि कांग्रेस के कार्यों में भी भाग लेते थे और जेल जाने के लिये भी तैयार हो रहे थे। एक पत्र में निगम को लिखा: "अगर कहीं गिरफ़्तार हो जाऊं या डण्डे पड़ जायें और रूह कालिबे अन्सारी से परवाज़ (यदि शरीर से आत्मा उड़ जाये) तो मेरे पसेमान्दगान (बीवी-बच्चों) की थोड़ी-बहुत ख़बर लेते रहियेगा।" प्रेमचन्द तो तैयार हो रहे थे, किन्तु शिवरानी देवी ऐसा नहीं चाहती थीं, क्योंकि पति की सेहत इसके लायक़ नहीं समझती थीं। "मैं सोचती थी कि अगर वह जेल जायेंगे तो उनकी क्या हालत होगी। इसका ख़्याल ही मुझे सिहरा देता था। मगर उनके सामने उसका विरोध भी नहीं कर सकती थी, क्योंकि इसमें कायरता थी... मैं स्वयं सोचती कि बच्चे जेल जाने के लायक़ नहीं और उनको जेल जाने देना चाहती नहीं थी, तब सवाल आता कि आख़िर जेल जाये

तो कौन? उसमें आगे बढ़ना मेरा काम था, इसकी भी व्यवस्था बनी।" सो शिवरानी देवी नवम्बर १६३० में जेल चली गयीं और प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र कुमार को लिखा: "'मैं जाने का इरादा कर रहा था, पर उन्होंने जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।"

प्रेमचन्द अपनी शक्ति के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन में योग दे रहे थे और अपने 'हंस' पत्र को उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम का एक अस्त्र बना दिया था, यद्यपि उसमें लगातार घाटा उठाना पड़ रहा था। २५ फ़रवरी १६२५ को निगम के नाम अपने पत्र में लिखा: "प्रेस में काम नहीं, रिसाला (पत्रिका) घाट पर चलता है, किताबों की काफ़ी बिक्री नहीं..." १७ जून १६३२ के पत्र में यह लिखा कि "'हंस' का ख़ास नम्बर निकालने का इरादा है। लेकिन ज़मानत का मसला है। आर्डिनेंस का इआदा (पुनरावृत्ति) होगा और हमारे हाथ-पांव फिर बंध जायेंगे। देखिये चे मी शवद (क्या होता है)।" ऐसा ही हुआ भी। ब्रिटिश सरकार पूरे ज़ोर से दमन-चक्र चला रही थी। १५ अगस्त १६३२ को जैनेन्द्र कुमार के नाम लिखे पत्र में उन्होंने बताया: "'हंस' पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायेगी। पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गयी। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है। पर मैनेजर साहिब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत मांगी... अगर ज़मानत उठ गयी तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायेगी... अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायेगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रामेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज़ लेना नहीं चाहता।" कितनी कठिनाई से पत्रिका निकाल रहे थे प्रेमचन्द! ज़मानत न दे सके तो 'हंस' को बन्द करना पड़ा। इसके कारण प्रेस में काम की कमी हो गयी, क्योंकि 'हंस' वहीं छपना था। इसी कमी को पूरा करने और अपने राष्ट्रीय विचारों को अभिव्यक्ति दे पाने के ख़्याल से उन्होंने 'जागरण' साप्ताहिक निकालना आरम्भ किया। जैनेन्द्र के नाम १५ अगस्त १६३२ के पत्र में ही लिखा: "पहला अंक जन्माष्टमी को निकलेगा... धन का अभाव है। 'हंस' में कई हज़ार का घाटा उठा चुका हूं। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को रोक न सका। कोशिश कर रहा हूं कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हज़ारों का घाटा होगा। पर करूं क्या। यहां तो जीवन

ही एक लम्बा घाटा है।" हां, यह बात सोलह आने सही थी। 'जागरण' निकालने लगे और किसी तरह 'हंस' की ज़मानत भरकर उसे भी फिर से छापने लगे। १५ अक्तूबर १९३२ के पत्र में निगम को लिखा: "'हंस' की ज़मानत दाख़िल कर रहा हूं। एक सूरत निकल आई है। 'जागरण' हफ़्तेवार (साप्ताहिक) में ख़ूब चपत पड़ रही है। मगर हिम्मत किये निकाले जाता हूं। देखिये ऊंट किस करवट बैठता है..." और ७ दिसम्बर १९३२ को जैनेन्द्र कुमार को लिखा: "'जागरण' बड़ा पेटू है और 'हंस' पैसे खाने में शेर..."

प्रेस, 'हंस' और 'जागरण'—इन तीनों के कारण प्रेमचन्द का नाक में दम था। किताबों और कहानियों के प्रकाशन से जो थोड़ी-सी आमदनी होती थी, इसका अधिकतर भाग भी इन्हीं की भेंट हो जाता था और वह बड़ी मुश्किल से अपने परिवार का पेट भर पाते थे। ख़ुद बीमार रहते थे, परिवार में भी दुख-दर्द आते रहते थे और उधर सिर पर ऋण भी चढ़ता जाता था। २४ अक्तूबर १९३३ को जैनेन्द को लिखा: "वेतन तो पूरा नहीं पड़ता। काग़ज़ के कई सौ रुपये बाक़ी पड़े हुए हैं। ख़र्च पांच सौ रुपये महीने का, आमदनी कुल मिलाकर चार सौ रुपये से ज़्यादा नहीं। मैं अपनी ख़ामियों को समझ रहा हूं। अपनी ग़लतियों को देख रहा हूं। पर यह आशा है कि शायद कुछ हो जाय। हिम्मत बांधे हुए हूं।" १४ फ़रवरी १९३४ को लिखा: "सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हज़ार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियां अकारथ हो गयीं... कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ़ देखने में काटा। मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बड़ी ग़लती थी।" अपनी इसी भूल को सुधारने और अपना आर्थिक बोझ कम करने के लिये प्रेमचन्द ने फ़िल्म-जगत में जाने की विवशता को स्वीकार किया, यद्यपि मन में यह विचार भी था कि फ़िल्मों के माध्यम से वह अधिक लोगों तक, विशेषकर अनपढ़ देहातियों तक अपने विचार पहुंचा सकेंगे। यही तर्क उन्होंने शिवरानी देवी के सामने प्रस्तुत किया: "फ़िल्म के माध्यम से हर जगह के लोग फ़ायदा उठा सकते हैं।" जैनेन्द्र को ३० अप्रैल १९३४ के पत्र में लिखा: "बम्बई की एक फ़िल्म कम्पनी मुझे बुला रही है... मैं उस अवस्था को पहुंच गया हूं, जब मेरे लिये हां के सिवा कोई उपाय नहीं रह गया... 'जागरण' और 'हंस' मज़े से चलेंगे और पैसों का संकट टल जायेगा।" पत्नी से भी यही कहा:

"मजबूरी भी तो एक बला है।" सो प्रेमचन्द 'जागरण' का सम्पादन-भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौंपकर और 'हंस' का बम्बई से स्वयं सम्पादन करते रहने का विचार मन में लेकर अजंटा, सिनेटोन लिमिटिड में काम करने के लिये ४ जून १९३४ को बम्बई पहुंचे। किन्तु फ़िल्मी दुनिया में भी उन्हें काफ़ी कटु अनुभव हुए। आम लोगों तक अच्छे विचार पहुंचाने का स्वप्न पूरा न हो सका। २८ नवम्बर १९३४ के एक पत्र में जैनेन्द्र को लिखा: "फ़िल्मी हाल क्या लिखूं। 'मिल' यहां पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरे होते नज़र नहीं आते। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियां बनाते आये हैं, उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी (अशिष्टता) को यह लोग एंटरटेनमेंट वैल्यू (मनोरंज) कहते हैं... राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यन्त्र, नक़ली लड़ाई, बोसे-बाज़ी—यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियां लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे, लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चले या न चले: यह साल तो पूरा करना ही है। क़र्ज़दार हो गया था। क़र्ज़ा पटा दूंगा। मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं, उधर मन ही नहीं जाता। यहां से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहां धन नहीं है मगर सन्तोष अवश्य है। यहां तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूं।"

'मिल' फ़िल्म की कहानी में प्रेमचन्द ने मज़दूर की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला था। पहले तो डायरेक्टर-प्रोड्यूसर ने उनकी कहानी को बिगाड़ा और फिर ब्रिटिश सरकार के सेंसर ने बहुत-से परिवर्तन करवाये, जिससे कहानी और बिगड़ी तथा फिर भी फ़िल्म को उन प्रान्तों में दिखाने की अनुमति नहीं मिली, जहां अधिक मज़दूर थे। इसका नाम बदलकर 'मज़दूर' कर दिया गया। जैनेन्द्र ने फ़िल्म देखी, पसन्द नहीं आयी। प्रेमचन्द ने लिखा: "'मज़दूर' तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूं, नहीं भी कह सकता। इसके बाद एक रोमांस जा रहा है (यह सम्भवत: राजपूताने की वीर-कथा थी, जिसपर 'नवजीवन' नाम की फ़िल्म बनी)। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा आया हूं। 'मज़दूर' में भी मैं इतना थोड़ा-सा आया हूं कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डायरेक्टर सब कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह क्यों न हो, यहां डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल

सकती... इसका यही जवाब है,... अच्छा साहब। हमारा सलाम लीजिये। हम घर जाते हैं। वही मैं कर रहा हूं। मई के अन्त में बन्दा काशी में उपन्यास लिख रहा होगा।" और प्रेमचन्द ३ अप्रैल १९३५ को बम्बई से रवाना हो गये। उन्होंने जिस उपन्यास का उक्त दोनों पत्रों में उल्लेख किया है, वह 'गोदान' था, जिसे 'कर्मभूमि' के बाद उन्होंने १९३२ में ही लिखना आरम्भ कर दिया था, किन्तु जो 'हंस' और फिर 'जागरण' तथा प्रेस की परेशानियों के कारण पूरा नहीं हो पा रहा था। आख़िर जून १९३६ में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसने प्रेमचन्द को उनकी कला के शिखर पर पहुंचा दिया। इस उपन्यास के बाद उन्होंने 'मंगल सूत्र' शुरू कर दिया था, जो यदि पूरा हो जाता, तो आत्म-कथात्मक उपन्यास होता और उसमें प्रेमचन्द सम्भवतः अपने जीवन और युग के सभी पक्षों को किसी न किसी रूप तथा किसी न किसी सीमा तक समेट लेते। पर, यह हो न सका, क्योंकि जून १९३६ के मध्य से प्रेमचन्द के पुराने पेचिश और जलोदर के रोग ने उग्र रूप लेना आरम्भ कर दिया था (गोर्की को भी तपेदिक ने कभी चैन नहीं लेने दिया था और इस कारण वह बहुत वर्ष तक रूस से दूर रहने को भी विवश हुए थे), जो धीरे-धीरे बढ़ता ही गया, क़ाबू में न आया और आख़िर उनकी जान लेकर ही रहा। किन्तु इतनी सख़्त बीमारी और शारीरिक कमज़ोरी के बावजूद प्रेमचन्द अपने कार्य-क्षेत्र में डटे रहे। निरन्तर गिरते हुए स्वास्थ्य के दिनों में ही उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की अध्यक्षता की और भारतीय साहित्य को एक नया मोड़ देने में योग दिया, 'महाजनी सभ्यता' नामक अपना प्रसिद्ध लेख लिखा, जिसमें खुलकर समाज के वर्ग-विभाजन को स्वीकार किया, बहुत कमज़ोर होते हुए भी गोर्की के निधन पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने 'आज' कार्यालय में आयोजित शोक-सभा में गये और जब सेठ गोविन्ददास के 'स्वातंत्र्य सिद्धांत' नाटक के प्रकाशन के कारण संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने 'हंस' से एक हज़ार रुपये की ज़मानत मांगी और साहित्य परिषद ने (जिसे प्रेमचन्द ने आर्थिक कठिनाइयों से तंग आकर 'हंस' सौंप दिया था और 'जागरण' का १९३५ के अन्त में प्रकाशन बन्द कर दिया था) ज़मानत न भरकर पत्र को बन्द करने का निर्णय किया, तो उन्होंने किसी तरह 'हंस' को जीवित रखने के लिये, जिसे वह अपने बेटे की तरह प्यार करते थे, ज़मानत भरने की व्यवस्था की। पत्नी से अनुरोध करके कहा: "रानी, तुम 'हंस' की ज़मानत जमा कर दो,

देशों ने १७-१८ वीं शताब्दी में ही औद्योगिक क्रान्ति करके पूंजीवाद के पथ पर क़दम बढ़ाने शुरू कर दिये थे और फलतः सशक्त होते हुए पूंजीपति वर्ग ने बादशाहों और सामन्तों की सत्ता को अधिकाधिक सीमित करके अधिकतर राजनीतिक शक्ति अपने हाथों में ले ली थी, वहां रूस में स्थिति बिल्कुल भिन्न बनी रही। रूस में पूंजीवाद का विकास १९ वीं शताब्दी के अन्त में ही अधिक ज़ोर से शुरू हुआ। रूस में तो १८६१ तक भूदास-प्रथा भी बनी रही और क़ानूनी तौर पर इसका उन्मूलन हो जाने के काफ़ी समय बाद तक इसके अवशेषों से मुक्ति नहीं मिल सकी। रूस का ज़ार, जो ख़ुद सबसे बड़ा सामन्त था, अपना निरंकुश शासन बनाये रहा। इसलिये राजनीतिक, व्यक्तिगत, प्रेस, श्रम और श्रम-संगठनों से सम्बन्धित जो स्वतन्त्रतायें पश्चिमी देशों के लोग बहुत पहले से ही प्राप्त कर चुके थे, रूस में उनका नाम लेना भी विद्रोह माना जाता था। फिर भी एक ओर तो जहां सजग बुद्धिजीवी ऐसी स्वतन्त्रतायें पाने, निरंकुश शासन का अन्त करके अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना करने को उत्सुक थे, वहां दूसरी ओर किसान लोग भी सामन्तों-ज़मींदारों के शिकंजे से निजात पाना चाहते थे। चूंकि तत्कालीन रूस में प्रभावपूर्ण पूंजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग का जन्म नहीं हुआ था, इसलिये राजनीतिक संघर्ष का अधिकतर बोझ कुलीनों, विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के बुद्धिजीवियों और उनके निर्देशन में अथवा स्वतःस्फूर्त ढंग से किसानों को उठाना पड़ा। १८२५ का विद्रोह, जो दिसम्बर महीने में होने के कारण दिसम्बरवादी कहलाता है, कुलीन बुद्धिजीवियों और फ़ौजी अफ़सरों का विद्रोह था। इनमें से अधिकतर विद्रोही फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति के विचारों, उसके प्रचारकों और साहित्यकारों की रचनाओं से प्रभावित तथा अनुप्रेरित थे। इस विद्रोह के अगुओं में अनेक ऐसे फ़ौजी अफ़सर थे, जो १८१२ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में नेपोलियन के रूस से खदेड़े जाने के बाद उसके विरुद्ध यूरोप में लड़ी गयी लड़ाइयों में भाग ले चुके थे, बरसों यूरोप में रहे थे और रूस से सर्वथा भिन्न वहां के राजनैतिक वातावरण में सांस ले चुके थे। वे वहां से राजनीतिक-सामाजिक स्वतन्त्रताओं की "छूत" अपने साथ लेकर आये थे। ज़ार निकोलाई प्रथम ने कुलीन क्रान्तिकारियों और बुद्धिजीवियों का यह विद्रोह कुचल दिया और वह मुख्यतः कुचला इसलिये गया कि दिसम्बरवादी जनता से दूर थे, उन्होंने जनता को अपने साथ नहीं लिया था, फिर भी उनका यह विश्वास कि "चिंगारी ज्वाला बनेगी" सत्य सिद्ध हुआ। रूस

के श्रेष्ठतम सपूतों ने भूदास-प्रथा के उन्मूलन, किसानों की मुक्ति और ज़ार की तानाशाही के अन्त का संघर्ष जारी रखा। अ० इ० हर्ज़ेन (१८१२–१८७०) और उनका अनुकरण करनेवालों ने दिसम्बरवादियों की परम्परा को आगे बढ़ाया। हर्ज़ेन के कुछ बाद न० ग० चेर्निशेव्स्की (१८२८–१८८९) जैसे महान क्रान्तिकारी-जनवादी ने रूस के राजनीतिक संघर्ष का निर्देशन किया। वास्तव में तो हर्ज़ेन और चेर्निशेव्स्की को ही नरोदवादी विचारधारा के जन्मदाता माना जाता है। किसानों के कम्यून पर आधारित समाजवाद का विचार सबसे पहले हर्ज़ेन ने प्रस्तुत किया था। वह मानते थे कि पश्चिमी यूरोप से भिन्न, रूस पूंजीवाद की यातनापूर्ण अवस्था से बच सकता है और किसान-कम्यून के आधार पर समाजवाद की मंज़िल तक पहुंच सकता है। कुछ समय बाद महान क्रान्तिकारी-जनवादी चेर्निशेव्स्की ने किसानों की क्रान्ति की आवश्यकता और अनिवार्यता को सिद्ध किया। मोटे तौर पर नरोदवादियों की विचारधारा के मुख्य लक्षण ये थे –

१) उन्होंने रूस में पूंजीवाद की भूमिका से केवल इन्कार ही नहीं किया, बल्कि अहितकर माना और यह भी कहा कि इसके लिये रूस में ज़मीन ही नहीं है;

२) चूंकि रूस में भूमि मुख्यतः अलग-अलग किसानों के हाथों में नहीं, बल्कि ओब्श्चीना यानी किसान-समुदाय या कम्यून अथवा पंचायत के अधिकार में थी, इसलिये नरोदवादी मानते थे कि इसी समुदाय के आधार पर रूस में समाजवाद की स्थापना होगी;

३) पूंजीवाद की आवश्यकता और उसकी प्रगतिशील भूमिका से इन्कार और गांव तथा वहां के समुदाय को ही समाजवाद की ओर संक्रमण का आधार बनाने के कारण उन्होंने मज़दूर वर्ग की भूमिका के महत्त्व की अवहेलना की और किसानों के बल पर ही क्रान्ति करने की बात सोची;

४) उन्होंने क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर आंका और यह माना कि जनसाधारण नहीं, बल्कि प्रमुख व्यक्ति और उनके कुछ अनुयायी ही इतिहास का निर्माण करते हैं।

जैसा कि इतिहास ने बाद में सिद्ध किया, नरोदवादियों के चिन्तन और सिद्धान्तों में बहुत-सी त्रुटियां थीं और ग़लत सिद्धान्तों के कारण ही उन्होंने ग़लत कार्य-नीति भी अपनाई। यह मानते हुए कि किसानों को दो-तीन सालों में क्रान्ति के लिये तैयार किया जा सकता है और इस तरह ज़ारशाही की समाप्ति के बाद गांवों के समुदायों के आधार पर समाजवाद

की स्थापना की जा सकती है, नरोदवादी बुद्धिजीवियों ने "नरोद" यानी जनता में जाकर प्रचार-कार्य आरम्भ किया। १८७४ में जनता में प्रचार का यह आन्दोलन विशेषतः बहुत ज़ोर से उभरा। अध्यापकों, डाक्टरों, कृषिविज्ञों और कारीगरों के रूप में सैकड़ों बुद्धिजीवी देहातों में जाकर प्रचार-कार्य करने लगे। किन्तु ज़ारशाही ने इसी साल के अन्त में इस तरह के एक हज़ार प्रचारक बुद्धिजीवियों को गिरफ़्तार करके इस आन्दोलन को दबा दिया।

इस असफलता से निराश होकर, किन्तु फिर भी संघर्ष जारी रखने के इच्छुक कुछ बुद्धिजीवी क्रान्तिकारियों ने आतंकवादी मार्ग अपनाने का आग्रह किया। इन लोगों का ख़्याल था कि ज़ार और दूसरे उच्च अधिकारियों की हत्या करके रूस में क्रान्ति हो सकेगी। किन्तु कुछ दूसरे लोग इस बात से सहमत नहीं थे और इसलिये १८७९ में इसी आतंकवादी नीति के प्रश्न पर नरोदवादियों में फूट पड़ गयी और प्लेख़ानोव तथा उनके कुछ साथी इस आन्दोलन से अलग हो गये। फिर भी पिछली शताब्दी के ९ वें दशक तक नरोदवादी आन्दोलन ही रूस के राजनीतिक क्षितिज पर छाया रहा। यह वही समय था जब तरुण गोर्की ने जगह-जगह काम करते हुए अपनी राजनीतिक शिक्षा प्राप्त की और नरोदनिक ही उनके पहले राजनीतिक गुरु बने।

जैसा कि गोर्की ने अपने लेख 'लेखन-कार्य सम्बन्धी बातचीत' में स्वयं लिखा है, नरोदवादियों के साथ उनका प्रथम परिचय कज़ान आने के पूर्व नीज्नी नोव्गोरोद में ही हो गया था। यहीं उनके एक मण्डल की बैठक में जाने पर उन्हें यह पता चला था कि "रूसी व्यक्ति मुख्य रूप से सामुदायिक भावना रखनेवाला व्यक्ति है और इसलिये गांवों में किसानों के 'कम्यून' अर्थात समुदाय या पंचायत के अधिकार बढ़ाये जायें, ताकि सभी लोग उसमें शामिल हो सकें। जब हर व्यक्ति को ज़मीन का टुकड़ा मिल जायेगा, तो सभी मैत्रीपूर्ण और अच्छे ढंग से रहने लगेंगे... गांव के जीवन और इस बारे में मैं तब बिल्कुल यह नहीं जानता था कि कम्यून क्या होता है। किन्तु मैं इस बात को बहुत अच्छी तरह अनुभव करता था कि जीवन कठिन है और मुझे यह बात बहुत अच्छी लगी कि मैं ऐसे देश में रहता हूं, जहां आसानी और अच्छे ढंग से जीवन बिताया जा सकता है तथा ऐसा करना बहुत आसान है—सभी लोगों को, मुझे भी ग्राम-समुदाय अथवा कम्यून में शामिल हो जाना चाहिये।"

स्पष्ट है कि तरुण गोर्की नरोदवादियों की ओर इसलिये खिंचे कि ये लोग रूस के जनसाधारण का भाग्य बदलना चाहते थे, इस उद्देश्य की पूर्त्ति का सीधा-सादा रास्ता बताते थे और चूंकि गोर्की स्वयं भी जीवन में बहुत-सी कटुता और तिक्तता के भुक्त-भोगी थे, इसलिये उनके मन में सुखी जीवन की प्रबल इच्छा का होना सर्वथा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूरी तरह तर्कसंगत था। १८८४ से १८८८ तक गोर्की कज़ान नगर में रहे, जहां जीवन के विश्वविद्यालयों में ही अनुभवों की शिक्षा पाते रहे। इस चार वर्षों के दौरान वह नरोदवादियों के अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में आये। अपनी आत्मकथात्मक त्रयी के तीसरे खण्ड 'मेरे विश्वविद्यालय' में हमें इसकी विस्तृत चर्चा मिलती है। उदाहरणार्थ गोर्की हमें यह बतलाते हैं कि उन्होंने "षड्यन्त्रकारी काम" में कब पहले पहल भाग लिया। जैसा कि पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है, ऐसा गोर्की के कज़ान पहुंचने के कुछ समय बाद तब हुआ, जब उस घर में से, जहां गोर्की रहते थे, दो आदमी – फ़ौजी अफ़सर स्मिर्नोव और फ़ौजी मुरातोव गुप्त छापाख़ाना लगाने के लिये गिरफ़्तार कर लिये गये और गोर्की को इस बात की सूचना देने के लिये उनके नरोदवादी साथी तीख़ोन के पास भेजा गया। इसके कुछ ही समय बाद अन्द्रेई देरेन्कोव और नरोदवादी विचारधारा रखनेवाले विद्यार्थियों के साथ गोर्की का परिचय हुआ। ये विद्यार्थी देरेन्कोव की दुकान के पिछवाड़े में सरकार द्वारा ज़ब्त की गयी और गैरक़ानूनी पुस्तकों के "हानिकारक पुस्तकालय" की किताबें पढ़ने के लिये जमा होते थे। इन विद्यार्थियों में अक्सर गर्मागर्म बहसें होतीं जो मुश्किल से ही गोर्की के कुछ पल्ले पड़तीं। 'मेरे विश्वविद्यालय' में ही उन्होंने लिखा है –

"अटपटे शब्दों के वाक्-प्रवाह में उनका तर्क यों डूब जाता, जैसे किसी ग़रीब परिवार में पकनेवाले शोरबे में मांस के इक्के-दुक्के टुकड़े... पर एक चीज़ मैं अवश्य अनुभव करता था कि ये लोग हमारे जीवन को बदलना चाहते हैं, उसे बेहतर बनाना चाहते हैं... जिन समस्याओं को वे हल करना चाहते थे, उनकी जानकारी मुझे अवश्य हो जाती थी। अतः उनके प्रयास की सफलता मेरे लिये गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी का विषय बन जाती थी। कभी-कभी मेरे ही अव्यक्त विचार उन तर्कों में मुखरित होते। मैं उन लोगों के प्रति ऐसे असीम श्रद्धा-भावना से भर जाता, जैसे मुक्ति का आश्वासन देनेवाले के प्रति कारागार में पड़ा बन्दी।"

यहां इस बात का उल्लेख भी दिलचस्प होगा कि यद्यपि गोर्की स्वयं

विचार उन्हें अपनी ओर खींचने लगे थे। इस प्रक्रिया के आरम्भ होने का हल्का-सा आभास तो हमें गोर्की के कज़ानवास के समय तब भी मिलता है, जब मार्क्सवादी फ़ेदोसेयेव से उनकी भेंट हुई और फ़ेदोसेयेव ने गोर्की से कहा कि वह बेकरी में नरोदवाद के प्रचार में बेकार समय नष्ट कर रहे हैं। गोर्की स्वयं भी ऐसा अनुभव करने लगे थे और फ़ेदोसेयेव से फिर मिलकर अपने मन की शंकायें दूर करना चाहते थे। किन्तु परिस्थितियों ने कुछ ऐसी करवट ली कि उनकी फिर भेंट न हो सकी।

१८९० के आस-पास युवा गोर्की राजनीतिक विचारों की दृष्टि से कुहासे और अस्पष्टता के दौर से गुज़र रहे थे। इसी अस्पष्टता को दूर करने और अपने देश की जनता को समझ पाने के उद्देश्य से वह रूस-यात्रा पर निकल पड़े। घूमते-घामते जब वह १८९१ की पतझर में जार्जिया की राजधानी तिफ़लिस (अब त्बिलीसी) पहुंचे, तो वहां बिताये गये समय ने उनके जीवन पर बहुत गहरी छाप अंकित की और सम्भवतः उनके जीवन का भावी पथ निर्धारित किया। यहीं उन्होंने अपने एक साथी अ० म० काल्यूज्नी की सलाह पर अपनी पहली कहानी 'मकर चुद्रा' लिखी। यहीं, मिस्तरी फ़्योदोर अफ़ानास्येव के साथ एक ही क्वार्टर में, क्रान्तिकारी विचार रखनेवाले मज़दूरों के "कम्यून" में रहते हुए युवा गोर्की ने वर्ग असंगतियों और मज़दूर-आन्दोलन पर गहन चिन्तन किया। छः वर्ष बाद, जब १८९८ में इसी मिस्तरी अफ़ानास्येव के मण्डल पर मुक़दमा चला तो एक गवाह इवान मागालोव ने अपने बयान में और बातों के साथ-साथ यह भी कहा: "पेशकोव की बातचीत और तर्क-वितर्क को याद करते हुए मैं यह भी कहूंगा कि वह निस्सन्देह रूप से मज़दूरों के प्रचार-कार्य में भाग लेता था। वह अक्सर, अत्यधिक और बहुत ही उग्रता से मज़दूरों के शोषण की बात करता था, इस विषय को बहुत ही दूर तक ले जाता था।" पुलिस विभाग की सामग्री पर आधारित 'गोर्की का क्रान्तिकारी पथ' पुस्तक में हमें उक्त मुक़दमे के बारे में यह वाक्य पढ़ने को मिलता है—"उसके साथ (अर्थात पेशकोव के साथ) रहनेवाला और सम्भवतः उससे प्रभावित अफ़ानास्येव, जैसा कि पता चला, सामाजिक-जनवादी प्रचार-कार्य में भाग लेता था..." पुलिस विभाग वाले इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि "पेशकोव की गतिविधि निश्चय ही अपराध-पूर्ण थी और इस गतिविधि का विषय सामाजिक-जनवादी प्रचार था।" गोर्की किस सीमा तक और किस तरह का सामाजिक-जनवादी यानी

मार्क्सवादी प्रचार करते थे, यह कहना कठिन है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि नरोदवादी विचारधारा का जादू लगभग टूट चुका था और वह निरन्तर बढ़ते और सशक्त होते हुए मज़दूर-आन्दोलन की भूमिका को अधिकाधिक समझने लगे थे। १८९५ में लिखी गयी अपनी 'चेल्काश' कहानी में उन्होंने ख़ुद भी नरोदवादियों द्वारा आदर्श रूप में प्रस्तुत किये जानेवाले किसान पर ज़ोरदार चोट की। इस कहानी में गोर्की ने चोर चेल्काश को किसान गव्रीला से बेहतर दिखाया है, क्योंकि वह किसान की लालची और स्वार्थ-पूर्ण प्रवृत्ति से मुक्त है।

इस तरह हम देखते हैं कि युवा गोर्की सभी लोगों के जीवन को बदलने, उसे अधिक सुखी बनाने का जो मार्ग खोज रहे थे, उन्हें वह अभी तक नहीं मिला था। उन्हें मार्क्सवाद में वह मुक्ति-मार्ग दिखाई देने लगा था। गोर्की ने 'लेखन-कार्य सम्बन्धी बातचीत' लेख में उन्होंने स्वयं अपनी उस समय की स्थिति को इन शब्दों में व्यक्त किया है: "जीवन के घटनाचक्र के बारे में मेरे 'दृष्टिकोणों' का धीरे-धीरे और कठिनाई से विकास हुआ। कुछ हद तक मेरी खानाबदोशी की ज़िन्दगी, प्रभावों के बाहुल्य, विधिवत शिक्षा के अभाव और आत्म-शिक्षा के लिये समय की कमी के कारण ऐसा हुआ। 'आर्थिक प्रगति' में मेरी कम रुचि थी और वह सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति की मेरी समझ के प्रतिकूल भी जाती थी। ज़ाहिर है कि यह नरोदवाद की घुट्टी का असर था।" गोर्की के गम्भीर और जाने-माने मर्मज्ञ ब० ब्यालिक और अमरीकी अनुसन्धानकर्त्ता अ० काउंस भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि १९ वीं शताब्दी के अन्त में ही गोर्की ने मार्क्सवादी विचारधारा में रूस का मुक्ति-मार्ग देखा और इसे अपनाया। कुछ दूसरे ढंग से हम यों भी कह सकते हैं कि १९ वीं शताब्दी के अन्त और २० वीं शताब्दी के आरम्भ में ही मार्क्सवादियों के साथ गोर्की के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए और यद्यपि वह १९०५ में ही बोल्शेविक अथवा कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने, तथापि १९ वीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने मार्क्सवाद की कुछ स्थापनाओं को स्वीकार कर लिया था और वह सामाजिक-जनवादियों यानी कम्युनिस्टों की आर्थिक सहायता भी करने लगे थे।

१९०१ में प्रकाशित गोर्की के 'मेश्चाने' ('करवट' के नाम से हिन्दी में प्रकाशित) नाटक में गोर्की ने मज़दूर वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में नील का बिम्ब प्रस्तुत किया। आगे चलकर १९०७ में उन्होंने दुनिया

को 'मां' जैसा अमर उपन्यास दिया और साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्त्तक बने, जिसने विश्व-साहित्य को किसी न किसी रूप में कमोबेश प्रभावित किया है।

तो ऐसा था रूस का राजनीतिक वातावरण, जिसमें गोर्की की चेतना ने धीरे-धीरे एक निश्चित रूप ग्रहण किया। उन्होंने अन्त में मार्क्सवादी विचारधारा और रूस की बोल्शेविक पार्टी के साथ अपना भाग्य जोड़ दिया। इसी पार्टी के नेतृत्व में १९१७ की अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति हुई, जिसने पूंजीशाही का तख़्ता उलटकर समाजवादी राज्य की स्थापना की और इस तरह एक नयी सभ्यता का सूत्रपात हुआ। कहा जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में गोर्की ने लगभग वैसी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, जैसी लेनिन ने राजनीति के क्षेत्र में।

* * *

प्रेमचन्द के समय के भारत का राजनीतिक वातावरण गोर्की के रूस की तुलना में कहीं अधिक उलझा हुआ और रूस से बहुत भिन्न भी था। हां, दोनों देशों के राजनीतिक वातावरण में एक महत्त्वपूर्ण समानता ज़रूर थी—दोनों देश उग्र संघर्ष के युग में से गुज़र रहे थे। किन्तु रूस में यदि ज़ारशाही अथवा सामन्तशाही के विरुद्ध संघर्ष हो रहा था, जिसने बाद में पूंजीपतियों के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष का रूप लिया और उसने समाजवाद की स्थापना को अपना ध्येय बनाया, तो भारतीयों का संघर्ष मुख्यतः विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लक्षित और संकेन्द्रित था और सामन्तवाद तथा मन्द गति से पनपते पूंजीवाद के विरुद्ध बहुत उग्र और स्पष्ट रूप धारण नहीं कर पाया था। इसलिये युवा गोर्की जिस राजनीतिक संघर्ष के साक्षी हुए, जिसके साथ उनका बहुत निकट का सम्बन्ध रहा, कहना चाहिये कि वह स्वयं जिसकी लपटों में से गुज़रे, प्रेमचन्द उस संघर्ष के साक्षी नहीं हो पाये और व्यक्तिगत जीवन की भिन्न परिस्थितियों के कारण गोर्की की भांति उस संघर्ष की भट्ठी में तप भी नहीं सके। पर संघर्ष-साक्षी तो प्रेमचन्द भी हुए, सो भी बड़े ही विराट और व्यापक तथा विचित्र संघर्ष के और उस संघर्ष की आग में उन्होंने अपनी आहुति भी दी और लेखक के रूप में तो अपने अन्तर की पूरी शक्ति ही उस संघर्ष को अर्पित कर दी। तो वह संघर्ष क्या था, उसका स्वरूप क्या था,

प्रेमचन्द का उसके प्रति क्या रवैया था और उनके रचनाकार पर उसने क्या छाप अंकित की थी?

बात यह है कि लेखक के रूप में जब युवा धनपतराय उर्फ़ नवाबराय या प्रेमचन्द अपने पहले क़दम बढ़ा रहे थे, जब उनकी राजनीतिक-सामाजिक चेतना रूप ग्रहण कर रही थी, तो भारत के राजनीतिक रंगमंच पर मुख्य रूप से केवल एक ही संस्था यानी इंडियन नेशनल कांग्रेस विद्यमान थी। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में यह संस्था अपने विकास की पहली अवस्था में से गुज़र रही थी और मोटे तौर पर इसका काम एक वार्षिक सम्मेलन करके याचनापूर्ण शब्दों में सरकार से भारतीय जीवन में कुछ सुधार करने के लिये प्रस्ताव ही पास कर देना था। ऐसा इसलिये था कि इस संस्था की स्थापना ही इस उद्देश्य से की गयी थी। इसकी स्थापना एक अंग्रेज़ सरकारी अफ़सर ह्यूम ने की थी और सो भी भारत में अंग्रेज़ी राज्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ही। ऐसी आवश्यकता क्यों पैदा हुई, यह समझने के लिये हमें भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के बाद के इतिहास पर नज़र डालनी पड़ेगी। हुआ यह था, जैसा कि कार्ल मार्क्स ने अपने भारत-सम्बन्धी लेखों में ब्रिटिश राज की घातक और तबाहकुन नीति का वर्णन करने के बाद इस बात पर ज़ोर दिया है कि इंगलैंड लुटेरू हितों से प्रेरित होकर और बड़े बेहूदा ढंग से उन्हें अमली शक्ल देता हुआ भी हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति कर रहा है, उस क्रान्ति को लाने में इतिहास का चेतनाहीन साधन बन रहा है। उस सामाजिक क्रान्ति ने अपना रंग दिखाना शुरू किया था। परिवहन और संचार-साधनों, पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी प्रशासन प्रणाली के विकास, पश्चिम की नयी प्रविधि, नयी वैज्ञानिक प्रगति और नये राजनीतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक विचारों के प्रचार के फलस्वरूप १८ वीं शताब्दी के अन्त और १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में नयी सामाजिक चेतना आई और पुरानी रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों, धार्मिक पाखण्डों, ढोंगों और रस्म-रिवाजों के क़िले ढहने लगे, राष्ट्रीयतावाद की नींव पड़ी और लोग पराधीनता के अभिशाप के बारे में भी सजग हुए। इसके परिणामस्वरूप जहां अंग्रेज़ों द्वारा वैधानिक ढंग से राजनीतिक सुधारों की आशा पैदा हुई, वहां कुछ प्रान्तों में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ सामन्तों, जागीरदारों और आम जनता के बढ़ते असन्तोष ने उग्र रूप धारण किया और वह १८५७ के महान विद्रोह, भारतीय आज़ादी के पहले विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ। भारतीयों का

यह विद्रोह अथवा स्वतन्त्रता-संग्राम रूस में दिसम्बरवादियों के विद्रोह के समान, किन्तु उससे कहीं अधिक व्यापक था। चूंकि दिसम्बरवादियों की तरह भारतीय विद्रोह की जड़ें भी जनता में गहरी नहीं थीं, इसलिये अंग्रेज़ साम्राज्यवादी उसे कुचलने में सफल हो गये। यह विद्रोह तो कुचल दिया गया, किन्तु सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की जो प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी, उसे रोकना सम्भव नहीं था। अंग्रेज़ शासकों और भारतीय शासितों के बीच की खाई अधिक चौड़ी होती गयी। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पूंजीपति वर्ग सामने आने लगा, जिसके हित अंग्रेज़ पूंजीपति वर्ग के हितों से टकराते थे। यह वर्ग भी अपनी उन्नति के लिये आज़ादी चाहता था। इसी बीच शिक्षित मध्य वर्ग का अच्छा विकास हो गया था और इस वर्ग में शामिल वकील, डाक्टर, अध्यापक-प्रोफ़ेसर, प्रशासक और अन्य ऐसे ही व्यवसायों के सजग बुद्धिजीवी भी रूसी बुद्धिजीवियों के समान स्वतन्त्रता-संघर्ष में सक्रिय भाग लेने लगे थे। इस वर्ग ने १८७५ में अपनी पहली प्रतिनिधि संस्था इंडियन एसोसियेशन बनाई थी, जो एक तरह से इंडियन नेशनल कांग्रेस का बीज रूप थी। इसी समय किसानों की हालत भी बहुत ख़राब हो गयी थी, दस्तकार तबाह हो गये थे, इसलिये ज़मीन और खेती में लगे लोगों का बोझ बढ़ गया था, बहुत-से अकाल पड़ चुके थे। सो १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फिर से बड़े पैमाने पर कोई राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ होने या राजनीतिक विस्फोट होने के लिये अनुकूल वातावरण पैदा हो रहा था। साम्राज्यवादी अंग्रेज़ सरकार को ऐसे विस्फोट से बचाने के लिये, भारतीयों के व्यापक असन्तोष को क्रान्ति की दिशा से हटाकर वैधानिक कार्यों की ओर लगाने की आवश्यकता थी। अंग्रेज़ सरकार के अफ़सर ह्यूम ने इसी उद्देश्य से इंडियन नेशनल कांग्रेस बनायी। इस संस्था में औद्योगीकरण के कुछ विकास के फलस्वरूप अस्तित्व में आनेवाले नये पूंजीपति वर्ग, ज़मींदारों के कुछ प्रगतिशील प्रतिनिधियों और उच्च मध्य वर्ग के ख़ुशहाल प्रतिनिधियों ने भाग लेना शुरू किया। इन लोगों के हित अंग्रेज़ सरकार के हितों से यदि कहीं मेल खाते थे, तो कहीं टकराते भी थे। फिर इनमें, विशेषतः बुद्धिजीवियों में तो राष्ट्रीय चेतना भी थी। इसके अलावा जब उन्हें यह भी एहसास हुआ कि वे करोड़ों भारतीयों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, तो आम लोगों की हालत को कुछ सुधारने के प्रश्न की ओर से आंख नहीं मूंद सकते थे। इस तरह अपने बहुत ही

शान्तिपूर्ण, विनम्र और सरकार को अपनी वफ़ादारी का यक़ीन दिलानेवाले प्रस्तावों के बावजूद यह संस्था भारतीयों की भावनाओं को व्यक्त करने लगी और चार साल के बाद तो इसकी स्थापना के लिये आशीर्वाद देनेवाले वायसराय लार्ड डफ़रिंग ने भारत से विदा होते समय कांग्रेस को "विद्रोही संस्था" भी कहा। किन्तु लार्ड डफ़रिंग के ऐसा फ़तवा देने के बावजूद कांग्रेस ने अपने अस्तित्व के पहले बीस सालों में यानी १८८५ से १६०५ तक कोई विशेष विद्रोह भावना प्रकट नहीं की। कांग्रेस के अधिकृत इतिहास में यह कहा गया है कि "१८८५ से १६०५ तक कांग्रेस की बुनियाद वैध आन्दोलन के प्रति कांग्रेसियों का अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता पर अटल विश्वास ही था।" अंग्रेज़ सरकार की न्यायप्रियता में कांग्रेसियों का यह विश्वास रूस के किसानों-मज़दूरों के ६ जनवरी १६०५ के पहले, अपने ज़ार में उस विश्वास के समान था, जब वे अपनी याचिका लेकर ज़ार की सेवा में उपस्थित होना चाहते थे और जब उनकी इस इच्छा के जवाब में उनके ख़ून की होली खेली गयी थी। किन्तु साम्राज्यवादी सरकार ने जब कांग्रेस की बहुत ही मामूली मांगों की भी अवहेलना की, तो उसमें एक असन्तुष्ट दल बनने लगा, जिसका नेतृत्व तिलक ने किया। इस तरह कांग्रेस में धीरे-धीरे नर्म और गर्म दो दल बन गये। गर्म दल के तिलक और नर्म दल के नेता गोखले थे। इन दोनों दलों का मुख्य अन्तर यह था कि गर्म दल वाले राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति को अपना मुख्य ध्येय मानते थे और सामाजिक सुधारों को अंग्रेज़ों का नहीं, भारतीयों का अपना मामला समझते थे। नर्म दल वालों की स्थिति इसके उलट थी। कुल मिलाकर, कांग्रेस में आन्तरिक असन्तोष बढ़ रहा था और साथ ही आम जनता की आज़ादी की आकांक्षा तथा असन्तोष गुप्त षड्यन्त्रकारी कार्यों का रूप लेने लगा था। इस लहर ने बंगाल में बहुत तीव्रता दिखाई, जिससे भयभीत और आतंकित होकर कठोर वायसराय लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को दो हिस्सों में बांटने का निर्णय किया। इसके विरोध में १६०५ में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी चीज़ों के प्रचार का आन्दोलन चला। तो कहा जा सकता है कि १६०५ का वर्ष रूस के लिये ही नहीं, भारत के लिये भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। १६०६ में कलकत्ता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें तिलक के नेतृत्व में गर्म दल वालों के दबाव से "स्वराज्य" का प्रस्ताव पास किया गया, जिसका अर्थ था ब्रिटिश साम्राज्य में ही स्वशासन का अधिकार। इस

तरह कांग्रेस एक ओर तो प्रस्ताव पास करने तक ही सीमित न रहकर जन-आन्दोलन के क्षेत्र में आ गयी और दूसरी ओर उसने स्वराज्य के रूप में ठोस राजनीतिक मांग की।

ब्रिटिश सरकार के सामने अब तीन ख़तरे थे—एक तो स्वदेशी आन्दोलन, दूसरे षड्यन्त्रकारी कार्रवाइयों का आतंक और तीसरे कांग्रेस का गर्म दल और उसके नेता तिलक। उसने स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं को मुक़दमे चलाये बिना ही निर्वासित कर दिया, बहुत-से आतंकवादी क्रांतिकारियों को फांसी के तख़्ते पर लटका दिया और जुलाई १६०८ में तिलक पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाकर तथा जूरी के भारतीय सदस्यों के निर्णय की उपेक्षा करके अंग्रेज़ सदस्यों के निर्णयानुसार उन्हें छः साल के लिये बर्मा में निर्वासित कर दिया। इस निर्णय के विरोध में बम्बई के मज़दूरों ने एक आम हड़ताल की, जो भारतीय मज़दूरों की पहली राजनीतिक कार्रवाई थी और जिसका लेनिन ने हार्दिक स्वागत किया था।

इस तरह अंग्रेज़ सरकार ने दमन-चक्र चलाकर उपर्युक्त तीनों ख़तरों से मोर्चा लिया और साथ ही कांग्रेस के नर्म दल वालों तथा आम जनता को सन्तुष्ट करने के लिये कुछ वैधानिक सुधार किये, जिनसे केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-सभाओं में भारतीयों को कुछ अधिक स्थान मिल गये। १६०६ से १६११ तक इंडियन नेशनल कांग्रेस और भारतीय राजनीतिक आन्दोलन ने जो प्रगति की, वह अगले कुछ वर्षों में क़ायम न रह सकी और हम कह सकते हैं कि इस तरह भारतीय राजनीतिक आन्दोलन की पहली अवस्था समाप्त हो गयी।

२० वीं शताब्दी के आरम्भ से १६१२ तक की अवधि को लेखक के रूप में प्रेमचन्द के विकास की भी पहली अवस्था माना जा सकता है। प्रेमचन्द की तरुणावस्था के समय भारत में जो जागृति आ रही थी, वह मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक थी। पश्चिमी शिक्षा, नये दृष्टिकोणों, प्राविधिक और वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप पुरानी रूढ़ियां और अंधविश्वास टूट रहे थे तथा समाज-सुधार के बहुत-से कार्य हो रहे थे। इसलिये प्रेमचन्द की मानसिक चेतना के विकास को भी समाज-सुधार की ऐसी प्रवृत्तियों ने ही अधिक प्रभावित किया। इस दृष्टि से युवा गोर्की और युवा प्रेमचन्द के देशगत वातावरण और उनके व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों में मूलभूत अन्तर था। १६ वीं शताब्दी के अन्त के रूस में राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष ज़ोरों पर था, जबकि भारत में इसका आरम्भ

ही था और समाज-सुधार पर ज़्यादा ज़ोर था। जैसा कि हम देख चुके हैं, किशोर और तरुण गोर्की तो "जीवन की राहों पर" तरह-तरह के पापड़ बेल रहे थे, जीवन के "विश्वविद्यालयों" में शिक्षा पा रहे थे, राजनीतिक कार्यों, नरोदवादियों की षड्यन्त्रकारी कार्रवाइयों में हिस्सा ले रहे थे, जेल भी जा रहे थे, मार्क्सवादियों के सम्पर्क में आ रहे थे। दूसरी ओर प्रेमचन्द दुःख-मुसीबतों और आर्थिक अभावों को सहन करते हुए भी हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी कर रहे थे, उसे पूरी करके स्कूल मास्टर हो गये थे और इसी दिशा में कुछ अधिक आगे बढ़ने की इच्छा से १६०२ में इलाहाबाद के ट्रेनिंग कालेज में दाख़िल हुए और उसे पास करने के बाद १६०५ में ट्रेनिंग कालेज के हेडमास्टर नियुक्त हो गये। इस प्रकार के व्यक्तिगत और वस्तुगत अन्तरों के बावजूद यह सही है कि दोनों युवा लेखक अपने सृजन की पहली अवस्था में भी जीवन को बदलने, उसे बेहतर बनाने और समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित थे।

प्रेमचन्द ने नियमित रूप से तो २० वीं शताब्दी के आरम्भ से ही लिखना शुरू किया था, यद्यपि कुछ प्रयास इससे पहले भी कर चुके थे। चूंकि भारत में वह समाज-सुधार का युग था, इसलिये प्रेमचन्द ने भी सामाजिक समस्याओं की ओर ही विशेष ध्यान दिया। यहां यह उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि गोर्की ने कहानीकार के रूप में अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया, जबकि प्रेमचन्द ने प्रहसन लेखक और उपन्यासकार के रूप में। प्रेमचन्द ने अपने पहले ही उपन्यास 'देवस्थान रहस्य' में धर्म के ठेकेदारों की क़लई खोली और यह दिखाया कि धर्म की आड़ में मन्दिरों-मठों के पुजारी और पंडे कैसे रंग-रलियां मनाते हैं, वेश्याओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और भले घरों की स्त्रियों को अपने जाल में फांसकर प्रेयसियां बनाते हैं। प्रेमचन्द ने साधारण जनता की आंखों में धूल झोंकने और उन्हें धर्म की आड़ में मूर्ख बनानेवाले धर्म के ठेकेदारों पर तीखी चोट करके बड़े साहस का परिचय दिया। अपने दूसरे उपन्यास 'प्रेमा' में उन्होंने विधवा नारी की समस्या को केन्द्र-बिन्दु बनाया। प्रेमचन्द का तीसरा उपन्यास 'किशना' था, जिसकी अब कोई प्रति उपलब्ध नहीं, किन्तु 'ज़माना' पत्रिका में प्रकाशित उसकी आलोचना के इन शब्दों से कि "यह भी एक नावल है और हमारे सोशाल रिफ़ार्म से ताल्लुक रखता है" यह स्पष्ट हो जाता है कि १६०७ तक, जब यह

नावल छपा, प्रेमचन्द सामाजिक विषयों की ग्रोर ही ध्यान देते रहे।

किन्तु १९०७ का वर्ष प्रेमचन्द के कृतित्व में एक नयी करवट लेकर ग्राया। हम देख चुके हैं कि १९०५ के बाद ही भारत की राजनीति में तेज़ी ग्राने लगी थी, १९०६ में पहली बार "स्वराज्य" की मांग की गयी ग्रौर तिलक के नेतृत्व में ग्राज़ादी के सवाल ने ग्रधिक महत्त्व प्राप्त किया। ग्रपने उपन्यासों में तो प्रेमचन्द समाज-सुधार की समस्याग्रों को ही उठाते रहे, परन्तु 'रफ़्तारे ज़माना' ('समय-चक्र') स्तम्भ के ग्रन्तर्गत 'ज़माना' पत्रिका में छपनेवाले स्तम्भ में वह राजनीतिक विषयों को ग्रधिक महत्त्व देने लगे। इन लेखों के कुछ शीर्षक ये थे—'क़ौमी जलसे', 'स्वदेशी', 'तकसीमे बंगाल (बंगाल-विभाजन) को रोकने की उम्मीदें ख़त्म', 'हिन्दुस्तान में हड़तालें', 'हिन्दुस्तान पर पार्लियामेन्ट में बहस', 'तकसीमे बंगाल के ख़िलाफ़ कलकत्ता में जलसा' ग्रादि। इन लेखों की सामग्री से यह पता चलता है कि प्रेमचन्द देश के राजनीतिक जीवन को निरन्तर ध्यान से देख ग्रौर समझ रहे थे। इस राजनीतिक चेतना का उनके कृतित्व पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। जब देश में स्वराज्य की मांग हुई, तो प्रेमचन्द जैसे सजग लेखक को यह समझने में देर न लगी कि हमारी मुख्य समस्या ग्रंग्रेज़ों के शासन से मुक्ति पाना है। इसलिये ग्राम जनता में देश-प्रेम ग्रौर स्वतन्त्रता-प्रेम जगाना चाहिये। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये उन्होंने ग्रपनी क़लम को, जिससे वह ग्रभी तक समाज के गले-सड़े ग्रंगों पर ग्रापरेशन करने का काम लेते रहे थे, देश-प्रेम की ग्रोर मोड़ा। वह उपन्यास के क्षेत्र से कहानी के क्षेत्र की ग्रोर ग्राये ग्रौर उन्होंने ग्रपनी पहली कहानी 'दुनिया का सबसे ग्रनमोल रत्न' लिखी। यह देश-प्रेम से ग्रोत-प्रोत है ग्रौर इसके बाद इसी ढंग की, बिल्कुल नये ढंग की कुछ ग्रौर कहानियां, जैसे कि 'शेख़ मख़मूर', 'यही मेरा वतन है', 'सिलाये मातम' ('मातम का फल') तथा 'इश्के दुनिया ग्रौर हुब्बे वतन' ('सांसारिक प्रेम ग्रौर देश-प्रेम') ग्रादि पाठकों के सामने ग्रायीं। इन्हीं कहानियों को मिलाकर १९०८ में 'सोज़े वतन' के नाम से उनका कहानी-संग्रह प्रकाशित हुग्रा जिसने उस वक़्त के उर्दू-साहित्य में बड़ी हलचल पैदा की। इस संग्रह के बारे में नवम्बर १९०८ के 'ज़माना' के ग्रंक में यह राय ज़ाहिर की गयी: "हम बिला मुबालिग़ा (ग्रतिशयोक्ति के बिना) कह सकते हैं कि 'सोज़े वतन' ग्राज की तसानीफ़ (रचनाग्रों) में ग्रपनी तर्ज़ (ग्रपने ढंग) की बेहतरीन तसनीफ़

कहलाने की मुस्तहिक (अधिकारी) हैं... उर्दू में ऐसी तसनीफ़ के लिये हमारी आंखें देर से मुन्तज़िर थीं।" उन दिनों की प्रतिष्ठित हिन्दी-पत्रिका 'सरस्वती' ने भी इसके बारे में यह लिखा: "इन्हें (इन कहानियों को) पढ़कर देशभक्ति का पवित्र भाव हृदय में अंकुरित हो जाता है। आजकल ऐसे क़िस्सों की बड़ी ज़रूरत है।"... प्रसंगवश हम यहां इस बात का संकेत कर देना भी उचित समझते हैं कि स्वतन्त्रताप्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत प्रेमचन्द की ये कहानियां गोर्की द्वारा अपने कृतित्व की पहली अवस्था में रोमानी रंग में लिखी गयी 'मकर चुद्रा', 'बूढ़ी इज़रगिल' और 'बाज़ का गीत' जैसी कहानियों की याद दिलाती हैं। इनमें भी आज़ादी की छटपटाहट, कुछ कर गुज़रने की तीव्र चाह, वीरता और साहस की अनुभूति होती है। इन कहानियों के अलावा इन्हीं दिनों प्रेमचन्द ने देशभक्ति की भावनाओं को ही आधार बनाकर गैरीबाल्डी का रेखाचित्र और स्वामी विवेकानन्द पर भी एक लेख लिखा। तो इस तरह देश में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप प्रेमचन्द सामाजिक उत्थान से सम्बन्धित विषय-वस्तुओं के घेरे से बाहर निकलकर स्वतन्त्रता-सेनानियों की पांत में आ खड़े हुए और अपनी क़लम से आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने लगे। राष्ट्र की राजनीतिक चेतना ने उन्हें लेखक के रूप में अपने कर्त्तव्य की चेतना करवाई और अपनी लेखनी से वह उस चेतना को जनसाधारण तक पहुंचाने लगे। किन्तु जब सैनिक मोर्चे पर आता है, तो उसे शत्रु का वार भी सहना पड़ता है। ऐसा वार हुआ भी और 'सोज़े वतन' को लेकर उन्हें सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा।

यहां इस तथ्य पर विशेष ज़ोर देना आवश्यक है कि 'सोज़े वतन' के प्रकाशन के समय शिक्षा-विभाग में स्कूलों के सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर होते हुए ऐसी कहानियां लिखना काफ़ी साहस का काम था। उन्हें नौकरी से अलग किया जा सकता था, कोई और भी दण्ड दिया जा सकता था। एक बड़ी गिरस्ती का बोझ उनके कन्धों पर था और बेरोज़गारी की हालत में उनपर क्या बीतती, इसकी कल्पना करना भी कुछ कठिन नहीं। कोई दूसरा आदमी होता, तो शायद लिखना ही बन्द कर देता। किन्तु प्रेमचन्द ने न केवल ऐसा नहीं किया, बल्कि अधिक उत्साह से लिखने लगे। भारतीयों में सामाजिक जागृति लाना और देशभक्ति की भावना का संचार करना, अपनी लेखनी का अस्त्र के रूप में उपयोग करना तो उनका लक्ष्य

ही बन गया था, मगर अब उन्होंने उस अस्त्र को छिपी चोट करनेवाला बना लिया। एक ओर तो उनकी सामाजिक कहानियों और उपन्यासों में पहले से कहीं अधिक गहनता आने लगी तो दूसरी ओर उन्होंने राजपूतों के जीवन से सम्बन्धित क़िस्से-कहानियों पर आधारित रचनाओं द्वारा राष्ट्रीय गौरव और मान-सम्मान तथा आत्म-बलिदान की भावना पैदा करने का कार्य जारी रखा। इस दृष्टि से इस अवधि में लिखी गयी उनकी 'आल्हा', 'रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि कहानियां और 'वरदान' उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों को लेकर प्रेमचन्द पर पुनरुत्थानवादी होने का आरोप लगाने का कुछ समालोचकों का प्रयास उचित नहीं है। बात यह है कि हर जाति को कठिन समय में ऐसी सांस्कृतिक जड़ों का सहारा लेने की आवश्यकता अनुभव होती है, जो उन्हें अपने महत्त्व का विश्वास दिलायें और हताशा, अपमान और हीन-भावना को कम करें। प्रेमचन्द ने ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर तथा अंग्रेज़ी सरकार के नये वार से अपने को बचाने के लिये ऐसी कहानियां लिखी थीं। गोर्की ने भी रूपकों के उपयोग से स्वतन्त्रता की तीव्र ललक को ज़ोरदार अभिव्यक्ति दी थी।

१९१६ से १९३५ तक की अवधि को हम मोटे तौर पर भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष का दूसरा दौर मान सकते हैं। यह वह अवधि थी, जिसमें स्वतन्त्रता-संग्राम की नेतृत्वकारी संस्था के रूप में इंडियन नेशनल कांग्रेस एक वास्तविक जुझारू संस्था बनी, वह विराट जन-आन्दोलन के क्षेत्र में उतरी, उसने अपने संघर्ष की एक सुनिश्चित नीति बनायी, वह सारे देश में राष्ट्रीय चेतना लाने में सफल हुई, उसने राजनीतिक संघर्ष के अनूठे उपायों से सारी दुनिया को चकित किया और सद्भावनापूर्ण लोगों की सहानुभूति प्राप्त की। इस संघर्ष में मोहनदास कर्मचन्द गांधी या गांधी जी की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही।

गांधी जी ने कांग्रेस के १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में पहली बार भाग लिया था। वह दक्षिण अफ़्रीका में सत्याग्रह के अपने अस्त्र का सफल उपयोग और अनुभव प्राप्त कर चुके थे और भारत में भी चम्पारन और गुजरात में खेड़ा के किसानों में भी उनका यह अस्त्र कामयाब रहा था। जब साम्राज्यवादी अंग्रेज़ी सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय भारतीयों की सहायता पाने के लिये दिये गये आश्वासनों की केवल अवहेलना ही नहीं की, बल्कि "भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित अपराध-

पूर्ण षड्यन्त्रों की जांच के लिये" १६१७ रोलेट कमेटी भी नियुक्त कर दी, जिसका मुख्य कार्य ऐसे क़ानून बनाना था, जो भारतीयों के मूलभूत अधिकारों पर प्रबल प्रहार करते, तो सारा देश बेचैन हो उठा। गांधी जी ने रोलेट कमेटी के ऐसे क़ानूनों के विरुद्ध ६ अप्रैल १६१६ को सत्याग्रह शुरू किया और १० अप्रैल को उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। किन्तु कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयां होने के कारण उन्होंने सत्याग्रह को जल्द ही स्थगित कर दिया। फिर भी देश भर में जलसों-जुलूसों और हड़तालों की जो ज़ोरदार बाढ़ आई, उससे विचलित विदेशी सत्ता ने ख़ूब दमन-चक्र चलाया। अमृतसर के जलियांवाले बाग़ का हत्याकाण्ड इस अत्याचार की चरम सीमा था। सारा देश इससे क्षुब्ध हो उठा। विश्वयुद्ध के आरम्भ में दिये गये वचनों की उपेक्षा और बाद में ऐसे अत्याचार के विरुद्ध भारतीय जनता के पुंजीभूत रोष को अभिव्यक्ति देने के लिये गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ करने की बात सोची। १६२० के इस असहयोग आन्दोलन का यद्यपि अन्त तो कुछ निराशाजनक और विवादपूर्ण रहा, क्योंकि कुछ हिंसक घटनाओं, विशेषकर चौरा-चौरी गांव की घटना के कारण गांधी जी ने १६२२ में इसे समाप्त करने का निर्णय किया था, तथापि इसने कुछ समय के लिये तो अंग्रेज़ी सरकार की पूरी मशीनरी को हिलाकर रख दिया था। जनसाधारण ने जिस उत्साह से इसमें भाग लिया, जैसे हज़ारों लोग जेलों में गये, सरकारी पदवियों-उपाधियों को त्यागा और सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार किया गया, उसने भारतीय जनता की शक्ति को एक नये और अनूठे रूप में प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द ने अपने कृतित्व में ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन में भी इस आन्दोलन की पुकार की ओर कान दिया तथा बड़ा आत्म-त्याग भी किया। इसी असहयोग आन्दोलन का सार और लक्ष्य स्पष्ट करने के उद्देश्य से सारे देश का दौरा करते हुए गांधी जी गोरखपुर भी पहुंचे। प्रेमचन्द उन दिनों वहां सरकारी स्कूल में अध्यापक थे। बीमार होते हुए भी वह अपनी पत्नी और दोनों बच्चों के साथ गांधी जी का भाषण सुनने गये, बहुत प्रभावित होकर लौटे और बरसों की पक्की सरकारी नौकरी छोड़ दी।

निश्चय ही भारत के एक ग़रीब अध्यापक और ग़रीब साहित्य-सेवी के लिये यह बहुत बड़ा बलिदान था।

१६२० का असहयोग-आन्दोलन असफल रहा और इसी प्रकार एक दशक बाद यानी १६३० में फिर कांग्रेस और गांधी जी के ही नेतृत्व में

आरम्भ होनेवाला असहयोग-आन्दोलन भी साम्राज्यवादी सरकार के अत्याचारों और बातचीत को लम्बा करके मामले को लटकाने तथा अपने लिये उपयुक्त अवसर पाने और शक्ति बटोरकर प्रहार करने की छल-नीति तथा अन्य कई कारणों से १९३४ में असफल हो गया। फिर भी इस आन्दोलन ने १९२० के आन्दोलन की तुलना में कहीं अधिक राष्ट्रीय चेतना, अनुशासन, व्यापकता और धैर्य का परिचय दिया। पुरुषों ने ही नहीं, नारियों और बच्चों तक ने इसमें भाग लिया। नारियों का योगदान तो विशेषतः उल्लेखनीय था। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक और लगभग सभी वर्गों और श्रेणियों के लोग इस आन्दोलन में खिंच आये थे।

सजग नागरिक और सजग लेखक प्रेमचन्द इतनी बड़ी राष्ट्रीय हलचल में मूक या उदासीन नहीं रह सकते थे। वह अपनी लेखनी की सारी शक्ति राष्ट्रीय चेतना और स्वतन्त्रता-संघर्ष को अर्पित कर 'रंगभूमि', 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यास एवं 'समर-यात्रा' जैसी कहानियां रच रहे थे, अपने लेखों द्वारा देश में जागृति ला रहे थे और ख़ुद जेल भी जाना चाहते थे। किन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उनकी पत्नी शिवरानी देवी उनसे बाज़ी मार ले गयी थीं।

प्रेमचन्द देश की आज़ादी के प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे, किन्तु देश को आज़ादी की लड़ाई में अभी कामयाबी नहीं मिल रही थी। असहयोग-आन्दोलन के दूसरी बार असफल होने पर फिर से निराशा का वातावरण छा गया और कांग्रेस के कुछ नेताओं ने केन्द्रीय विधान-सभा और फिर अंग्रेज़ों द्वारा लादे गये भारतीय शासन-विधान के अनुसार प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनावों में हिस्सा लेने का आग्रह किया। विधान से असन्तुष्ट होते हुए भी चुनावों में भाग लिया गया और जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहां शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथों में आई। मंत्रिमण्डल अभी बने भी नहीं थे कि ८ अक्तूबर १९३६ को प्रेमचन्द चल बसे।

गोर्की के रूस और प्रेमचन्द के भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि के मुख्य लक्षणों के आधार पर हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. दोनों देश भारी राजनीतिक हलचल की अवस्था में से गुज़र रहे थे;

२. युवा गोर्की की राजनीतिक चेतना को शुरू में नरोदवाद और फिर सामाजिक-जनवाद अर्थात मार्क्सवादी विचारों ने प्रभावित किया।

भारत के राजनीतिक क्षितिज पर इंडियन नेशनल कांग्रेस ही छाई रही। यह संस्था मुख्यतः बूर्जुग्रा ग्रौर पेटी-बुर्जुग्रा नेताग्रों के नेतृत्व में ग्रौर उनके चिन्तन तथा राजनीति के ग्रनुसार ही काम करती थी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने ग्रपनी 'ग्रात्म-कथा' में इस बात को बड़ी ईमानदारी से यों स्वीकार किया है: "मेरी राजनीति मेरे ग्रपने यानी बुर्जुग्रा वर्ग की थी। वास्तव में उस समय सारी (बहुत हद तक ग्राज भी) मुखरित राजनीति मध्य वर्गों की है ग्रौर गर्म तथा नर्म दलवाले समान रूप से उन्हीं के प्रतिनिधि थे ग्रौर तरह-तरह से इन्हीं की भलाई चाहते थे।"

कांग्रेस के संघर्ष के पहले दौर में ग्रगर गोखले ग्रौर विशेषकर तिलक की भूमिका प्रमुख रही, तो दूसरे दौर में गांधी जी ही सर्वमान्य ग्रौर प्रतिष्ठित नेता थे। उन्होंने सत्य, ग्रहिंसा, शान्तिपूर्ण प्रतिरोध ग्रौर ग्रसहयोग को ग्रपना ग्रस्त्र बनाया ग्रौर रचनात्मक कार्य के रूप में ग्रछूतोद्धार, नारी-उद्धार, खादी-प्रचार, ग्राम सुधार, साम्प्रदायिक मेल-जोल, नशेबन्दी, राष्ट्रीय शिक्षा ग्रौर दस्तकारियों के विकास को मुख्य कार्यक्रम माना। भारतीय परिवेश में गांधी जी ने सारे देश की श्रद्धा प्राप्त की ग्रौर उन्होंने बहुत ग्रधिक लोगों पर ग्रसर डाला। नेहरू जी ने ठीक ही लिखा है: "गांधी ने भारत के करोड़ों लोगों को कमोबेश प्रभावित किया, कुछ ने तो ग्रपने जीवन को पूरी तरह ही बदल डाला।" स्पष्ट है कि प्रेमचन्द भी ग्राज़ादी की लड़ाई लड़नेवाली मुख्य पार्टी के रूप में कांग्रेस ग्रौर उसकी राजनीति तथा उसके प्रमुखतम नेता के नाते गांधी जी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। वह प्रभावित हुए ग्रौर उनके रचनाकार पर इन दोनों बातों का गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु ग्रधिक महत्त्व की बात यह है कि प्रेमचन्द ने न तो कांग्रेस ग्रौर उसकी राजनीति तथा न ही गांधी जी के नेतृत्व को ग्रंध-भक्ति के रूप में कभी स्वीकार किया। वह तो ऐसी जन-पार्टी की प्रतीक्षा में थे, जो जनसाधारण की चिन्ता करती। गांधी जी पर बड़ी श्रद्धा रखते हुए भी वह उनकी भूलों की ग्रालोचना करने से नहीं घबराते थे। १९३० में ग्रारंभ हुए ग्रसहयोग ग्रान्दोलन के १९३४ में ग्रसफल हो जाने पर उन्होंने १६ ग्रप्रैल १९३४ के 'जागरण' में लिखा: "ग्रब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज़ को महात्मा जी भीतर की ग्रावाज़ कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके ग़लत होने की सम्भावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज़ नहीं

है, क्योंकि उसने एक से ज़्यादा अवसरों पर ग़लती की है।" किन्तु १९३४ में असहयोग-आन्दोलन के दूसरी बार असफल होने और उक्त पंक्तियां लिखने के पहले प्रेमचन्द कांग्रेस और गांधी जी के बहुत से विचारों और कार्यक्रमों का अपनी रचनाओं में समर्थन भी कर चुके थे। हमें ऐसा लगता है कि चूंकि कांग्रेस के अलावा उस समय देश में और कोई ऐसी बड़ी पार्टी नहीं थी, जो विदेशी सरकार से टक्कर लेती होती और देश के स्वतन्त्र होने की आशा बंधवाती, इसलिये प्रेमचन्द चाहे-अनचाहे उसकी ओर झुके बिना नहीं रह सकते थे। कारण कि देश की आज़ादी तो उनके लिये मुख्य बात थी। वह अच्छी तरह समझते थे कि आज़ाद हुए बिना भारत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक यानी किसी भी तरह की प्रगति नहीं कर सकता। किन्तु असली आज़ादी का अर्थ भी प्रेमचन्द को बिल्कुल स्पष्ट था। वह अंग्रेज़ शासक की जगह किसी भारतीय को गद्दी पर बिठा देने को स्वराज्य नहीं मानते थे। उन्हें ज़मींदारों और पूंजीपतियों के प्रभुत्व की आज़ादी स्वीकार्य नहीं थी। वह ग़रीबों, किसानों और मज़दूरों की सच्ची आर्थिक स्वतन्त्रता चाहते थे। इसीलिये १९३० के असहयोग-आन्दोलन के बाद जब कांग्रेस में समाजवादी पार्टी बनी और समाजवादी विचारों का अधिक प्रचार हुआ तो प्रेमचन्द को मानों नयी प्रेरणा और स्फूर्ति मिली। प्रेमचन्द के भारत से भिन्न रूस की राजनीति के कर्णधार लेनिन थे, जो मार्क्सवाद से पूरी तरह लैस थे और रूस की परिस्थितियों के अनुसार उसे व्यावहारिक रूप दे रहे थे;

३. लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी का स्पष्ट उद्देश्य ज़ारशाही और पूंजीशाही का अन्त करके समाजवादी राज्य की स्थापना करना था। किन्तु आज़ादी के बाद के भारत का रूप क्या होगा, भारतीय जनता और अधिकतर नेताओं को भी यह बात स्पष्ट नहीं थी। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का दृष्टिकोण कहीं अधिक सुलझा हुआ और तर्कसंगत प्रतीत होता है;

४. संघर्ष के उपाय या साधन के प्रश्न पर भी रूस और भारत के तत्कालीन दृष्टिकोणों में अन्तर था। रूस की बोल्शेविक पार्टी ने यद्यपि शान्तिपूर्ण संघर्ष के उपाय से इन्कार नहीं किया था, तथापि सशस्त्र क्रान्ति के लिये पूरी तैयारी की और इसी साधन के उपयोग से विजय पाई। भारत में अहिंसा का मार्ग अपनाया गया, जो सम्भवतः यहां की वस्तुगत परिस्थितियों के अधिक अनुकूल था और इसलिये इस मुख्य साधन से सम्बन्धित कांग्रेस और गांधी जी के अन्य कार्यक्रमों को स्वीकारना भी

आवश्यक हो गया, जिसका प्रेमचन्द के साहित्य-सृजन पर भी प्रभाव पड़ा ;

५. यद्यपि भारत में भी पूंजीवाद का कुछ विकास हो चुका था और मज़दूर वर्ग राजनीति में अपना योग देने लगा था, तथापि उसकी भूमिका रूस के मज़दूर वर्ग के समान नेतृत्वकारी नहीं थी। इसलिये गोर्की के साहित्य में मज़दूर वर्ग के नायक-नायिकाओं का होना स्वाभाविक और यथार्थ के अनुरूप है, किन्तु यदि प्रेमचन्द ऐसे नायक रचते, तो वे वास्तविकता से मेल न खाते। अतः जब प्रेमचन्द यह कहते हैं कि वह क़रीब-क़रीब बोल्शेविक विचारों के क़ायल हो गये हैं और बौद्धिक स्तर पर समाजवाद को उसके सीधे-सरल रूप में स्वीकार करते हुए अपने लेखों में उसका पक्ष-पोषण करते हैं, तब भी ललित साहित्य के क्षेत्र में भावनाओं के स्तर पर ऐसे सफल और प्रभावपूर्ण पात्रों की रचना करने में असमर्थ रहे। कारण स्पष्ट है—गोर्की के नायक-नायिकाओं के जो मूलरूप (prototype) रूस में विद्यमान थे, तत्कालीन भारत में यदि उनका अकाल नहीं, तो अभाव अवश्य था।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि गोर्की को भी नरोदवाद की भूल-भुलैयों में से गुज़रकर मार्क्सवाद के पथ पर आने के लिये काफ़ी कठिनाई, मानसिक दुविधाओं और यातनाओं का सामना करना पड़ा, तो प्रेमचन्द का विकास-पथ सम्भवतः और भी अधिक कठिन, असंगतिपूर्ण और यातनाप्रद था। अधिक कठिन इसलिये कि प्रेमचन्द के भारत का राजनीतिक वातावरण कहीं अधिक धुंधला, जटिल और असंगतिपूर्ण था। फिर भी प्रेमचन्द सही दिशा में बढ़ते गये, साधारण जनता का अधिकाधिक सही प्रतिनिधित्व करते गये और प्रगतिशील शक्तियों का अधिकाधिक साथ देते गये। स्वतन्त्रता का सही अर्थ और समाज की श्रेणी और वर्ग-रचना तथा उनके हित-विरोध समझने के मामले में तो वह अपने युग के अनेक नेताओं से भी आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। यही उनके वैचारिक विकास और युग-चेतना की कसौटी है।

* * *

आर्थिक दृष्टि से गोर्की की चेतना को प्रभावित करनेवाला रूस दम तोड़ते सामन्तवाद और तेज़ी से विकसित होते पूंजीवाद के सन्धिकाल की विकट परिस्थितियों का रूस था। १८६८ में गोर्की के जन्म के सात साल

पहले यानी १८६१ में रूस में ऐतिहासिक महत्त्व की एक घटना घटी थी। रूस में भूदास-प्रथा का अन्त हुआ था, जो किसानों के लम्बे और ज़ोरदार संघर्ष तथा जागरूक बुद्धिजीवियों-क्रान्तिकारियों के समर्थन और सहयोग का परिणाम था। इससे रूस में सामन्तवाद के क्रमिक अन्त और पूंजीवाद के विकास के लिये ज़मीन तैयार होने लगी थी। यह सही है कि भूदास-प्रथा के विभिन्न अवशेष देर तक बने रहे और वे रूस में पूंजीवाद के विकास में बाधा डालते रहे, फिर भी रूस तेज़ी से आर्थिक विकास के मार्ग पर बढ़ने लगा। रूस में उत्पादन के पुराने साधन और तरीक़े बदलने लगे, फ़ैक्टरियों और कारख़ानों का तेज़ी से निर्माण होने लगा। लेनिन ने निम्न शब्दों में इस प्रक्रिया का बहुत ही सही मूल्यांकन किया है: "लकड़ी के हलों, पन-चक्कियों और हथकरघों का रूस तेज़ी से लोहे के हलों और गाहने की मशीनों, भाप की चक्कियों और भाप-चालित करघों के रूस में बदलने लगा।" हम कह सकते हैं कि रूस में औद्योगिक क्रान्ति होने लगी। इसका अर्थ यह था कि बड़े पैमाने के उद्योग कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों की जगह लेने लगे, हाथ के औज़ारों की जगह शक्ति-चालित मशीनों का अधिक उपयोग होने लगा।

मालों का उत्पादन मंडियों के लिये किया जाने लगा, भूदास-प्रथा की समाप्ति से बन्धन मुक्त हुए लोग अपने श्रम को आज़ादी से बेचने लगे और इस तरह श्रम भी अन्य मालों की तरह विनिमय-वस्तु बन गया और उसकी अन्य मालों की तरह ख़रीद-बिक्री होने लगी। श्रम की मांग और मज़दूरों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी।

औद्योगिक विकास के लिये यातायात और परिवहन के साधनों का विस्तार अनिवार्य शर्त है और इसलिये यदि १८६१ में रूस में रेलवे लाइनों की लम्बाई १,४८८ किलोमीटर थी, तो १८८० तक वह २१,२२५ किलोमीटर तक जा पहुंची।

बड़े पैमाने के आर्थिक विकास के लिये उचित ऋण और वित्त व्यवस्था भी बड़ी ज़रूरी है और इसलिये व्यापारिक बैंकों और ऋण-संस्थाओं की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी।

बड़े नगर और बड़े होने लगे और उनकी आबादी में तीव्र गति से वृद्धि हुई। अगर १८६३ में रूस की शहरी आबादी ६० लाख थी, तो १८८३ तक वह एक करोड़ हो गयी।

कृषि में भी पूंजीवादी तत्त्व अपना अधिकार जमाने लगे। इसका

मतलब यह था कि वहां भी पूंजीवादी प्रतियोगिता के लक्षण उभरे और बड़े किसानों ने छोटे किसानों को हड़पना शुरू किया। छोटे किसान अपनी ज़मीनें बेचकर सर्वहारा बनने और अपनी रोज़ी कमाने के लिये शहरों के कारख़ानों-फ़ैक्टरियों की ओर भागने लगे।

इन सब परिवर्तनों का नतीजा यह निकला कि रूस की आबादी का श्रेणी-विभाजन भी बदल गया और मुख्यतः दो वर्ग उभरकर सामने आने लगे – नगर और गांव का शोषक बुर्जुआ वर्ग और शोषित सर्वहारा वर्ग।

रूस में पूंजीवादी विकास के साथ-साथ उत्पादन की इस व्यवस्था की सभी असंगतियां, सभी दोष और अन्तर्विरोध भी प्रकट हुए। उदाहरण के लिये हम इस तथ्य को ले सकते हैं कि बड़े पैमाने के बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन ने छोटे और मझोले उद्यमों पर प्रहार किया और उनका अस्तित्व कठिन बना दिया और ऐसे उद्यमों से सम्बन्धित छोटी पूंजीवाले लोगों – कारीगरों और दस्तकारों – को बरबाद तथा बेरोज़गार कर दिया। बाल्य और तरुणावस्था के गोर्की समेत हज़ारों-लाखों लोगों को इस विषम आर्थिक परिस्थिति का सामना करना पड़ा। गोर्की की आत्मकथात्मक त्रयी के पहले भाग 'मेरा बचपन' के अध्ययन से हमें इस बात का पता चलता है कि कैसे नाना के कपड़े रंगने के घरेलू धंधे पर बड़े पैमाने के उत्पादन का कुप्रभाव पड़ रहा था और आख़िर वह धीरे-धीरे तबाह हो गया। गांवों के अधिकाधिक बरबाद होते हुए छोटे किसानों, शहरी कारीगरों और दस्तकारों और १८७७–१८७८ में सेना से मुक्त किये गये सैनिकों को मिलाकर तत्कालीन रूस में बेरोज़गार लोगों की बाढ़-सी आ गयी। पूंजीवाद की एक अन्य असंगति ने भी अपना रंग दिखाया। चूंकि पूंजीवाद के अन्तर्गत योजनाबद्ध उत्पादन नहीं होता, इसलिये मालों का अति-उत्पादन, बाजार की मंदी और आर्थिक संकट इसके आम लक्षण हैं। गोर्की की किशोर और तरुणावस्था के रूस में भी ऐसा ही हुआ। ९ वें दशक में आर्थिक संकट ने गम्भीर रूप ले लिया और फलतः बहुत-से नये कारख़ाने तबाह और बन्द हो गये, उनके मज़दूरों ने बेरोज़गारों की संख्या बढ़ाई और बहुत-से अन्य कारख़ानों में भी उत्पादन के कम हो जाने से काफ़ी तादाद में मज़दूरों की छुट्टी कर दी गयी। औद्योगिक उत्पादन में संकट के साथ-साथ कृषि-उत्पादन में भी संकट आया और इससे भी बेरोज़गारों की संख्या में वृद्धि हुई। ८ वें दशक के अन्त और ९ वें दशक के आरम्भ में हज़ारों बेरोज़गार आवारा लोग रूस

के शहरों में घूमते फिरते थे। गोर्की भी उन्हीं में से एक थे। तरुण पेशकोव जब विश्वविद्यालय में पढ़ने की इच्छा मन में संजोये हुए कज़ान पहुंचे, उस समय कज़ान की १ लाख २० हज़ार की ग्राबादी में २० हज़ार ऐसे ही बेरोज़गार ग्रौर ग्रावारा घूमनेवाले लोग थे। स्वयं गोर्की ने ग्रपनी उन दिनों की स्थिति का इन शब्दों में वर्णन किया है: "वहां पल्लेदारों, ग्रावारों ग्रौर उठाईगीरों के बीच मैं ग्रपने को दहकते ग्रंगारों में घुसेड़ दिये गये लोहे के टुकड़े के समान ग्रनुभव करता – मुझे हर दिन ढेरों बहुत ही तीव्र ग्रौर तीखी ग्रनुभूतियां प्राप्त होतीं।" गोर्की इन्हीं लोगों के बीच रहे ग्रौर उन्हें निकट से देखने-समझने के ग्रवसर के परिणामस्वरूप ही 'मकर चुद्रा', 'चेल्काश', 'कोनोवालोव', 'माल्वा', 'मेरा साथी' जैसी ऐसी ग्रद्भुत कहानियों का जन्म हुग्रा, जिनके बारे में लेव तोलस्तोय जैसे महान लेखक ने भी ग्रपनी डायरी में यह लिखा: "हम सब जानते हैं कि ग्रावारा लोग भी इन्सान ग्रौर हमारे भाई हैं, किन्तु शब्दों में। उन्होंने (गोर्की ने) उन्हें प्यार करते हुए उन्हें उनके सम्पूर्ण रूप में हमें दिखाया है ग्रौर हममें भी उनके प्रति प्यार जगाया है।"

तो ऐसी थी उस समय के रूस की ग्रार्थिक स्थिति, जब तरुण गोर्की ग्रनुभूतियों के कोष संचित कर रहे थे। छोटे ग्रौर मझोले उद्योगों की तबाही, छोटे किसानों की बरबादी ग्रौर ग्रन्य कारणों से बेरोज़गारों की ग्रत्यधिक वृद्धि की स्थिति से लाभ उठाते हुए पूंजीपति वर्ग मज़दूरों का ग्रधिकाधिक शोषण करने लगा। काम के दिन, जो पहले ही बहुत लम्बे होते थे, ग्रौर बढ़ा दिये गये तथा १८ घण्टे तक चलते थे, मज़दूरी बहुत कम दी जाती थी ग्रौर उसका ग्रधिकतर भाग जुर्मानों के रूप में काट लिया जाता था। मज़दूरों को कारख़ानों के मालिकों की दुकानों से सौदा ख़रीदने के लिये विवश किया जाता था ग्रौर वहां बाज़ार-भावों की तुलना में कहीं ग्रधिक क़ीमतें ली जाती थीं। कोढ़ में खाज वाली कहावत के ग्रनुसार, जब ९ वें दशक में ग्रार्थिक संकट के विकट होने पर बहुत बड़ी संख्या में मज़दूरों को काम से ग्रलग कर दिया गया, तो मज़दूरों के सब्र का प्याला छलक गया। यों तो ८ वें दशक में भी मज़दूरों ने ग्रपनी ग्रार्थिक रक्षा ग्रौर स्थिति-सुधार के लिये हड़तालें की थीं, किन्तु ९ वें दशक में उनका संघर्ष बहुत उग्र हो उठा। ७ जनवरी १८८५ को मोरोज़ोव के कारख़ाने में हुई हड़ताल मज़दूरों के इस रोष की चरम सीमा थी। मज़दूरों ने फ़ैक्टरी की इमारत तोड़ डाली, प्रबन्धकों के फ़्लैटों का

बुरा हाल कर दिया और डटकर सेना का मुक़ाबला किया। इसी के फलस्वरूप ज़ारशाही को १८८६ में मज़दूरों से कारख़ानों में लिये जानेवाले जुर्मानों से सम्बन्धित क़ानून बनाना पड़ा। लेनिन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "जब तक मज़दूर डटकर विरोध नहीं करने लगे, तब तक सरकार ने उन्हें राहत देने के लिये कुछ भी नहीं किया, चाहे फ़ैक्टरियों के पुराने तौर-तरीक़े कितने ही बेहूदा क्यों न थे।"

यहां रूस के औद्योगीकरण और मज़दूर-आन्दोलन के सम्बन्ध में दो विशेषताओं का उल्लेख करना बहुत ज़रूरी है। सोवियत और पश्चिमी इतिहासकारों ने भी इनपर ज़ोर दिया है। एक तो यह कि चूंकि पश्चिम की तुलना में रूस में बहुत देर से औद्योगीकरण आरम्भ हुआ, इसलिये पश्चिम के अनुभव से लाभ उठाते हुए रूस में बड़े कारख़ाने क़ायम हुए और तीन-चार दशकों में ही बड़ी तेज़ी से मज़दूर वर्ग का निर्माण हो गया, जबकि पश्चिम में इसी प्रक्रिया में सदियां लगीं। रूस में विदेशी पूंजी और विदेशी उद्योगपतियों ने इस प्रक्रिया को आसान बनाया। दूसरी बात यह है कि कारख़ानों के आकार बड़े होने से वहां मज़दूरों का जमाव भी कहीं अधिक हो सका और वे अपने आन्दोलन को अधिक संगठित रूप दे पाये। इसीलिये ६ वें दशक की अपनी हड़तालों में उन्हें काफ़ी कामयाबी भी मिली। किन्तु मज़दूरों का यह संघर्ष रक्षात्मक था और ज़ारशाही के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष से इसका नाता नहीं जुड़ा था। मज़दूरों को इस बात की चेतना नहीं हो पाई थी कि ज़ार की सरकार उनके विरुद्ध पूंजीपतियों और बड़े ज़मींदारों के हितों की ही चिन्ता और रक्षा करती है। अधिकतर मज़दूर-संगठन और सामाजिक-जनवादी मण्डल भी "अर्थ-वादियों" के प्रभाव में थे, जो मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष की आवश्यकता और केन्द्रित सर्वहारा पार्टी की स्थापना के लिये मज़दूर वर्ग के नेतृत्व से इन्कार करते थे। लेनिन के प्रयासों और उनकी रचनाओं ने जहां राजनीतिक दृष्टि से नरोदवादियों को, वहां आर्थिक दृष्टि से अर्थवादियों को पराजित करने तथा बिखरे हुए सामाजिक-जनवादी (मार्क्स-वादी) मण्डलों को एक जुझारू सर्वहारा पार्टी का रूप देने में निर्णायक योगदान किया। इस तरह वैज्ञानिक समाजवाद का रूसी मज़दूर-आन्दोलन और राजनीतिक संघर्ष के साथ सम्बन्ध जुड़ा और बाद में मज़दूर वर्ग ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाकर रूस की उत्पीड़ित जनता को ज़ार के शिकंजे से मुक्ति दिलायी। गोर्की के साहित्य के एक गम्भीर अध्ययनकर्त्ता

अ० वोल्कोव ने ठीक ही लिखा है: "इस युग (गोर्की के युग) की एक लाक्षणिक विशेषता यह है कि सर्वहारा रूस के मुक्ति-आन्दोलन का मुखिया बन गया। उसने ज़ारशाही के विरुद्ध संघर्ष का झंडा अपने पूर्वगामी क्रान्तिकारी-जनवादियों के हाथों से ले लिया।" इसी मज़दूर वर्ग और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में केवल रूस के ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के इतिहास में एक नये, समाजवादी युग का सूत्रपात हुआ। गोर्की ने रूस के आर्थिक-राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में मज़दूर वर्ग की निरन्तर बढ़ती हुई भूमिका के महत्त्व को समझा और उसे अपनी ज़ोरदार लेखनी की शक्ति अर्पित की।

हम कह सकते हैं कि यदि रूस की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियां वैसी न होतीं, जैसी थीं, यदि गोर्की उनके भुगत-भोगी न होते, यदि वह रूस के गांवों और कृषि के पुराने ढांचे को टूटते हुए न देख पाते, यदि मज़दूर-आन्दोलन की शक्ति और मार्क्सवादी विचारों की प्राणवत्ता के महत्त्व को जानने-समझने का उन्हें अवसर न मिलता, तो शायद वह न बनते, जो बने। उस समय के रूस की परिस्थितियों में ही गोर्की का जन्म हो सकता था।

* * *

गोर्की की मनोरचना और साहित्यिक पथ-दिशा को प्रभावित करनेवाले तत्कालीन रूस के समान प्रेमचन्द के भारत में भी पुराना आर्थिक ढांचा टूट रहा था, किन्तु उसके परिणाम रूस से भिन्न और कुछ सीमा तक तो उल्टी दिशा में हो रहे थे। बात यह है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक तो भारत उन्नत उद्योग-धन्धों और कृषि की मिली-जुली आर्थिक व्यवस्था वाला देश रहा। भारत के कुशल कारीगरों के हाथों बनी हुई चीज़ों की इंगलैंड और यूरोप के अन्य देशों में भी बड़ी खपत थी। किन्तु अठारहवीं सदी के अन्त में भारत से लूटी और व्यापार के नफ़े से प्राप्त की गयी बेशुमार दौलत की बदौलत पूंजी-निर्माण और साथ ही औद्योगिक क्रान्ति होने से वहां जो बड़े पैमाने के भाप-चालित कल-कारख़ानों का निर्माण शुरू हुआ, तो अंग्रेज़ व्यापारियों की जगह अंग्रेज़ उद्योगपतियों के हित अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। अब अंग्रेज़ उद्योगपतियों को अपने कारख़ानों के लिये कच्चे माल ख़रीदने और तैयार माल बेचने के लिये मंडियों की ज़रूरत महसूस हुई। चुनांचे साम्राज्यवादी अंग्रेज़ सरकार ने भारत के आर्थिक ढांचे को अपनी शोषणकारी आवश्यकता और नीति

के अनुकूल ढालना शुरू किया। स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुकरण करते हुए वह मशीनों की बनी हुई सस्ती चीज़ों को बेरोक-टोक भारत में भेजने लगी। हाथ की बनी हुई चीज़ें सस्ती मशीनी चीज़ों के मुक़ाबले में टिक नहीं सकीं और हस्तशिल्प बरबाद होते गये और यह क्रम अनेक दशकों तक चलता रहा। बेकार दस्तकारों-कारीगरों की संख्या बढ़ती गयी और चूंकि रूस की भांति भारत में बड़े पैमाने का औद्योगिक विकास छोटे धन्धों की जगह नहीं लेने लगा था, क्योंकि अंग्रेज़ उद्योगपतियों के हित इसके विरुद्ध थे, इसलिये बेरोज़गार दस्तकार शहरों को छोड़ गांवों की ओर भागने और खेतीबारी को जीविका का साधन बनाने लगे। रूस में भी दस्तकार और कारीगर बेरोज़गार हुए थे, मगर वे किसान नहीं, सर्वहारा बने थे, क्योंकि वहां यह पूंजीवाद के तीव्र विकास का परिणाम था। इतना ही नहीं, रूस के देहातों में पूंजीवादी तत्त्वों के आने पर छोटे किसान भी तबाह होकर गांवों को छोड़ने और सर्वहारा बनने को विवश हुए थे। रूस की भांति भारत में भी यातायात और परिवहन के साधनों का विकास होने लगा। किन्तु भारत में इस विकास के कारण और परिणाम भी भिन्न थे। रूस में तो पूंजीवादी उत्पादन की ज़रूरतें पूरी करने के लिये इनका विकास आवश्यक हुआ, जबकि भारत में विदेशी सरकार ने इसलिये इनके विकास की तरफ़ ध्यान दिया कि अपनी शासन-प्रणाली को अधिक अच्छे ढंग से चला सके, भारत के कृषिगत और दूसरे कच्चे मालों का इंगलैंड को निर्यात कर सके तथा इंगलैंड में बनी चीज़ों के लिये भारत की मंडी का अधिकाधिक विस्तार कर पाये। अपने ऐसे स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये ही अंग्रेज़ों ने ऋण और बैंक-प्रणाली, सिंचाई-व्यवस्था और प्रशासन-मशीन के लिये आवश्यक क्लर्क जुटाने के हेतु शिक्षा-प्रचार को भी प्रोत्साहन दिया। चूंकि भारत में औद्योगिक विकास अंग्रेज़ों के हितों के प्रतिकूल था, इसलिये उन्होंने न केवल इसकी अवहेलना की, बल्कि उसके विकास-मार्ग में जानबूझकर रोड़े भी अटकाये। नतीजा यह निकला कि अपने समृद्ध प्राकृतिक साधनों के आधार पर जिस भारत के लिये उन्नत उद्योगों और कृषि की सन्तुलित अर्थव्यवस्था वाला देश बनना सम्भव था, वह मुख्यतः पिछड़ी हुई खेती, बेहद ग़रीबी और बहुत ही नीचे जीवन-स्तर का देश बना रहा। यह सही है कि विदेशी सरकार के प्रतिरोध के बावजूद भी भारत में कुछ औद्योगिक विकास हुआ, मगर वह हल्के और उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में ही। भारी उद्योगों का कोई

उल्लेखनीय विकास नहीं हो सका और उनके बिना औद्योगिक, कहा जा सकता है, सन्तुलित आर्थिक प्रगति की नींव नहीं पड़ सकती। रजनी पामदत्त का यह मत बिल्कुल सही है कि "वर्तमान काल में, १९१४ के महायुद्ध के पहले और बाद में, विशेषतः बाद में, भारत में कुछ औद्योगिक विकास हुआ, किन्तु किसी भी अर्थ में इसी अवधि में यूरोप के प्रमुख देशों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।"

प्रथम महायुद्ध के दौरान ब्रिटेन में मालों के उत्पादन और जहाज़ों द्वारा सुरक्षित ढंग से उन्हें भारत तक पहुंचाने में जो कठिनाइयां पैदा हुईं, उनके कारण और भारत में बढ़ते राजनीतिक आन्दोलन के फलस्वरूप अंग्रेज़ सरकार को अपनी भारत-सम्बन्धी औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन करना पड़ा और इसलिये भारत में कुछ अधिक औद्योगिक विकास सम्भव हो सका। किन्तु इन सब बातों के बावजूद १९३६ में भी, भारत में इस्पात का अधिकतम उत्पादन ८ लाख ७९ हज़ार टन था, जो रजनी पामदत्त द्वारा दिये गये आंकड़ों के अनुसार तत्कालीन रूस से १९ गुना कम था। यदि हम इस बात को भी ध्यान में रखें कि भारत की आबादी रूस और विशेषतः यूरोप के अन्य छोटे देशों से तो कहीं अधिक थी, तो आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आबादी के प्रति व्यक्ति के हिसाब से औद्योगिक और कृषिगत उत्पादन भी बहुत कम था। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द के समय का भारत बहुत ही पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था का भारत था, जिसमें बड़े उद्योगों में काम करनेवाले मज़दूरों की कुल संख्या देश की आबादी का केवल डेढ़ प्रतिशत थी, रूस के कारख़ानों की तरह वहां मज़दूरों का बड़ा जमाव नहीं था, रूस की भांति इन कारख़ानों का राजधानी में और उसके आस-पास संकेन्द्रण नहीं था, बल्कि वे दूर बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में फैले हुए थे, इसलिये रूस की भांति भारत की राजनीति में अत्यधिक सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकते थे। साथ ही, गोर्की के रूस से भिन्न, भारत की पिछड़ी खेती पर आजीविका के लिये निर्भर लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यदि १९०१ में वह ६६.५ प्रतिशत थी, तो १९११ में ७२.२ और १९२१ में ७३.० प्रतिशत हो गयी। न केवल खेती पर निर्भर लोगों की प्रतिशत संख्या बढ़ रही थी और बाबा आदम के तरीक़ों से खेतीबारी की जाती थी, बल्कि यह भी कि अंग्रेज़ों की शासन-प्रणाली के अन्तर्गत पैदा होनेवाली ज़मींदारी प्रथा और अन्य कारणों से ज़मीन पर वास्तव में खेती करनेवाले

किसानों की हालत बहुत ही खराब थी। वे बुरी तरह से कर्ज़ में दबे हुए थे, उन्हें ज़मींदार और उनके कारिन्दे, पुलिस के अफ़सर और सिपाही, कचहरी के कर्मचारी और वकील, सभी जी भर कर लूटते थे। भारत की कुल आबादी का तीन-चौथाई से अधिक भाग ऐसे ग़रीब, भूखे-नंगे, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में जकड़े हुए किसान ही थे, वही भारतीय जीवन के सच्चे प्रतिनिधि थे। इसलिये यह सर्वथा तर्कसंगत है कि गोर्की के रूस की वस्तुगत आर्थिक परिस्थितियों ने उन्हें पूंजीवादी द्रुत विकास के परिणामों और उससे सम्बन्धित समस्याओं, उसके शोषित वर्ग यानी मज़दूर वर्ग पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये प्रेरित किया, जबकि प्रेमचन्द ने मुख्यतः सामन्तवादी और बहुत ही धीरे-धीरे पूंजीवादी अवस्था में प्रवेश करते हुए भारत की उपज होने के कारण देहातों और उसके सबसे अधिक शोषित वर्ग यानी किसानों की ओर विशेष ध्यान दिया। किन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि प्रेमचन्द ने भारत में धीरे-धीरे बढ़ते पूंजीवाद और उसकी समस्याओं की अवहेलना की है। नहीं, उन्होंने 'रंगभूमि' और 'गोदान' उपन्यासों तथा अनेक कहानियों में इन समस्याओं को उठाया है, उनकी गहरी समझ का परिचय दिया है और वहां भी उनकी लेखनी ने शोषितों का ही पक्ष-पोषण किया है।

हमें लगता है कि वस्तुगत परिस्थितियों के अलावा इन दोनों महान लेखकों के व्यक्तिगत अनुभूति-जगत के अन्तर को भी ध्यान में रखना उचित होगा। प्रेमचन्द का बचपन और अधिकतर जीवन गांवों और छोटे नगरों में बीता। गांवों और किसानों-ज़मींदारों तथा निम्न मध्य वर्ग के जीवन की उन्हें कहीं अधिक अच्छी जानकारी थी। अमृत राय ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द – क़लम के सिपाही' में प्रेमचन्द के अनुभूति-जगत का इन शब्दों में बहुत ही उपयुक्त वर्णन किया है: "...और मुंशी जी को अब इस बात की हैरानी थी कि... कैसे हो जाता है कभी-कभी कि आंख के सामने पड़ी हुई चीज़ नज़र नहीं आती! बरसों भटका मैं इधर-उधर... इतना बड़ा-सा रास्ता जो मेरी आंख के सामने था, वह मुझे दिखा ही नहीं! शुरू से मैं इन्हीं के (किसानों के) बीच रहा, पला, बढ़ा, उठा-बैठा, बोला-बतियाया। ख़ुद हल नहीं जोता तो क्या, उनका राई-रत्ती हाल तो जानता हूं। क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं, क्या ओढ़ते हैं, क्या बिछाते हैं, क्या सोचते हैं, क्या कहते हैं, कैसे रहते-सहते हैं,

सब कुछ तो मैंने देखा है, सुना है... उनका कौन-सा दुख-दर्द ऐसा है जो मैंने एक न एक कुर्मी के घर में नहीं देखा।"

तो प्रेमचन्द उन किसानों के जीवन का राई-रत्ती हाल जानते थे, जो भारत के वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करते थे। उनके जीवन के चित्रण में प्रेमचन्द को स्वभावतः अनुपम सफलता मिली और उन्होंने हिन्दी साहित्य में साधारण किसान नायकों को प्रस्तुत करके अपने जनवाद का परिचय दिया।

उन्होंने किसानों के जीवन पर 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' जैसे विराट कथा-पट वाले उपन्यास रचे और उनके जीवन के उजले और धुंधले पहलू, उनके सभी गुण-दोष दिखाये। प्रेमचन्द की पैनी नज़र से यह बात भी नहीं चूकी कि जैसे-जैसे भारतीय खेती में भी महाजनी या पूंजीवादी तत्त्वों की भूमिका बढ़ती गयी, वैसे-वैसे छोटे किसान तबाह होकर सर्वहारा बनने के लिये विवश होने लगे। गोर्की के रूस में तो ऐसा १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ, किन्तु भारत में पूंजीवाद के बहुत धीमे विकास के कारण २० वीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में ही ऐसी प्रक्रिया ज़ोर पकड़ने लगी।

प्रेमचन्द से भिन्न गोर्की के व्यक्तिगत जीवन के अधिकतर संस्कार नगर-सम्बन्धी थे। उनके अनुभूति-जगत पर शहर के ग़रीबों, आवारा लोगों, दीन-दुखियों, शोषितों-पीड़ितों और मज़दूरों के जीवन की गहरी छाप पड़ी। उनके कृतित्व को भी इस चीज़ ने प्रभावित किया। इसलिये गोर्की और प्रेमचन्द के कृतित्व में जो असमानता और अन्तर है, वह देश-काल की वस्तुगत और व्यक्तिगत परिस्थितियों का परिणाम है। फिर भी क्या उनके चिन्तन और सृजन की दिशा एक ही नहीं थी? क्या प्रेम-चन्द ने भी जीवन के अन्तिम वर्षों में भारत में पूंजीवाद के आर्थिक कुपरिणामों के अधिक स्पष्ट होने पर इस व्यवस्था पर ज़ोरदार प्रहार नहीं किये? समाजवादी विचारों का स्वागत ही नहीं, उनके प्रचार में भी योग नहीं दिया? फिर भी प्रेमचन्द के कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि उन्होंने मज़दूर या सर्वहारा की नेतृत्वकारी भूमिका का महत्त्व नहीं समझा और वह गोर्की के समान नील, पावेल या निलोव्ना जैसे पात्रों की रचना नहीं कर पाये। पर क्या प्रेमचन्द के भारत के समय की राजनी-तिक और आर्थिक परिस्थितियों ने गोर्की के रूस की भांति इसके लिये ज़मीन तैयार कर दी थी? क्या ऐसी ज़मीन के बिना ऐसे पात्रों की रचना

सम्भव है? क्या प्रेमचन्द की मृत्यु के पचास वर्ष बाद आज के भारत में भी ऐसी ज़मीन अच्छी तरह तैयार हो पायी है?

* * *

सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की दृष्टि से गोर्की के किशोर और युवावस्था के रूस तथा प्रेमचन्द के भारत में बहुत-से अन्तरों के बावजूद मोटे तौर पर अनेक समानतायें भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दोनों देशों में विकास की सामन्तवादी अवस्था और सामन्तवादी संस्कृति के लक्षण प्रमुख थे। दोनों देशों में आबादी का अधिकांश किसानों का था और रूस में तो १८६१ तक खेतिहर भूदास थे, जिनके साथ उनके ज़मींदार स्वामी हर तरह की मनमानी कर सकते थे। वे उन्हें ख़रीद और बेच तक सकते थे, उनके परिवारों से अलग कर सकते थे। भूदासता से मुक्ति पाने के ३०-३५ साल बाद तक भी उनकी हालत बड़ी ख़राब थी। रूस की तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अंग्रेज़ लेखक रोनल्ड हिंजले अपनी पुस्तक 'रूसी लेखक और समाज – १८२५–१९०५' में निम्न निष्कर्ष पर पहुंचे हैं –

"अधिकतर किसान अनपढ़ थे। १८९७ की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार भी ९ से ४९ वर्ष की देहाती आबादी में केवल २२ प्रतिशत लोग पढ़-लिख सकते थे... भूदासता से मुक्ति के बाद भी वे सही अर्थ में मुक्त नहीं हुए थे और उन्हें करों का अधिकतर बोझ उठाना पड़ता था। उनके घर, कपड़े और भोजन बहुत ही घटिया स्तर के होते थे।"

प्रेमचन्द के भारत में भूदासता और उससे सम्बन्धित अवशेषों का अभिशाप तो नहीं था, किन्तु भारत के आम किसानों की स्थिति रूस के किसानों से भी बुरी थी। क्या शिक्षा, क्या घर, क्या खाने-पहनने के मामले में – भारत का किसान और भी अधिक बुरा जीवन बिताता था, सामाजिक स्थिति की दृष्टि से और भी अधिक दुर्दशा का शिकार था। हम जानते हैं कि अज्ञानता, निरक्षरता, निर्धनता और अभावों का समाज आम तौर पर रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, संस्कारों-कुरीतियों और परम्पराओं, धर्म-भीरुता तथा भाग्यवाद का समाज होता है। समाज के ऐसे लक्षण न केवल देहातों में, बल्कि नगरों के मध्य वर्ग, विशेषतः निम्न मध्य वर्ग में भी बहुत सीमा तक पाये जाते हैं। गोर्की और प्रेमचन्द – दोनों को ही ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का अनुभव हुआ।

गोर्की ने 'मेरा बचपन' में अपने समय के रूस के सामाजिक जीवन का बहुत ही सुन्दर, विशद और प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। इसके दूसरे अध्याय में ही गोर्की यह स्पष्ट कर देते हैं कि "...मैं अपनी नहीं, उस दमघोट और भयानक वातावरण की कहानी कहने जा रहा हूं, जिसमें साधारण रूसी अपना जीवन बिताता था।" वास्तव में बहुत ही भयानक और घुटन भरे सामाजिक जीवन का चित्र हमारे सामने उभरता है। सभी तरह के अभावों और अज्ञानता के शिकार तत्कालीन निम्न मध्य वर्ग और निचले तबक़े के लोगों का समूचा वातावरण धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, लालच, अन्धी स्वार्थ भावना, शत्रुता और नीचता से भरा हुआ दिखाई देता है। धर्म का विकृत रूप किस तरह लोगों में अंधविश्वास पैदा करता है, यह हमें गोर्की के रूस और प्रेमचन्द के भारत में समान रूप से देखने को मिलता है। भूत-प्रेतों में आम लोगों का विश्वास अज्ञानता और अंधविश्वास का ही नतीजा होता है। गोर्की की प्यारी नानी की मानो फ़रिश्तों से ही नहीं, भूतों-पिशाचों से भी मुलाक़ात होती थी। कभी किसी अकेले से, कभी झुण्ड के झुण्डों से। एक दिन उसने अलेक्सेई को पिशाचों के बारे में अपनी यह आपबीती सुनाई: "लेंट (धार्मिक उपवास) के दिनों में एक बार मैं रुदोल्फ़ के घर के पास से जा रही थी। चांदनी रात थी, चारों ओर उजाला था। यकायक देखती क्या हूं कि छप्पर पर चिमनी के पास एक काला पिशाच पैर फैलाकर बैठा हुआ है—बहुत बड़ी, पूरी देह पर लम्बे-लम्बे बाल। दोनों सींग चिमनी के पास सटाये वह ज़ोर-ज़ोर से कुछ सूंघ रहा था। वह अपने को रगड़ता हुआ छत पर दुम फटफटा रहा था। मैंने झट सलीब का निशान बनाया और प्रभु का नाम जपने लगी—फिर ईसा का जन्म होगा और ईश्वर के शत्रु परास्त होंगे।" एक दिन ऐसे ही छोटे-छोटे पिशाच मानो नानी को घेरे लेते हैं। वह अलेक्सेई को बताती है: "मेरी अक़्ल ही गुम—यह भी नहीं सूझा कि सलीब का निशान बनाऊं... हे भगवान! उस दिन मुझपर जो गुज़री, मैं ही जानती हूं। मैं मूर्छित हो गयी।" इसी तरह का एक प्रसंग हमें गोर्की की आत्मकथात्मक त्रयी के दूसरे खण्ड 'जीवन की राहों पर' में मिलता है। उसमें बताया जाता है कि कैसे कालीनिन नाम का एक बूढ़ा शिकारी, जिसका कुछ ही समय पहले देहान्त हुआ था, मानो भूत बनकर रात को किसी चीज़ की खोज में क़ब्रिस्तान में इधर-उधर फिरता रहता था। इसी भूत को लेकर लड़कों में बहस हो गयी और वालेक नाम के

एक लड़के के चुनौती देने पर अलेक्सेई सारी रात क़ब्रिस्तान में जाकर बैठा रहा, भूत का डर तो उसे भी लगा, मगर वह इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया।

भूत-प्रेतों के ऐसे अनेक प्रसंग प्रेमचन्द की रचनाओं में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिये 'सेवा-सदन' उपन्यास का नायक, जवान सदन रात के वक़्त उस पीपल वृक्ष के नीचे से गुज़रते हुए, जिसपर भूतों का डेरा माना जाता था, शुरू में कितना अधिक डरता है। फिर भी भय की चरम सीमा के साहस का रूप ले लेने पर सदन उस वृक्ष के नीचे से गुज़र जाता है। ऐसा कर लेने पर उसे बड़े गर्व की अनुभूति होती है।

आम रूसी लोग जादू-टोनों में भी विश्वास करते थे। 'जीवन की राहों पर' उपन्यास में लंगड़ी लड़की ल्युद्मीला कहती है: "हमारी पड़ोसिन ने मुझपर टोना कर दिया था। लड़ाई तो उसकी हुई मेरी मां से और इसका बदला लेने के लिये उसने टोना कर दिया मुझपर।"

धार्मिक ढकोसलों और धार्मिक संकीर्णता के कारण हिन्दू समाज में जात-पांत, छुआछूत और भाग्यवाद आदि की जो सामाजिक बुराइयां पैदा हो गयी हैं, प्रेमचन्द ने उनके कुपरिणामों को अपने कृतित्व में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है और समाज के इन फोड़ों की ख़ूब चीर-फाड़ की है। उन्होंने तो अपने पहले ही उपन्यास में एक अधर्मी पंडे की पोल खोली है। धर्म के नाम पर अछूतों के साथ किये जानेवाले दुर्व्यवहार के बहुत ही मार्मिक चित्र उनकी कहानियों और उपन्यासों में मिलते हैं। धर्म के कारण जो कटु साम्प्रदायिक भावनायें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पैदा हो रही थीं, उनसे कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा था, प्रेमचन्द ने उसका भी बहुत गहन कलात्मक विश्लेषण किया है।

गोर्की और प्रेमचन्द ने समान रूप से अंधविश्वासों और अज्ञानता के कुसंस्कारों और ढकोसलों पर ज़ोरदार प्रहार किये हैं। रूस में ईसाई धर्म के पादरी साधारण लोगों को मूर्ख बनाते थे और भारत में हिन्दू धर्म के ठेकेदार—महन्त, पण्डे-पुजारी। दोनों लेखकों ने ऐसे लोगों का भंडाफोड़ किया है। चूंकि प्रेमचन्द के समय का भारत धार्मिक कुसंस्कारों से कुछ अधिक ही जकड़ा हुआ था, इसलिये प्रेमचन्द को धर्म के ठेकेदारों पर चोट करने के लिये अधिक साहस का परिचय देना पड़ा। इसी कारण उनके विरोधियों ने, जो उनकी क़लम के तीखेपन से तिलमिला उठे थे, उन्हें "घृणा का प्रचारक" तक कहा। किन्तु प्रेमचन्द इस चीज़ से

विचलित नहीं हुए। वह धर्म की ऐसी अहितकर भूमिका के अधिकाधिक कटु आलोचक होते गये और जीवन के अन्तिम वर्षों में तो लगभग नास्तिक और भौतिकवादी हो गये।

गोर्की के लिये यदि धर्म के ढकोसलों और ईश्वर में अविश्वास उनकी अनुभूतियों और बाद में भौतिकवादी जीवन-दर्शन का परिणाम था, तो प्रेमचन्द धर्म के घिनौने और विषैले प्रभावों से सम्बन्धित व्यक्तिगत अनुभूतियों और सामाजिक चेतना के आधार पर ही ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचे, जो उनकी तरुणावस्था में अनेक समाज-सुधार संगठन जैसे कि ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामाकृष्ण मिशन और थियोसोफ़ीकल सोसाइटी आदि भारतीय, विशेषत: रूढ़ीग्रस्त हिन्दू जनता में पैदा कर रहे थे। वास्तव में प्रेमचन्द की चेतना का पहला आयाम धार्मिक-सामाजिक ही था और उनके प्रारम्भिक कृतित्व में हम इसी चेतना के तत्त्वों की प्रधानता पाते हैं। उनके कृतित्व में आर्थिक-राजनीतिक तत्त्वों की चेतना के परिचायक लक्षण बाद में उभरे। ऐसा इसलिये हुआ कि गोर्की के रूस में राजनीतिक चेतना का कहीं अधिक विकास हो चुका था और इसलिये समाज-सुधार की समस्यायें नहीं, बल्कि राजनीतिक-आर्थिक ढांचे को बदलने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था, जिससे अनेक सामाजिक प्रश्न अपने आप ही हल हो सकते थे। भारत में साम्राज्यवादी सत्ता के कारण राजनीतिक जागृति धीरे-धीरे और देर से आई और सामाजिक चेतना इसका पहला क़दम बनी। प्रेमचन्द की युवावस्था में भारत जागृति के इसी दौर में से गुज़र रहा था और इसीलिये जागरूक और समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित लेखक के रूप में धार्मिक-सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध ही उन्होंने पहला मोर्चा बनाया।

समाज में नारी की स्थिति उसके नैतिक स्तर का माप-दण्ड मानी जा सकती है। इस दृष्टि से गोर्की के रूस और प्रेमचन्द के भारत में यदि कोई अन्तर था, तो यही कि भारतीय नारियों की स्थिति और भी अधिक बुरी थी। दोनों देशों की नारियां अपमान-अवहेलना, पतियों की मार-पीट और अज्ञानता-निरक्षरता के कारण पशुओं जैसा जीवन बिताने को विवश थीं। गोर्की ने 'मेरा बचपन' में अपनी नानी पिटाई की इस तरह चर्चा की है: "एक बार ईस्टर के पहले दिन तेरे नाना ने मुझे सवेरे पीटना शुरू किया और शाम तक कोड़ा या जो कुछ भी हाथ में आ जाता, उसी से मारते थे, फिर थोड़ी देर सुस्ताते थे और सुस्ताकर फिर मारना शुरू करते थे। सूर्यास्त तक यही क्रम चलता रहा।" इसी

रचना में हमें पता चलता है कि गोर्की के एक मामा ने मार-मारकर अपनी बीवी की जान ही ले ली थी। हम गोर्की के सौतेले बाप द्वारा उनकी मां का बुरी तरह पीटे जाने का वर्णन पढ़ते हैं। दोनों ही प्रसंगों में बालक गोर्की अपने को वश में न रखकर सौतेले बाप और नाना पर भी जवाबी प्रहार करते हैं। प्रसिद्ध 'मां' उपन्यास में निलोव्ना का पति भी उसके साथ ऐसा ही अमानवीय व्यवहार करता है। अपनी 'विश्वासघात' कहानी में तो गोर्की ने एक देहाती औरत के साथ, जिसने सम्भवतः पति के साथ बेवफ़ाई की थी, ऐसे दुर्व्यवहार का दृश्य प्रस्तुत किया है कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस जवान नारी को उसके देहाती पति ने एकदम नंगी करके घोड़ागाड़ी के साथ बांध रखा था, वह लगातार उसपर कोड़े बरसाता जाता था और घोड़ागाड़ी को घेरे लोगों की एक भीड़ इस दृश्य का मज़ा लेती हुई उसके साथ-साथ बढ़ रही थी। गोर्की लिखते हैं: "उस नारी का बदन काली और नीली धारियों तथा निशानों से भरा हुआ था। कुमारियों जैसी उसकी बाईं छाती में गहरा घाव था और उसमें से ख़ून की धार बह रही थी... और उसका पेट, जिसे निश्चय ही मूंगरी से पीटा या बूट की एड़ियों से रौंदा गया था, बहुत बुरी तरह से सूजा और बदरंग बना हुआ था।"

कहानी के अन्त में गोर्की लिखते हैं: "पहले मैंने ऐसी बातें केवल सुनी ही थीं, किन्तु अब ख़ुद अपनी आंखों से देखकर विश्वास हो गया कि... जाहिल और हृदयहीन लोगों के बीच इस तरह की चीज़ों का होना सम्भव है।"

सम्भवतः इसी नारी की रक्षा के लिये सामने आने पर लोगों ने युवा गोर्की को मार-मारकर लगभग अधमरा कर दिया था। देहाती ही नहीं, शहरों के मज़दूर लोग भी शराब पीकर या शराब पिये बिना ही अपनी बीवियों की ख़ूब कसकर पिटाई करते थे। 'ओर्लोव दम्पति' कहानी में भी पति अक्सर पत्नी की कसकर पिटाई करता है। यह सही है कि प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में नारी की ऐसी दुर्गति या पाशविक पिटाई के दृश्य लगभग नहीं हैं, किन्तु क्या तत्कालीन भारतीय समाज में नारी की ऐसी ही स्थिति नहीं थी? क्या प्रेमचन्द को ऐसी ही भयंकर सामाजिक वास्तविकता की अनुभूति नहीं हुई होगी? इसीलिये समाज की इस दुखी, अभागिनी और उत्पीड़ित नारी के प्रति उन्होंने बहुत

ही संवेदनशीलता और सहानुभूति दिखाई है तथा उसके उचित सामाजिक अधिकारों और प्रतिष्ठा की वकालत की है।

दहेज और बेमेल विवाह की सामाजिक बुराइयां तत्कालीन रूस और भारत में समान रूप से विद्यमान थीं। किन्तु भारत में वे बहुत ही उग्र रूप धारण कर चुकी थीं और अक्सर उनके बहुत ही भयंकर नतीजे निकलते थे। प्रेमचन्द ने इनकी ओर भी यथोचित ध्यान दिया। विधवा-विवाह और वेश्याओं की समस्यायें भी तत्कालीन रूस की तुलना में भारत में अधिक विकट थीं और सामाजिक समाधान की अपेक्षा रखती थीं। प्रेमचन्द ने इन दोनों समस्याओं को अपनी अनेक कहानियों और रचनाओं में उठाया है, उनके आर्थिक और दूसरे कारणों को खोजा है और कभी काल्पनिक तथा बाद की रचनाओं में यथार्थवादी समाधान भी प्रस्तुत किये हैं।

गोर्की और प्रेमचन्द के युग में बालकों की उचित देख-भाल, शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण की समस्या भी दोनों लेखकों की सामाजिक चेतना को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती थी। यतीम बच्चों और विमाताओं या सौतेले पिताओं (मुख्यतः रूस में) के बुरे सलूक से दुखी होनेवाले बालकों का प्रश्न इसी समस्या का एक अंग था। गोर्की ने 'मेरा बचपन' में बच्चों की पिटाई का जो चित्रण किया है, वह तो लोमहर्षक है। स्वयं बालक गोर्की को अपने नाना की इतनी बेंतें खानी पड़ी थीं कि उसके कई दिन बाद तक वह चारपाई थामे रहा था। भारत में भी बच्चों के प्रति सम्भवतः इतनी ही निर्दयता दिखायी जाती थी और समाज अपने उत्तरदायित्व के मामले में बहुत कम सजग था। निचले तबक़े और निम्न मध्य वर्ग के यतीम बच्चे तो भीख मांगने और दर-दर की ठोकरें खाने के लिये छोड़ दिये जाते थे। गोर्की को सौतेले बाप और प्रेमचन्द को सौतेली मां के व्यवहार का कटु अनुभव हुआ। बच्चों की ऐसी पारिवारिक और सामाजिक अवहेलना के प्रश्न की ओर दोनों लेखकों ने ध्यान दिया।

गोर्की के रूस में जात-पांत, छुआछूत या हरिजनों की समस्या जैसी सामाजिक बुराइयां नहीं थीं। भारतीय जीवन में ही इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त था और इसलिये प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना को इन्होंने भी प्रभावित किया और प्रेमचन्द ने अपने कृतित्व में बड़े ओजपूर्ण तथा मार्मिक ढंग से इन्हें प्रस्तुत किया है। यह सही है कि विशिष्ट भारतीय रूप में रूस में ऐसी समस्यायें नहीं थीं, तथापि ऊंची-नीची सामाजिक श्रेणियों के

ग्रन्तर की खाई तो वहां भी विद्यमान थी। धनी घरों के लोग, नारियां ग्रौर बच्चे भी निर्धनों से ग्रपने को दूर रखते थे ग्रौर उनके बीच मिलने-जुलने तथा सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की सम्भावनायें बहुत कम होती थीं। गोर्की ने 'मेरा बचपन' में ही इस खाई का एक जगह पर वर्णन किया है। तब बालक गोर्की ग्रपने नाना के पास रहते थे ग्रौर उनके निकट किन्हीं कर्नल साहब का घर था, जिनके बच्चों से गोर्की हिलने-मिलने लगे। एक दिन कर्नल साहब ने उनको देख लिया, तो ग्रपने बच्चों से पूछा: "इसे यहां किसने बुलाया?" वह गोर्की को ग्रपने घर के फाटक पर ले जाकर बोले—

"ख़बरदार, जो फिर ग्रन्दर पैर रखा!"

यहां इस बात की ग्रोर भी संकेत कर देना उचित होगा कि रूस में पूंजीवाद के तीव्र विकास के फलस्वरूप ग्रधिक तेज़ी से ग्रौर तत्कालीन भारत में कुछ धीरे-धीरे पुराने सामाजिक सम्बन्ध बदल रहे थे—संयुक्त परिवार टूट रहे थे ग्रौर लोगों में व्यक्तिवाद की भावना ग्रधिक प्रबल होती जा रही थी। इस प्रवृत्ति ने भी गोर्की ग्रौर प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना पर ग्रसर डाला।

तो कुछ इस तरह का था गोर्की के रूस ग्रौर प्रेमचन्द के भारत का सामाजिक जीवन, जिसने इन दोनों के संवेदनशील हृदयों पर ग्रपने गहरे चिह्न ग्रंकित किये, उनकी सामाजिक चेतना के निरूपण में योग दिया ग्रौर बाद को उनकी सशक्त लेखनी ने एक दर्पण के रूप में समाज को उसका यह वीभत्स रूप दिखाया। गोर्की ने ठीक ही लिखा है: "बर्बर रूसी जीवन के इन गर्हित दृश्यों को याद कर मैं प्राय: सोच में पड़ जाता हूं—क्या उनके बारे में लिखना उचित है? लेकिन विचारने पर यही दृढ़ विश्वास होता है कि उनका परदा चाक करना ज़रूरी है, क्योंकि उनके ग्रन्दर ऐसी कुत्सित वास्तविकता निहित है, जिसके ग्रवशेष ग्राज भी हमारे बीच विद्यमान है। वह ऐसा सत्य है, जिसे ग्रपने निष्ठुर ग्रौर वीभत्स जीवन से हमें जड़-मूल से उखाड़ फेंकना होगा—जीवन ही क्या,—मानव-ग्रात्मा ग्रौर मस्तिष्क से भी इसे पूर्ण रूप से निकाल देना ग्रावश्यक है।"

* * *

साहित्य-जगत में गोर्की के पदार्पण के पहले रूसी साहित्य ग्रपने विकास का एक लम्बा, महत्त्वपूर्ण ग्रौर ग्रनुकरणीय पथ तय कर चुका

था। गद्य के क्षेत्र में तो उसकी प्रगति विशेषतः उल्लेखनीय थी। सम्भवतः फ़्रांस को छोड़कर संसार का सर्वोत्कृष्ट गद्य-साहित्य तत्कालीन रूस में ही लिखा गया और सो भी १९वीं शताब्दी के दूसरे चरण से आरम्भ करके २०वीं शताब्दी के पहले दशक तक के लगभग ८०-९० वर्षों में। जैसा कि सामान्यतः सभी देशों के साहित्यिक उत्थान-क्रम में देखने को मिलता है, रूस में भी कविता के रूप में ही साहित्यिक पुष्प खिले और फिर गद्य-साहित्य के रूप में साहित्य-उपवन महक उठा। महाकवि पुश्किन और लेर्मोन्तोव के काव्य-कुसुमों से रूस में जो साहित्यिक उत्थान आरम्भ हुआ, वह गोगोल के काव्यमय गद्य, तुर्गेनेव की गीतिमयता और भाषा की प्रांजलता, लेव तोलस्तोय के महान चिन्तन और कला-निखार, गोन्चारोव की मनोग्राही सुन्दर शैली, श्चेद्रीन के तीखे व्यंग्य, दोस्तोयेव्स्की के गहन मानसिक विश्लेषण, चेख़ोव की सांकेतिक, पैनी और नपी-तुली अभिव्यक्ति-कला और कोरोलेन्को की रोचकता तथा सुघड़ गद्य-शिल्प के रूप में अपने शिखर पर पहुंचा। इन महान लेखकों की विश्व-विख्यात रचनाओं पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है। वे विश्व-साहित्य की अमर निधियां हैं। स्वयं गोर्की ने १९वीं शताब्दी में रूस की कलात्मक और साहित्यिक प्रगति के बारे में १९१७ में यह कहा था—

"अत्यधिक भयानक परिस्थितियों में श्रेष्ठतम साहित्य, अद्भुत चित्रकला और मौलिक संगीत की रचना करके, जिस पर सारा संसार मुग्ध है, रूसी लोगों ने अनूठी शक्ति का परिचय दिया है।"

प्रेमचन्द ने भी रूसी गद्य-साहित्य की उपलब्धियों का बहुत ऊंचा मूल्यांकन किया है।

यह तो जानी-मानी बात है कि महान लक्ष्यों-आदर्शों के बिना महान साहित्य नहीं हो सकता। रूसी साहित्य अपने समय के उच्चादर्शों को लेकर आगे बढ़ा और ज़ार की तानाशाही के युग में, जब प्रेस और भाषण की आज़ादी का लगभग अभाव था, उसने साधारण जनता के दुःख-दर्दों, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं, उसके रोष-क्रोध, उसकी संघर्ष भावना को अभिव्यक्ति दी, अपने समय की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया और उनके समाधान खोजने का प्रयास किया। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उसने वास्तविक जीवन से अपना सम्बन्ध जोड़ा, वह यथार्थवादी बना, जीवन को उसके विभिन्न रूपों में दिखाते हुए उसे मानवतावाद और जनकल्याण की कसौटी पर

परखा और विवेचन के साथ-साथ उसकी आलोचना भी की। स्वयं कुलीन होते हुए भी पुश्किन और लेर्मोन्तोव ने अपने साहित्य के द्वारा ज़ारशाही का विरोध किया, कुलीन-ज़मींदारों के परोपजीवी और शोषणकारी ढंग की क़लई खोली और किसानों-भूदासों का पक्ष लिया। इसी कारण वे दोनों ज़ारशाही के कोप-भाजन बने और इस तरह केवल रूस ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया ही इन दो महान प्रतिभाओं की असमय मृत्यु के फलस्वरूप अनेक साहित्यिक रत्नों से वंचित रह गयी। पुश्किन और लेर्मोन्तोव की ऐसी यथार्थवादी और जनवादी परम्पराओं को बाद के रूसी लेखकों ने आगे बढ़ाया और अपने वैचारिक और कलात्मक गुणों का सिक्का मनवाया। इस अवधि के रूसी साहित्य में मोटे तौर पर तत्कालीन जीवन से असन्तोष झलकता है, उसमें अन्याय-अत्याचार और दमन के विरुद्ध गूंज सुनाई देती है, आज़ादी के लिये छटपटाहट अनुभव होती है, और संघर्ष की ललकार सुनाई देती है।

स्पष्ट है कि ऐसे मानवतावादी-जनवादी साहित्य को परखने के माप-दण्ड भी ऐसे ही हो सकते हैं। चुनांचे बेलीन्स्की और हर्ज़ेन जैसे प्रतिभाशाली समालोचकों ने साहित्य के ध्येय-लक्ष्यों, उसके कलागत पक्षों और आलोचना के आधारों को नया अर्थ प्रदान किया और चेर्निशेव्स्की तथा दोब्रोल्यूबोव ने उन्हें परिमार्जित किया। चेर्निशेव्स्की ने 'कला कला के लिये' की जगह उसके 'मानव के लिये पाठ्यपुस्तक होने' का नारा लगाया। तो इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य-क्षेत्र में गोर्की के आगमन के पहले ही रूसी साहित्य की विशेष मान्यतायें, उसकी मानवतावादी-जनवादी परम्परायें बन चुकी थीं।

ऐसी परम्परायें इसीलिये बन पायी थीं कि रूसी साहित्य का रूसी जनता के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था, लेखकों ने किसानों के विद्रोहों, बुद्धिजीवियों के मानसिक असन्तोष और निरंकुश शासन के सभी कुपरिणामों की ओर से न केवल आंखें ही नहीं मूंदी थीं, बल्कि इन और अपने युग की अन्य समस्याओं पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी तथा बड़े कलात्मक ढंग से उन्हें अपने कृतित्व में उभारा था।

गोर्की के समय का रूस बहुत-सी राजनीतिक-सामाजिक असंगतियों-विरोधों, टकरावों और हलचलों का रूस था, जैसा कि हम पीछे सविस्तार स्पष्ट कर चुके हैं। नये मूल्य और माप-दण्ड बन रहे थे और पुराने अपना अस्तित्व बनाये रखने के प्रयास में उनके विरुद्ध जूझ रहे थे।

ऐसे समय में नयी उभरती और प्रगति को इंगित करनेवाली शक्तियों को सही तौर पर समझ पाना और उनका साथ देना आसान काम नहीं होता। ख़ास तौर पर तब, जब घोर प्रतिक्रियावादी दमनचक्र चल रहा हो। गोर्की की युवावस्था के रूस में ऐसा ही हो रहा था। हम जानते हैं कि नरोदवादी आतंक-मार्ग पर अग्रसर हो गये थे और इसलिये ज़ारशाही ने बहुत कड़ा रुख़ अपनाया। राज्य-सत्ता की ऐसी कठोरता और आतंक के युग में लोग अपनी विवशता और असहाय स्थिति के कारण निराश और निष्क्रिय हो जाते हैं तथा साहित्य के क्षेत्र में भी निराशावाद अथवा रहस्यवाद और ह्रासवाद के स्वर गूंजने लगते हैं। यह वास्तविक कठोर जीवन से एक तरह का पलायन होता है और संसार के बहुत-से साहित्यों में ऐसी प्रवृत्तियों के उदाहरण उपलब्ध हैं। रूसी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं था। उसमें भी निराशा और ह्रासवादी प्रवृत्तियां उभरीं। इसके अलावा चूंकि रूस के पूंजीवादी विकास में पश्चिमी विदेशी पूंजी का आधिपत्य था, इसलिये इस विदेशी पूंजीपति वर्ग के माध्यम से पश्चिमी साहित्य और कला भी रूसी साहित्य तथा कला को प्रभावित करने लगे। पश्चिमी साहित्य में उस समय ह्रासवाद और संकेतवाद की प्रवृत्तियां ज़ोरों पर थीं और उनका रूसी साहित्य पर भी असर पड़ा। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि रूस की ज़ारशाही, वहां के सामन्तों और पूंजीपति वर्ग के हित भी ऐसे ही साहित्य को प्रोत्साहित करने में निहित थे, जो कला को जीवन से दूर ले जाये, जो जन-संघर्ष और जन-जीवन को बेहतर बनाने की प्रेरणा का वाहक न हो, जो जनता के जोश और उसकी क्रांतिकारी भावनाओं को दबाने में सहायक हो, जो लोगों में असहायता, विवशता, निराशा, स्वार्थसिद्धि तथा व्यक्तिवाद की भावनायें भरे। 'कला कला के लिये' का नारा लगानेवाली ह्रासवादी और प्रतीकवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों ने यह काम पूरा किया।

तो उस समय जब गोर्की ने साहित्य-जगत में क़दम रखा, अपने शिखरों को छू चुकनेवाला महान रूसी साहित्य जीवन और जन-हित विरोधी प्रवृत्तियों का शिकार हो रहा था। किन्तु इतनी ही अच्छी बात थी कि जहां ये प्रवृत्तियां गद्य की तुलना में पद्य में ही अधिक ज़ोर से उभरीं, वहां गद्य के क्षेत्र में रूसी साहित्य के कुछ महारथी अभी भी सृजन कर रहे थे और उसकी यथार्थवादी, जनवादी-मानवतावादी और लोक-कल्याण की परम्पराओं को आगे बढ़ा रहे थे। इनमें न० श्चेद्रीन,

ग्लेब उस्पेन्स्की, लेव तोलस्तोय, अन्तोन चेख़ोव और व० कोरोलेन्को के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की पिछली शताब्दी के ९वें दशक की कुछ रचनाओं, जैसे लेव तोलस्तोय के 'पुनरुत्थान' उपन्यास और चेख़ोव की 'घोंघा' रचना ने तो रूसी साहित्य के जनवादी मोर्चे को मज़बूत करने और जनवाद-विरोधी मोर्चे को तोड़ने में बड़ा योग दिया।

गोर्की रूसी साहित्य की महान परम्पराओं को लेकर ही आगे बढ़े, उन्होंने उन परम्पराओं को आगे बढ़ाया और उनमें एक नयी, बड़ी मज़बूत और शानदार कड़ी जोड़ी। गोर्की की सब से बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने अपने युग की असंगतियों और विरोधी शक्तियों के स्वरूप को बहुत जल्दी ही समझ लिया और लेखक के रूप में सामने आने के तीन वर्ष बाद, १८९५ में ही 'समारस्काया गज़ेता' में यह लिखा: "हम उदासीनताभरे, संशयपूर्ण और धुंधले समय में रह रहे हैं तथा इसे ठीक करने, जीवन को कामनाओं-आकांक्षाओं से प्रफुल्लित करने, अपने कार्यों से सजीव बनाने, विचारों से उदात्तता प्रदान करने, अधिक विवेकपूर्ण, प्राणवान और विविधतापूर्ण बनाने का उत्तरदायित्व हम पर है।" इस तरह उन्होंने रूसी साहित्य में उभरते हुए निराशावाद और ह्रासवाद के स्वरों का ज़ोरदार विरोध किया और लेखकों-साहित्यकारों को उनके सामाजिक कर्त्तव्य की चेतना कराई। अपने कृतित्व द्वारा उन्होंने एक नया आदर्श प्रस्तुत किया और रूसी साहित्य को ही नहीं, विश्व-साहित्य को एक नया मोड़ दिया। वह युग-प्रवर्त्तक लेखक बने, उन्होंने एक नयी साहित्यिक परम्परा की नींव रखी, वह समाजवादी यथार्थवाद के जनक बने। अपने समय की जिस नयी, उभरती शक्ति को न तो तोलस्तोय समझ पाये, न उस्पेन्स्की, जिसे चेख़ोव और कोरोलेन्को भी पूरी तरह न देख पाये, उसे गोर्की ने देखा-समझा और उसकी नेतृत्वकारी भूमिका को मान्यता देते हुए उसे विश्व-साहित्य में पहली बार नायक के उच्च सिंहासन पर स्थान दिया। यह शक्ति थी—मज़दूर वर्ग। गोर्की ही श्रम के प्रथम चितेरे बने और केवल साहित्य-सृजन द्वारा ही नहीं, बल्कि रूस के राजनीतिक संघर्ष, साहित्यिक गतिविधियों और साहित्यकारों के संगठन में भी सक्रिय भाग लेकर उन्होंने लोक-हित तथा समाजवादी मानवता की परम्पराओं-वाले साहित्य की विजय में बड़ा योगदान किया। लेनिन ने उनके बारे में ठीक ही कहा था—

"गोर्की विराट कलात्मक प्रतिभा के धनी हैं, जो विश्व सर्वहारा आन्दोलन को बहुत लाभ पहुंचा चुके हैं और पहुंचायेंगे।"

गोर्की से भिन्न, प्रेमचन्द को गद्य साहित्य की जो परम्परायें उत्तराधिकार में मिली थीं, वे बहुत ही कमज़ोर और अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था की ही द्योतक थीं। यह सही है कि 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों, कालिदास जैसे नाटककार, 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' जैसी कहानियों या सूर अथवा तुलसीदास जैसे महान कवियों को जन्म देनेवाला देश अपनी हज़ारों वर्ष की साहित्यिक परम्पराओं पर उचित रूप से गर्व कर सकता है। किन्तु प्रेमचन्द के प्रसंग में हमें उनके साहित्य-क्षेत्र में आने के पहले कहानी और उपन्यास के विकास तथा उनकी परम्पराओं पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। क्या उर्दू और हिन्दी का गद्य साहित्य रूसी गद्य साहित्य के समान गौरवमय विकास-पथ तय कर चुका था? क्या वह हमें तुर्गेनेव, तोलस्तोय, दोस्तोयेव्स्की और चेख़ोव जैसी एक भी प्रतिभा दे पाया था? नहीं, नहीं! इस विवाद के विस्तार में जाये बिना ही कि आधुनिक कहानी और उपन्यास लेखन की कला भारत की अपनी उपज है या वह पश्चिम से हमारे यहां आई है, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके आधुनिक रूपों में उनका अधिकतम विकास पश्चिम में ही हुआ और भारत में तो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही उन्होंने पहले डग भरने आरम्भ किये। बंगाल में अंग्रेज़ों की सत्ता अपेक्षाकृत पहले स्थापित हुई, अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का प्रचार भी पहले हुआ और इसलिये साहित्य की ये विधायें भी वहां पहले पनपीं और बाद में उसने उर्दू और हिन्दी में कहानी तथा उपन्यास के विकास को प्रभावित किया। इस तरह उर्दू-हिन्दी में इन विधाओं की परम्परायें पश्चिम या रूसी साहित्य की तुलना में ही बहुत साधारण और कमज़ोर नहीं थीं, बल्कि भारत की कुछ अन्य भाषाओं की परम्पराओं का भी मुक़ाबला नहीं कर सकती थीं। तो ऐसी थीं प्रेमचन्द को उत्तराधिकार में मिलनेवाली गद्य साहित्य की परम्परायें।

अविकसित और कमज़ोर होते हुए भी जिन परम्पराओं ने लेखक के रूप में प्रेमचन्द के निर्माण में योग दिया, वे थीं उर्दू में मिर्ज़ा रजब अली बेग सरूर, नज़ीर अहमद, रतनाथ सरशार, शरर और रुसवा की। उर्दू के उन गद्य लेखकों और उनकी साहित्यिक देन का उल्लेख इसलिये आवश्यक है कि प्रेमचन्द ने अपना लेखन-कार्य उर्दू में ही शुरू किया था

ग्रोर पन्द्रह साल तक उर्दू-साहित्य में नाम कमाने के बाद ही हिन्दी मे ग्राये थे। मिर्ज़ा रजब ग्रली बेग सरूर के 'फ़िसाने ग्रजायब', नज़ीर ग्रहमद के मुसलमान परिवारों की सरल ग्रौर मुहावरेदार भाषा में बहुत ही सजीव सामाजिक तस्वीर पेश करनेवाले उपन्यासों, उर्दू के गद्य-साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात करनेवाले रतन्नाथ सरशार के 'फ़सानये-ग्राज़ाद', जिसका प्रेमचन्द ने 'ग्राज़ाद कथा' नाम से ग्रनुवाद किया, इसलाम धर्म ग्रौर ग्ररब की ऐतिहासिक घटनाग्रों को ग्राधार बनाकर रचना करनेवाले शरर के उपन्यासों ग्रौर एक वेश्या की ग्रात्म-कथा के रूप में रुसवा के 'उमराव जान ग्रदा' उपन्यास ने तथा उक्त लेखकों की ग्रन्य रचनाग्रों ने किसी न किसी रूप में तथा किसी न किसी हद तक प्रेमचन्द की ग्रात्मा में एक कहानीकार ग्रौर उपन्यासकार को जागृत करने में ग्रंशदान किया। विद्यार्थी जीवन में ही उर्दू के ऐसे बहुत-से उपन्यास पढ़ने के फलस्वरूप प्रेमचन्द की उपन्यासों में रुचि बढ़ी, उनकी ग्रपनी कल्पना शक्ति का विकास हुग्रा, विषयों की विविधता की ग्रोर उनका ध्यान गया तथा उनके मन में स्वयं कुछ लिखने की चाह बलवती हुई। उर्द के ग्रपने पूर्ववर्ती गद्य लेखकों की रचनाग्रों से प्रेमचन्द को सृजन-प्रेरणा मिली, वह किसी न किसी रूप में उनके ऋणी हैं, इसे उन्होंने स्वीकारा भी है। पर चूंकि हिन्दी के क्षेत्र में वह १९१३ में ही ग्राये, जबकि स्वयं कई उपन्यास ग्रौर 'सोज़े वतन' कहानी-संग्रह भी निकाल चुके थे, इसलिये यह प्रश्न उठता है कि क्या उन्होंने ग्रपने हिन्दी-सृजन के पहले हिन्दी गद्य साहित्य का भी ग्रच्छा परिचय प्राप्त किया था या नहीं ग्रौर लेखक के रूप में उनके ग्रपने निर्माण ग्रौर विकास पर उसका प्रभाव पड़ा या नहीं? हमारे विचार में ऐसा मान लेना उचित होगा कि हिन्दी में ग्रपनी क़लम चलाने से पहले प्रेमचन्द जैसे सजग लेखक ने तब तक विद्यमान हिन्दी गद्य साहित्य की ग्रवश्य ही ग्रच्छी तरह से छान-बीन कर ली होगी। ग्रपना रास्ता खोजने ग्रौर ग्रपनी ज़मीन बनाने के लिये उनका ऐसा करना स्वाभाविक ग्रौर ग्रावश्यक रहा होगा। इसलिये हम कह सकते हैं कि उन्होंने ग्रपने पूर्ववर्ती हिन्दी के उल्लेखनीय उपन्यासकार श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' उपन्यास, जिसे हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है ग्रौर जो १८८१ में प्रकाशित हुग्रा था, देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी-एय्यारी के 'चन्द्रकान्ता' ग्रौर 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास, वेश्याग्रों ग्रौर ज़मींदारों के मसले को लेकर सामाजिक

दृष्टि से लिखा गया 'काजर की कोठड़ी' उपन्यास, गोपालदास गहमरी के जासूसी उपन्यास और कुछ समालोचकों द्वारा हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों के प्रवर्त्तक माने जानेवाले किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यास भी अवश्य पढ़े होंगे।

किन्तु क्या प्रेमचन्द हिन्दी के उक्त उपन्यासकारों की रचनाओं से प्रभावित हुए? क्या उन्होंने उनके पथ-निर्माण और विकास-क्रम में योग दिया? क्या हिन्दी उपन्यासों की यह परम्परा इतनी समृद्ध थी कि प्रेमचन्द पर अपनी छाप अंकित कर पाती? कुछ समालोचक उर्दू के उपन्यासकार रुसवा के 'उमराव जान अदा' उपन्यास और कुछ दूसरे विषय-वस्तु की समानता के कारण देवकीनन्दन खत्री के 'काजर की कोठड़ी' उपन्यास और अन्य, किशोरीलाल गोस्वामी के 'कुसुम कुमारी' उपन्यास को प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' का प्रेरणा-स्रोत या आधार-बिन्दु मानते हैं। हमें ऐसे मतों के पक्ष-विपक्ष के विवाद में पड़ने की इसलिये विशेष आवश्यकता नहीं अनुभव होती कि प्रेमचन्द ने जिस बड़े चित्र-पट पर, जितनी सूक्ष्मता और गहराई से वेश्या-समस्या पर 'सेवा-सदन' में प्रकाश डाला है, वह उपर्युक्त किसी उपन्यास में भी उपलब्ध नहीं, फिर भी यह मान लेना उपयुक्त होगा कि प्रेमचन्द के पहले उर्दू और हिन्दी में भी गद्य साहित्य की एक परम्परा विद्यमान थी, किन्तु वह बहुत समृद्ध नहीं थी और उसने लेखक के रूप में प्रेमचन्द के निर्माण और विकास में, उनके सृजन की केवल पहली अवस्था यानी 'सेवा-सदन' तक ही कुछ प्रभाव डाला। कहानी के क्षेत्र में तो यह प्रभाव और भी महत्त्वहीन रहा। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'ग़बन' और 'गोदान' जैसे बृहदाकार, अनेक घटनाओं और पात्रों को सफलतापूर्वक समेटनेवाले उपन्यासों तथा सैकड़ों बहुत ही सुन्दर, प्रभावपूर्ण और मार्मिक कहानियों का सृजन कर प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू साहित्य में अपनी एक नयी और बड़ी समृद्ध साहित्यिक परम्परा को जन्म दिया। सम्भवतः ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगा कि प्रेमचन्द के आगमन से पहले हिन्दी-उर्दू का गद्य साहित्य अपने विकास की पहली मंज़िलें तय कर रहा था, वह मानो अपने शैशवकाल में था, किन्तु प्रेमचन्द के साथ उसने सदियों का रास्ता कुछ ही दशकों में तय करके ऐसी परिपक्वता प्राप्त कर ली कि उसे विश्व-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो सका और स्वयं प्रेमचन्द की संसार के महान लेखकों में गिनती होने लगी। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने

एक ख़ासी कमज़ोर नींव पर उपन्यास श्रौर कहानी-कला का एक शानदार महल खड़ा किया। निश्चय ही यह प्रेमचन्द की बहुत बड़ी उपलब्धि थी श्रौर उनके लिये इसे प्राप्त करना उतना ही कठिन रहा होगा, जितना गोर्की के लिये एक नयी साहित्यिक परम्परा को जन्म देना। एक दुर्बल परम्परा को विश्वव्यापी मान्यता दिलवाने के स्तर तक सशक्त बनाना उतना ही (यदि श्रधिक नहीं) कठिन होता है, जितना किसी समृद्ध परम्परा में श्रपनी नयी कड़ियां जोड़ना! श्रपने-श्रपने ढंग से दोनों की उपलब्धियां श्रनूठी हैं।

साहित्य और जीवन

"साहित्यकार अपने देश, अपने वर्ग की अनुभूति, उसका कान, आंख और हृदय – अपने युग की आवाज़ होता है..."

म० गोर्की

"यों कहिये कि वह (साहित्यकार) मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है – चाहे वह व्यक्ति हो या समूह – उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है..."

प्रेमचन्द

लेखक के रूप में गोर्की और प्रेमचन्द को समझने, उनके कृतित्व का सही मूल्यांकन करने और यह जानने के लिये कि वे एक-दूसरे के कितना निकट या दूर हैं, उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं, साहित्य और साहित्यकारों की सामाजिक भूमिका और उनके कर्त्तव्यों के बारे में उन दोनों के विचारों का विवेचन भी आवश्यक है।

गोर्की और प्रेमचन्द ने अपने अनेक लेखों तथा अपनी कई रचनाओं में भी साहित्य और कला-सम्बन्धी विचारों को अभिव्यक्ति दी है। गोर्की के 'साहित्य के बारे में', 'साहित्य आदि के बारे में', 'उदासीनता के लिये स्थान नहीं होना चाहिये', 'संस्कृतियों के बारे में', 'लेखन-कार्य के बारे में बातचीत' और 'मैंने लिखना कैसे सीखा' आदि लेखों, उनकी 'एक पाठक' और 'कवि' कहानियों तथा 'बंगलेवाले' नाटक में एक कवि पात्र के माध्यम से हमें यह पता चल जाता है कि उनके मतानुसार साहित्य और साहित्यकार की भूमिका क्या होनी चाहिये। 'एक पाठक' कहानी का नायक लेखक के सम्मुख साहित्य की अपनी व्याख्या प्रस्तुत

करते हुए कहता है: "शायद मेरी बात से तुम सहमत होगे, अगर मैं कहूं कि साहित्य का उद्देश्य है–ख़ुद अपने को जानने में मानव की मदद करना, उसके आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और सत्य का पता लगाने की उसकी कोशिशों का समर्थन करना, लोगों में जो अच्छाई है, उसका उद्घाटन करना और बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकना, लोगों के हृदयों में शर्म, गुस्से और साहस की चिंगारी जगाना, ऊंचे उद्देश्यों के लिये शक्ति बटोरने में उनकी मदद करना और सौन्दर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना... तुम इसमें जीवन को परिष्कृत करनेवाली अन्य चीज़ें भी जोड़ सकते हो... लेकिन मुझे यह बताओ कि तुम किस प्रकार उसमें (मानव में) जीवन की चाह जगा सकते हो, जब ख़ुद भी बुदबुदाने और भुनभुनाने और रोने-झींकने या उसके पतन की एक निष्क्रिय तसवीर खींचने के सिवा और कुछ नहीं करते? ह्रास की गंध धरती को घेरे है, लोगों के हृदयों में कायरता और दासता समा गयी है, काहिली की नरम ज़ंजीरों ने उनके दिमाग़ों और हाथों को जकड़ लिया है–और इस घिनौने जंजाल को तोड़ने के लिये तुम क्या करते हो?"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि गोर्की लेखक से क्या अपेक्षा करते थे। किस हद तक इस कहानी का नायक स्वयं गोर्की की आत्मा की आवाज़ को वाणी दे रहा था, इसका अनुमान हम गोर्की की इस स्वीकारोक्ति से लगा सकते हैं–"'एक पाठक' यह तो मैं स्वयं हूं, ऐसा व्यक्ति, जो ख़ुद अपने आप से, अपने साहित्यकार से बात कर रहा है। मैं ही वह व्यक्ति हूं, जो अपने आप से, लेखक से सन्तुष्ट नहीं हूं।" गोर्की चाहते थे कि लेखक अपने व्यक्तिवादी घेरे से बाहर निकले, रोने-झींकने और मानव पतन की निष्क्रिय तस्वीर न खींचकर ऊंचे उद्देश्यों के लिये शक्ति बटोरने में लोगों की मदद करे। दूसरे शब्दों में साहित्य को सोद्देश्य और किसी ऊंचे लक्ष्य की पूर्त्ति का साधन होना चाहिये। जीवन और उसके यथार्थ, उसके संघर्ष से दूर हटानेवाला साहित्य अपने सामाजिक दायित्व को पूरा नहीं करता और इसलिये गोर्की 'कवि' कहानी के नायक और इसी प्रकार 'बंगलेवाले' नाटक में सपनों की दुनिया में खोई रहनेवाली युवती कवयित्री कलेरिया और अपनी रोमानी दुनिया के घेरे में ही बन्द रहनेवाले कवि शालीमोव पर, जो कवि के नाते समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व मानने को तैयार नहीं, ज़ोरदार चोटें

करते हैं। गोर्की "कला कला के लिये" सिद्धान्त के कट्टर विरोधी थे और लेखन-कार्य को लेखक का निजी मामला मानने को हरगिज़ तैयार नहीं थे। 'साहित्य आदि के बारे में' उनके लेख में हमें यह वाक्य पढ़ने को मिलता है—"कुछ ही समय पहले किसी ने लेखक से यह कहा कि लेखन-कार्य तुम्हारा अपना मामला है और मुझे इससे कोई सरोकार नहीं। यह तो बहुत ही हानिकारक बकवास है।" इसी लेख में उन्होंने आगे चलकर यह लिखा है: "हमारे समय में कला के सामने जीवन के अधिक निकट होने, युग-जीवन में, जिसका मूलभूत सार सामाजिक क्रान्ति है, सक्रिय रूप से प्रवेश करने का प्रश्न है... साहित्य को और अधिक स्फूर्ति पैदा करने की अपनी भूमिका को समझना चाहिये... साहित्यकारों और समालोचकों को मेहनतकश जनता के हितों में मिलकर मैत्रीपूर्ण ढंग से काम करने के मार्ग ढूंढ़ने और तैयार करने चाहिये।" जीवन से अलग रहने, तटस्थता या पलायन की प्रेरणा देनेवाली कला अथवा साहित्य गोर्की को किसी रूप में भी स्वीकार्य नहीं था। यही कारण है कि केवल शब्दों में ही मानवता की दुहाई देनेवाले लोगों के ढोंग का भी उन्होंने पूरे ज़ोर से भंडाफोड़ किया। उन्होंने साफ़ शब्दों में और सीधे-सीधे ही यह पूछ लिया: "किस के साथ हैं आप कला के धनी?" वह साहित्यकारों और कलाकारों से तटस्थता की नहीं, बल्कि शोषितों-उत्पीड़ितों और पद-दलितों के पक्ष-पोषण की मांग करते थे, इसे उनके साहित्य-सृजन और कला-कर्म का ध्येय मानते थे। इसीलिये उन्हें पूंजीवादी सभ्यता के झूठे मानवतावाद और शोषण-मुक्त समाजवादी सभ्यता के मानवतावाद में "मानवतावाद" शब्द के सिवा कुछ भी समानता दिखाई नहीं देती थी। उन्होंने लिखा था: "शब्द एक ही है, किन्तु उसका वास्तविक सार बहुत ही भिन्न है।"

तो क्या साहित्य और कला के उद्देश्य तथा साहित्यकार-कलाकार के कर्त्तव्य के बारे में प्रेमचन्द के विचार गोर्की के विचारों से भिन्न थे? नहीं, मोटे तौर पर तो उनमें बड़ी समानता भी है। जिस प्रकार गोर्की ने अपने समय के रूसी साहित्य में ज़ोर पकड़ती हुई ह्रासवादी और निराशावादी प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना की, उसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी। अपने से पहले के हिन्दी-उर्दू के गद्य-पद्य-साहित्य के बारे में उनके निम्न विचार उल्लेखनीय हैं—

"हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई

मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था... क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है... वह उस जाति और उस युग के लिये गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी रुचि का ही प्रमाण हो सकता है।" इतने ज़ोरदार शब्दों में ह्रासवादी, पलायन और निराशावादी साहित्य की आलोचना करने के बाद वह कुछ सन्तोष प्रकट करते हुए कहते हैं—

"परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेज़ी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है... अब वह... जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है..."

प्रेमचन्द साहित्य को न केवल सोद्देश्य, बल्कि गोर्की की भांति जुझारू और पक्ष-पोषक भी मानते थे। "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने यह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जागृत करके अपना यत्न सफल समझता है।" प्रेमचन्द तो साहित्य का लक्ष्य देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई सचाई मानते हैं। दूसरे शब्दों में साहित्यकार को पथ-प्रदर्शक का काम करना चाहिये। प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में यह भी कह दिया कि समाज की अवहेलना करनेवाले साहित्य की अगर समाज भी अवहेलना करे, तो यह कोई अनुचित बात नहीं है। उनके शब्दों में "यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से

बेख़बर हो, जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हंसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिये जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।" प्रेमचन्द ने यह भी कहा है कि अच्छा साहित्यकार बनने के लिये लेखकों में केवल साहित्यिक प्रवृत्ति या रुझान का होना ही काफ़ी नहीं, बल्कि उन्हें राजनीति, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की भी अच्छी जानकारी होनी चाहिये और फिर मानो गोर्की के अन्दाज़ में ही कहते हैं: "साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही... समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।" दूसरे शब्दों में साहित्य और साहित्यकार का ध्येय, लक्ष्य और कर्त्तव्य समाज की भलाई, समाज के उन वर्गों और उन लोगों की हित-रक्षा में अपने को अर्पित करना होना चाहिये, जो अन्याय, अत्याचार और दमन-उत्पीड़न के शिकार हो रहे हों। इसीलिये प्रेमचन्द ने साहित्य की अपनी कसौटी यह बतायी: "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हम में गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" प्रेमचन्द की साहित्य-सम्बन्धी इस कसौटी पर यदि हम विचार करें, तो हमें यह समझने में देर नहीं लगेगी कि वह अच्छे साहित्य के लिये उच्च चिन्तन, सौन्दर्य और सृजन की प्रेरणा, सचाई के प्रकाश, गति और संघर्ष की भावना को आवश्यक गुण मानते थे यानी समाजापेक्षी होते हुए, गति और संघर्ष के भाव पैदा करते हुए भी उसमें कलात्मक गुण और उच्च चिन्तन होना चाहिये—कोरी लफ़्फ़ाज़ी या नारेबाज़ी को अच्छा साहित्य नहीं कहा जा सकता। साहित्य के उच्च कलात्मक स्तर पर गोर्की ने भी बार-बार ज़ोर दिया है और नये लेखकों को जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञानों की थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया है। "अपनी बुद्धि और इच्छा शक्ति को साधना चाहिये," गोर्की नये लेखकों से कहते थे।

गोर्की की भांति प्रेमचन्द भी इस बात को भली भांति समझते थे कि अतीत के साहित्य की भांति बड़े लोगों—सामन्तों-रईसों और पूंजीपतियों को ही अपने सृजन में स्थान देकर तथा साधारण लोगों की अवहेलना करके हमारे युग में वह अपनी सही भूमिका नहीं निभा सकता। इसलिये उसे कलागत या सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी अपनी सामन्तवादी और पूंजीवादी

कसौटी भी बदलनी होगी। उन्होंने लिखा है: "अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्त:पुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़ी और खण्डहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मज़ाक़ उड़ाने के लिये... वह साधारण व्यक्ति भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षायें हैं—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी... उसके लिये सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चों वाली ग़रीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है।" इस तरह दोनों लेखकों ने साधारण लोगों को, मज़दूरों-किसानों को अपने सृजन में मुख्य स्थान दिया है।

गोर्की की भांति प्रेमचन्द भी न केवल साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को ही महत्त्व देते थे, बल्कि यह भी समझते थे कि हर साहित्यकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी न किसी विचारधारा, किसी न किसी वर्ग या समुदाय के हितों का प्रचार करता है। प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं: "रही उपयोगिता की बात। इस विषय में मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटने टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिये, और इस तरह के प्रोपेगेंडे के लिये साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।"

तो जीवन में साहित्य और साहित्यकार की भूमिका के बारे में प्रेमचन्द के विचार गोर्की के विचारों के बहुत निकट थे। प्रेमचन्द को इस बात की पूरी चेतना भी थी कि अपने साहित्य द्वारा वह उन्हीं लक्ष्यों-ध्येयों और उद्देश्यों-आदर्शों का प्रतिपादन कर रहे हैं, जिनकी कसौटी पर वह साहित्य और साहित्यकार को परखना चाहते थे। १९२० में लिखी गयी अपनी कहानी 'मृत्यु के पीछे' में उन्होंने सम्भवत: ख़ुद को ही कहानी का नायक बनाकर एक ऐसे पत्रकार की दास्तान लिखी है जो जीवन भर अपने पत्र के माध्यम से देश-जाति, दीन-दुखियों, शोषितों-

पीड़ितों के लिये आवाज़ उठाता है, उनकी वकालत करता है, स्वयं अभावों और मुसीबतों का शिकार होता है, अपने परिवार को भी कष्ट झेलने के लिये विवश करता है और आख़िर संघर्ष करते हुए ही प्राण दे देता है। मृत्यु के बाद लोग उसे जो सम्मान देते हैं, उसके प्रति अपना स्नेह-प्यार प्रकट करते हैं, वह सब इस बात की पुष्टि करता है कि पत्रकार की जन-सेवा और आत्म-बलिदान व्यर्थ नहीं गया। कहानी का यह वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है—"सबसे अधिक महत्त्वशील वह मूर्त्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से प्रतिष्ठित हुई थी।" श्रमजीवियों की मूर्त्ति ही क्यों सबसे अधिक महत्त्वशील थी? इसलिये कि कहानी का नायक (यानी प्रेमचन्द) जीवन भर उन्हीं के हितों के लिये लड़ता रहा था। कहानी के नायक का बेटा कृष्णचन्द्र बिल्कुल ठीक ही कहता है: "उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुज़रा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।" यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि इस समय तक प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'ग़बन', 'निर्मला' और 'गोदान' जैसे अनूठे और उच्च कोटि के उपन्यास तथा सैकड़ों श्रेष्ठ कहानियां नहीं लिखी थीं, जो १९२० के बाद उनकी क़लम से निकलीं। उनमें जिस ज़ोर से प्रेमचन्द ने दलितों-उत्पीड़ितों के लिये न्याय, समानता और उनके कल्याण की वकालत की है, उससे तो उक्त कहानी के सार्थक होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता।

साहित्य के उद्देश्य और साहित्यकार के सामाजिक उत्तरदायित्व के बारे में गोर्की और प्रेमचन्द के विचारों का कुछ विवेचन करने के बाद, यथार्थवाद, रोमांसवाद (कल्पनावाद) और आदर्शवाद अथवा भाववाद पर थोड़ा विचार कर लेना भी उचित होगा। इससे भी दोनों लेखकों के कृतित्व को समझने में सहायता मिलेगी।

इस सम्बन्ध में गोर्की ने अपने विचार इस तरह प्रकट किये हैं: "साहित्य में दो मूलभूत 'धारायें' या प्रवृत्तियां मानी जाती हैं—रोमांटिज़्म (कल्पनावाद या रोमांसवाद) और रियलिज़्म यानी यथार्थवाद। यथार्थवाद का मतलब है लोगों और उनके जीवन की स्थितियों का सच्चा, किसी तरह का रंग भरे बिना उनका चित्रण। कल्पनावाद की अनेक परिभाषाएं दी गयी हैं, किन्तु उसकी ऐसी सटीक, उसके पूरे स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली एक भी ऐसी परिभाषा अब तक नहीं दी गयी, जिससे साहित्य के सभी इतिहासकार सहमत हो सकते। कल्पनावाद में भी दो,

एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न धाराओं में अन्तर करना ज़रूरी है। एक तो है निष्क्रिय कल्पनावाद, जो या तो यथार्थ को रंगकर मनुष्य का उससे समझौता करवाता है या फिर उसे यथार्थ से विमुख कर व्यर्थ की अन्तर्वादी दुनिया की गहराई में ले जाता है, 'जीवन की भाग्य-सम्बन्धी गुत्थियों', प्रेम और मृत्यु के विचारों, ऐसी 'गुत्थियों' की ओर ले जाता है, जो चिन्तन की 'अटकल' से नहीं, बल्कि विज्ञान द्वारा ही सुलझायी जा सकती हैं। सक्रिय कल्पनावाद व्यक्ति में जीवन के प्रति चाह को तीव्र करने का प्रयास करता है, उसमें वास्तविकता और सभी प्रकार के उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह भावना पैदा करता है।" इसी सम्बन्ध में, गोर्की आगे कहते हैं: "यथार्थवाद और कल्पनावाद का यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा, अगर हम इस प्रश्न की ओर ध्यान दें कि 'लिखने की इच्छा क्यों होती है?' तो इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक उत्तर तो मुझसे पत्र-व्यवहार करनेवाली एक मज़दूर की पन्द्रह वर्षीया बेटी ने मुझे अपने पत्र में इस प्रकार दिया है—

"'मैं पन्द्रह वर्ष की हूं, किन्तु इस छोटी उम्र में ही मुझमें लेखन की प्रतिभा ने दर्शन दिये हैं, जिसका कारण मेरा दरिद्रता का उबा देने-वाला जीवन है।'

"मेरे साथ पत्र-व्यवहार करनेवाली इस पन्द्रह वर्षीया लड़की में अगर सचमुच लेखन-प्रतिभा प्रकट हो जाये—जो, ज़ाहिर है, मैं सच्चे दिल से चाहता हूं, तो वह सम्भवतः तथाकथित 'कल्पनावादी' चीज़ें लिखेगी, सुन्दर मनगढ़न्तों से 'दरिद्रता के उबा देनेवाले जीवन' को समृद्ध बनाने का यत्न करेगी, लोग वास्तव में जैसे हैं, उन्हें उनसे कहीं बेहतर रूप में चित्रित करेगी...

"मेरे साथ पत्र-व्यवहार करनेवाले एक सत्रह वर्षीय मज़दूर ने मुझे लिखा है: 'मेरे पास इतनी अधिक अनुभूतियां हैं कि मैं लिखे बिना नहीं रह सकता।'

"इस मामले में लिखने की इच्छा का कारण जीवन की 'दरिद्रता' नहीं, उसकी समृद्धि है, अनुभूतियों की विपुलता है, उनके बारे में बताने का आन्तरिक आह्वान है। इसलिये मैं कह सकता हूं कि 'दरिद्रता के उबा देनेवाले जीवन' के दबाव और इस कारण भी कि 'मेरे पास इतनी अधिक अनुभूतियां थीं कि मैं लिखे बिना नहीं रह सकता था', मैंने सृजन किया। पहले कारण ने मुझे 'रंगहीन दरिद्र' जीवन में ऐसे काल्पनिक भाव लाने,

ऐसे मनगढ़न्त क़िस्से जैसे कि 'बाज़ का गीत', 'जलते दिल की दन्त-कथा', 'तूफ़ान का अग्रदूत' लिखने को विवश किया और दूसरे कारण से मैं 'छब्बीस और एक लड़की', 'ओर्लोव दम्पति' और 'उत्पाती' जैसी यथार्थवादी कहानियां लिखने लगा।"

गोर्की सक्रिय कल्पनावाद के बारे में आगे कहते हैं: "हमारे साहित्य में वास्तविकता और श्रम के प्रति सक्रिय रवैये, जीवन के प्रति दृढ़ता, उसके नये रूपों के निर्माण का उत्साह और पुराने जीवन के प्रति घृणा की शिक्षा देनेवाला कल्पनावाद नहीं था और अब भी नहीं है... मगर यह शिक्षा ज़रूरी है।"

तो गोर्की के अनुसार यथार्थवाद ही नहीं, बल्कि सक्रिय कल्पनावाद भी साहित्य-सृजन के लिये आवश्यक है, क्योंकि ऐसा कल्पनावाद हमें जीवन में अधिक दृढ़ता और उत्साह प्रदान करता है। गोर्की के अनुसार "क्रांतिकारी कल्पनावाद एक तरह से समाजवादी यथार्थवाद है।"

आइये, अब इसी दृष्टि से यह देखें कि प्रेमचन्द का क्या मत है। लेखक जैनेन्द्रकुमार के नाम एक पत्र में अपने तथा जयशंकर प्रसाद के कृतित्व पर राय ज़ाहिर करते हुए उन्होंने लिखा था: "रियलिस्ट (यथार्थवादी) हममें कोई भी नहीं है। हममें से कोई जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है।" उनके इन विचारों पर ध्यान दीजिये—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है... अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें।"

प्रेमचन्द यथार्थ की भूमि पर बने रहकर उसे वांछित रूप देने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। गोर्की ने नीरस जीवन को कुछ रंगीन बनाने के लिये यदि कल्पना का सहारा लिया, किन्तु उसे पलायन या निष्क्रिय कल्पनावाद नहीं बनने दिया, तो प्रेमचन्द ने यथार्थ की कटुता से बचने के लिये सुखद आदर्श को अवलम्ब बनाया।

यदि लेखक का वांछित आदर्श कोरी कल्पना की उपज हो और वास्तविक जीवन से उसका तनिक भी सम्बन्ध न हो, तो वह कल्पना के

ताने-बाने के माध्यम से अपना सन्देश देने का प्रयत्न करता है। गोर्की ने अपनी रोमानी कहानियों और गीतों-रूपकों द्वारा ऐसा किया। दूसरी ओर, प्रेमचन्द ने काल्पनिक पात्रों पर नहीं (यद्यपि उनकी 'सोज़े वतन' की तथा अन्य कुछ कहानियां इसी तरह की हैं), बल्कि वास्तविक जीवन के पात्रों पर अपने मन के आदर्श आरोपित किये हैं। यह अन्तर होते हुए भी दोनों लेखकों ने अपनी कुछ रचनाओं में जीवन के वांछित रूप को ही प्रमुखता दी है—एक ने सक्रियता लानेवाली कल्पना और क्रांतिकारी कल्पना तथा दूसरे ने आदर्श के रूप में। दोनों ही जीवन को जैसा है, उससे बेहतर देखना और बनाना चाहते हैं। इस दृष्टि से दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट हैं, क्योंकि आदर्श भी इच्छा और इच्छा-जनित कल्पना से ही उद्‌भूत होता है। किन्तु गोर्की सक्रिय कल्पनावाद के हामी थे, क्योंकि निष्क्रिय कल्पनावाद हमें जीवन की परिस्थितियों से समझौता करने के मार्ग पर ले जाता है, जबकि सक्रिय कल्पनावाद हमें साहस और दृढ़ता देता है, संघर्ष की प्रेरणा प्रदान करता है। गोर्की का सक्रिय कल्पनावाद एक क़दम और आगे बढ़कर क्रांतिकारी कल्पनावाद की सीमा पर पहुंच जाता है यानी उस सीमा पर जहां साहित्य जीवन के क्रांतिकारी रूप-परिवर्तन का प्रेरक बन जाता है। गोर्की के विचारों को यों भी व्यक्त किया जा सकता है कि १) साहित्य का आधार वास्तविक जीवन या जीवन की वास्तविकता होना चाहिये। किन्तु उसे २) प्रकृतवाद की ओर नहीं जाना चाहिये यानी फ़ोटोकार की तरह जीवन का छायाचित्र पेश करके ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये और साथ ही उसे ३) क्रांतिकारी कल्पना की भावना से प्रेरित होकर भविष्य की ओर भी देखना चाहिये। विश्व-साहित्य के महान प्रतिनिधि पात्रों के बारे में १६३५ में भी गोर्की ने यह कहा: "वे कोरी कल्पना के परिणाम नहीं, बल्कि वास्तविक तथ्यों की तर्कसंगत और अनिवार्य काव्यमय अतिशयोक्तियां हैं।" दूसरे शब्दों में गोर्की ने यथार्थ का आधार खोये बिना चीज़ों में कुछ रंगीनी लाने, उन्हें कुछ बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने के कला के अधिकार का पक्ष-पोषण किया। प्रेमचन्द उस समय तो गोर्की के दृष्टिकोण के निकट हैं, जब यथार्थ जीवन का वर्णन करते हैं और उसे बदलने की चाह से प्रेरित होकर उसके सुन्दर रूप की कल्पना करते हैं, उस पर अपनी कल्पना या आदर्श का रंग चढ़ाते हैं और यह कहते हैं: "साहित्य की सृष्टि मानव समुदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते ही होती है। आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद

ग्रौर स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो... मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूं।" किन्तु उनकी कल्पना या ग्रादर्श का रंग गोर्की के कल्पनावाद के रंग की भांति (कम से कम समस्या-समाधान के मामले में) सदैव सक्रिय या क्रांतिकारी नहीं हो पाता। इसके लिये सम्भवत: गोर्की ग्रौर प्रेमचन्द के वातावरण की परिस्थितियां ही ग्रधिकतर ज़िम्मेदार थीं। प्रेमचन्द गांधीवादी युग की सीमाग्रों में बंधे हुए थे, जबकि गोर्की मार्क्सवादी-लेनिनवादी युग के ग्रत्यधिक सक्रिय ग्रौर क्रांतिकारी समय से प्रभावित ग्रौर प्रेरित थे। इस ग्रन्तर के बावजूद दोनों लेखकों ने साहित्य के समाजापेक्षी होने, उसे जीवन को बेहतर बनाने के एक ग्रस्त्र के रूप में उपयोग करने की ग्रावश्यकता पर ज़ोर दिया ग्रौर साहित्यकार को ग्रपनी जनता ग्रौर युग के सम्मुख जवाबदेह माना है।

यहां एक बात का स्पष्टीकरण हमें ग्रावश्यक लगता है। हिन्दी के हमारे ग्रधिकतर समालोचकों ने प्रेमचन्द के "ग्रादर्श" शब्द को दार्शनिक ग्रर्थ में लेते हुए उसे भाववाद यानी Idealism के साथ, जिसका कभी-कभी हिन्दी में "ग्रादर्शवाद" ग्रनुवाद भी किया जाता है, गड़बड़ा दिया है ग्रौर उनके कृतित्व पर भाववाद का दार्शनिक पक्ष ग्रारोपित कर दिया है। कम से कम हमें तो यह उचित नहीं लगता। जीवन जैसा है, वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिये, उसके बारे में प्रेमचन्द की कल्पना ही उनका ग्रादर्श है ग्रौर इस ग्रर्थ में ग्रौर इस हद तक ही वह ग्रादर्शवादी हैं। उनका ग्रादर्शवाद किस सीमा तक सक्रियता या क्रांति की भावना से ग्रोत-प्रोत है, ग्रथवा समझौते की ग्रोर ले जाता है, इस बारे में मतभेद या विवाद हो सकता है, किन्तु जीवन को उसके सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने की चाह या ग्रादर्श को दार्शनिक भाववाद का ग्रर्थ प्रदान करना उचित नहीं होगा। गोर्की पर भी कुछ समालोचकों ने दार्शनिक ग्रर्थ में भाववादी होने का ग्रारोप लगाया था। उन्होंने इसका खण्डन करते हुए लिखा है: "जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, यही इच्छा (गोर्की का ग्रभिप्राय 'कल्पना' से 'दरिद्रता के उबा देनेवाले जीवन' को कुछ रंगने की इच्छा से है) 'रोमांसवाद (Romanticism) कहलाती है। कुछ समालोचकों ने मेरे कल्पनावाद को दार्शनिक भाववाद का प्रतिबिम्ब माना है। मेरे ख़्याल में यह सही नहीं है।

"दार्शनिक भाववाद यह मानता है कि व्यक्ति, पशुग्रों ग्रौर उन सब चीज़ों के ऊपर, जिनका वह निर्माण करता है, 'भाव' विद्यमान हैं

ग्रौर उन्हीं को प्रभुत्व प्राप्त है, वही लोगों द्वारा किये जानेवाले सारे सृजन के ग्रादर्श रूप हैं, ग्रौर व्यक्ति ग्रपनी गतिविधियों में पूरी तरह उन भावों पर निर्भर है, उसका सारा कार्य 'भावों' के उन नमूनों का ग्रनुकरण मात्र है, जिनका वह मानो धुंधला-सा ग्रस्तित्व ग्रनुभव करता है... मेरे लिये व्यक्ति से बाहर भाव का ग्रस्तित्व नहीं है, मेरे लिये वही ग्रौर केवल वही सभी वस्तुग्रों ग्रौर सभी भावों का स्रष्टा है, वही यानी मानव चमत्कारकर्त्ता है ग्रौर प्रकृति की सारी शक्तियों का भावी स्वामी है... मानव के सम्मुख मैं इसीलिये 'सिर झुकाता हूं' कि उसकी सूझ-बूझ, उसकी कल्पना, उसकी मानसिक उड़ान के मूर्तरूप के ग्रतिरिक्त मैं इस संसार में न तो कुछ ग्रनुभव करता हूं ग्रौर न देखता हूं।"

यह सही है कि गोर्की की भांति प्रेमचन्द मूलतः भौतिकवादी नहीं थे, किन्तु ग्रपने कृतित्व में उन्होंने दार्शनिक भाववाद की महिमा का स्तुतिगान नहीं किया है। गोर्की की भांति उनके लिये भी मानव, सो भी छोटे, निर्धन, शोषित ग्रौर पीड़ित मानव का कल्याण, उसकी भलाई, मानवजाति की भलाई के ग्रतिरिक्त ग्रौर कोई ग्रादर्श नहीं था। उन्हें भी मानव की सृजन-शक्ति, मानव की प्रतिभा ग्रौर जीवन को बेहतर बनाने की उसकी चाह में पूरा विश्वास था। इस तरह हम कह सकते हैं कि साहित्य ग्रौर साहित्यकार के उद्देश्य ग्रौर कर्त्तव्य के सम्बन्ध में गोर्की ग्रौर प्रेमचन्द के दृष्टिकोणों में ग्रत्यधिक निकटता है ग्रौर यही उन दोनों के कृतित्व की सादृश्यता की निकटता को समझने की कुंजी है। यदि हमें ऐसा लगे कि इन दोनों महान लेखकों ने ग्रपने सृजन के लिये निर्धारित माप-दण्डों को व्यावहारिक रूप दिया है, उन्हें ग्रपने कृतित्व में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि उन्होंने साहित्यकार के ग्रपने कर्त्तव्य को ग्रच्छी तरह निभाया है ग्रौर ग्रपने युग का बहुत ग्रच्छा साहित्यिक प्रतिनिधित्व किया है। तब उनके कृतित्व में दिखाई देनेवाले ग्रन्तर मुख्यतः देश-काल की परिस्थितियों के ही ग्रन्तर माने जायेंगे।

सृजन के दर्पण में

पिछले कुछ अध्यायों में हमने इस पुस्तक की आवश्यकता के औचित्य, भारत के प्रति गोर्की के विचारों, सोवियत रूस के प्रति प्रेमचन्द के निरन्तर बढ़ते सद्भावों, दोनों लेखकों की जीवनियों और साहित्यिक विकासक्रम, उनके युग की राजनीतिक, आर्थिक-सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा जीवन में साहित्य की भूमिका के बारे में दोनों की मान्यताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। गोर्की के रूस और प्रेमचन्द के भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझे बिना, उसे निरन्तर ध्यान में रखे बिना हम इन दोनों लेखकों के कृतित्व के बारे में सही धारणा नहीं बना सकते। इसी प्रकार यदि हमें यह स्पष्ट न हो कि जीवन में साहित्य की भूमिका के सम्बन्ध में उनकी क्या मान्यतायें थीं, तो भी हम उनके कृतित्व का उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहेंगे। हम देख चुके हैं कि गोर्की और प्रेमचन्द के समकालीन होने के बावजूद, उनके जीवन में बहुत कुछ समानता होते हुए भी महत्त्वपूर्ण अन्तर थे, जिन्होंने उनके कृतित्व को प्रभावित किया, रूस और भारत की ऐतिहासिक-साहित्यिक परिस्थितियों में समानता होते हुए भी ऐसे मूलभूत अन्तर विद्यमान थे, जिन्होंने इन दोनों लेखकों के चिन्तन तथा कृतित्व पर अपनी छाप अंकित की। जीवन में साहित्य की भूमिका के बारे में दोनों के दृष्टिकोणों की समानता की ओर हम संकेत कर चुके हैं। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने अपनी साहित्यिक मान्यताओं को अपने कृतित्व में कैसे व्यावहारिक रूप दिया। यहां यह कह देना भी उचित होगा कि हम इन दोनों लेखकों की सभी रचनाओं या समूचे कृतित्व का विवेचन नहीं करेंगे, बल्कि ऐसी प्रमुख रचनाओं या कृतियों को ही लेंगे, जो उनके

साहित्यिक विकासक्रम की किसी अवस्था, विशेष लक्षण या प्रवृत्ति की द्योतक होंगी।

गोर्की के साहित्य को तीन अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। पहली अवस्था में १८९२ से १८९९ तक के साहित्य, दूसरी अवस्था में १८९९ से १९०७ तक के सृजन और तीसरी अवस्था में १९०७ के बाद के कृतित्व को लिया जा सकता है।

मक्सिम गोर्की के बचपन, किशोरावस्था और तरुणावस्था की चर्चा करते हुए हम यह बता चुके हैं कि कैसे स्कूल की पढ़ाई के दिनों में ही जब उनकी मां उन्हें कवितायें रटाती थीं तो वह शब्दों को उलट-पलटकर उन्हें अटपटा और अक्सर हास्यपूर्ण रूप दे देते थे और इसके लिये उनकी मां ने तंग आकर एकाध बार पिटाई भी की थी। तुकबन्दी का यह शौक़ आगे भी जारी रहा और जब वह अपनी नानी की बहन के यहां नौकर थे, तो स्कूल में पढ़नेवाले लड़कों के लिये, जिनके साथ वह कभी-कभी फ़ुरसत का अपना वक़्त बिताते थे, प्रेम-पत्रों के रूप में तुकबन्दी किया करते थे। यह शौक़ पनपता रहा और तरुणावस्था में उन्होंने कुछ अन्य कवितायें रचीं, जिनमें से 'बूढ़े बलूत का गीत' लम्बी कविता पर उन्हें विशेष गर्व था। उन्होंने कुछ अन्य कवितायें भी लिखीं, जिनमें से 'युवती और मृत्यु' तथा 'मानव' आदि उल्लेखनीय हैं और इन्हीं के आधार पर कभी-कभी कवि के रूप में भी गोर्की की चर्चा की जाती है। निश्चय ही उनमें एक अच्छे कवि की प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं, किन्तु कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार और चिन्तक-समालोचक के रूप में ही गोर्की अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के शिखर पर पहुंचे। कवि के रूप में गोर्की ने ख़ुद अपने बारे में जो राय प्रकट की है, वह उल्लेखनीय है—"कविता लिखने में मेरी क़लम सहज ढंग से चलती थी, परन्तु मैं जानता था कि जो कुछ मैं लिखता हूं वह बहुत घटिया है... मैंने पुश्किन, लेर्मोन्तोव, नेक्रासोव की रचनायें तथा कूरोच्किन द्वारा किया गया बेरांझे का अनुवाद पढ़कर स्पष्ट रूप से समझ लिया कि मुझमें इन कवियों में से किसी से भी मिलता-जुलता कुछ नहीं है... लयबद्ध गद्य में ही मैंने एक लम्बी कविता 'बूढ़े बलूत का गीत' लिखी। व० ग० कोरोलेंको ने केवल एक दर्जन शब्दों में ही इस भद्दी कृति की धज्जियां उड़ा दीं।" यह उद्धरण कुछ हद तक गोर्की की नम्रता का द्योतक है, फिर भी यही मानना उचित होगा कि सही अर्थ में उनका

साहित्यिक जीवन १८९२ में आरम्भ हुआ, जब तिफ़लिस की 'कवकाज़' पत्रिका के सितम्बर महीने के अंक में उनकी पहली कहानी 'मकर चुद्रा' छपी। इस कहानी के प्रकाशन के कुछ समय बाद गोर्की अपने जन्म-नगर नीज्नी नोव्गोरोद में वापस आ गये, जहां उस समय के एक प्रसिद्ध रूसी लेखक कोरोलेंको ने (जिनके साथ गोर्की का परिचय यों तो १८८९ में ही हो गया था और उन्होंने, जैसा कि पीछे कहा गया है, गोर्की की कविताओं की कटु आलोचना की थी) उनका संरक्षण और पथ-प्रदर्शन किया और उन्हीं की सहायता से गोर्की की 'चेल्काश' कहानी राजधानी की एक लोकप्रिय पत्रिका 'रूस्सकोये बोगात्स्त्वो' ('रूसी संपदा') के १८९५ के छठे अंक में छपी। फिर भी उनकी अधिकतर रचनायें वोल्गा तटवर्ती प्रान्तीय पत्र-पत्रिकाओं में ही छपती रहीं और यद्यपि उनकी प्रतिभा ने तत्कालीन प्रमुख लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया, तथापि १८९८ में 'शब्दचित्र और कहानियां' नामक उनके दो छोटे-छोटे संग्रहों के प्रकाशित होने पर ही उन्हें विस्तृत ख्याति मिली। साहित्य-जगत में इन संग्रहों का इतना उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ कि उस समय के प्रमुखतम लेखकों – चेख़ोव और तोलस्तोय के साथ गोर्की का नाम लिया जाने लगा और कुछ ही समय में उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि जहां उनकी इन पुस्तकों की प्रति-संख्या की बिक्री लाखों तक जा पहुंची, वहां उनके प्रशंसकों की भीड़ उन्हें ऐसे घेर लेती थी कि कभी-कभी तो पुलिस को उनकी रक्षा करनी पड़ती थी। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसी क्या ख़ास चीज़ थी गोर्की की इन प्रारम्भिक कहानियों और शब्दचित्रों में, जिसने उन्हें एकबार ही इतनी ऊंचाई पर पहुंचा दिया, एक बड़े लेखक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित कर दिया? इस बात पर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाना चाहिये कि गोर्की के पहले रूसी कथा-साहित्य की अपनी एक लम्बी और समृद्ध परम्परा विद्यमान थी, वह विश्व-व्यापी मान्यता प्राप्त कर चुकी थी और उसके कुछ प्रमुखतम प्रतिनिधि – कोरोलेंको, चेख़ोव (प्रेमचन्द के अनुसार छोटी कहानियों का बादशाह) और लेव तोलस्तोय इस समय भी सृजन कर रहे थे।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर के लिये उनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियों की सविस्तार चर्चा ज़रूरी है। गोर्की की प्रारम्भिक कहानियों में दो धारायें – रोमानी या (रोमांटिक, जिसे हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी और कल्पना-वादी भी कहा जाता है) और यथार्थवादी – साथ-साथ बहती दिखाई देती

हैं। ये दो धारायें, जैसा कि स्वयं गोर्की ने कहा है, उनके जीवन की दो विभिन्न परिस्थितियों का परिणाम थीं। एक तो ग्रभावों ग्रौर दरिद्रता की वे परिस्थितियां थीं, जिनके बोझ को हल्का करने के लिये वह ग्रपनी रचनाग्रों में कल्पना की रंगीनी भरने को प्रेरित हुए ग्रौर इस तरह उनमें रोमानी रंग ग्राया ग्रौर दूसरी ग्रनुभवों ग्रौर ग्रनुभूतियों की वह विपुलता थी, जिसके कारण वह लिखे बिना नहीं रह सकते थे ग्रौर ये ग्रनुभवपरक रचनायें यथार्थवाद का पुट लिये हुए थीं, उनमें वास्तविक जीवन का चित्रण था, उनके पात्र काल्पनिक नहीं, हाड़-मांस के जीवित लोग थे। 'मकर चुद्रा', 'बुढ़िया इज़रगिल', 'बाज़ का गीत', 'युवती ग्रौर मृत्यु', 'तूफ़ान का ग्रग्रदूत' ग्रादि रोमानी ढंग की कहानियों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं ग्रौर 'चेल्काश', 'कोनोवालोव', 'ग्रोर्लोव दम्पति', 'छब्बीस ग्रौर एक लड़की', 'नमकसार में', 'कैसे ऊब मिटे?' ग्रादि यथार्थवादी कहानियों की परम्परा में ग्राती हैं। जब गोर्की की रोमानी कहानियों की चर्चा की जाती है, तो उनका एक विशेष ग्रर्थ समझा जाता है ग्रौर उसे रोमांसवाद के प्रचलित तात्पर्य से पृथक किया जाता है। ग्राम रोमांसवाद ग्रौर गोर्की के प्रारम्भिक कृतित्व के रोमांसवाद के ग्रन्तर पर ज़ोर देने के लिये उसे क्रांतिकारी रोमांसवाद की संज्ञा दी जाती है। उसकी पृष्ठभूमि यह है कि १६ वीं शताब्दी के ग्रन्तिम चरण में रूस में नरोदवाद की जो राजनीतिक विचारधारा पनपी थी ग्रौर जिसने किसानों की जागृती ग्रौर उनके "कम्यूनों" द्वारा रूस का कायाकल्प करने का लक्ष्य ग्रपने सामने रखा था, वह ग्रन्तिम दशक में एक ग्रान्दोलन के रूप में ग्रपना बहुत-सा महत्त्व खो चुकी थी। नरोदवाद के ग्रातंकवादी मार्ग पर चलने के परिणामस्वरूप ज़ारशाही ने उसे कुचल डाला था ग्रौर उसके ग्रनुयायियों में पराजय ग्रौर निराशा के भावों ने घर कर लिया था। उन्होंने संघर्ष-पथ को त्याग दिया था ग्रौर वे जीवन को जैसा था, उसे निराशावादी रूप में ग्रहण करने लगे थे। विवशता, ग्रसहायता ग्रौर निराशा के ये भाव साहित्य में भी प्रकट होने लगे ग्रौर इसी के फलस्वरूप ह्रासोन्मुख, निराशावादी ग्रौर व्यक्तिवादी साहित्यिक प्रवृत्तियां, जैसे कि प्रतीकवादी काव्य-परम्परायें उभरीं। किन्तु यदि एक ग्रोर नरोदवादी राजनीतिक रंगमंच ग्रौर संघर्ष-पथ से हट रहे थे, तो दूसरी ग्रोर मार्क्सवादी संघर्ष-क्षेत्र में ग्रागे ग्रा रहे थे। वे एक नया जीवन-दर्शन, एक नयी कार्यनीति ग्रौर नये उत्साह तथा ढंग से चेतना ला रहे थे, नयी क्रांतिकारी लहर

के ग्रागमन के सूचक बन रहे थे। ये लोग इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि रूस में जिस तरह का जीवन है, उसे उसी रूप में स्वीकारा नहीं जा सकता, उसे बदलना ज़रूरी है ग्रौर यह बदला जायेगा। इन लोगों ने ज़ारशाही ही नहीं, बल्कि रूस में तेज़ी से विकसित हो रहे पूंजीवाद के ग्रन्त को भी ग्रपना लक्ष्य बनाया। यदि बुद्धिजीवियों ग्रौर मध्यवर्गीय लोगों के कुछ क्षेत्रों में जीवन से समझौते ग्रौर निराशावाद के भाव उभर रहे थे, तो मज़दूरों, ग्राम ग़रीब लोगों ग्रौर १८९१–१८९२ के भयानक ग्रकाल के कारण किसानों में बेचैनी बढ़ रही थी, उनमें विरोध की भावना बलवती हो रही थी, वे एक नयी ग्रौर ग्रधिक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था चाहते थे। तत्कालीन रूसी जीवन के इस पक्ष का साहित्य में प्रतिबिम्बित होना भी ग्रनिवार्य था। यदि प्रतीकवादियों ने "नव रोमांसवाद" की धारा बहाते हुए जीवन के यथार्थ से मुंह मोड़ा, कल्पनाग्रों ग्रौर स्वप्नों के जगत में विचरना शुरू किया, रहस्यवादी गुत्थियों में ग्रपने को खोते हुए पलायनवाद का मार्ग ग्रपनाया, शुद्ध कला या कला कला के लिये का नारा लगाया, तो गोर्की के रोमांसवाद के रूप में वह प्रबल साहित्यिक प्रवृत्ति उभरी, जिसने लोगों की दबी-घुटी भावनाग्रों, उनकी विरोध ग्रौर क्रांति की तिलमिलाती इच्छाग्रों को सशक्त वाणी दी। प्रतीकवादी ग्रौर ग्रनुभूतिवादी पहली प्रवृत्ति का ग्रनुकरण कर रहे थे, जबकि गोर्की ने दूसरी, सक्रिय रोमांसवाद की धारा ग्रपनायी। तत्कालीन रूसी साहित्य के लिये यह सौभाग्य की बात थी कि कविता के क्षेत्र में ही पतनोन्मुख तथा निराशावादी भावनाग्रों को ग्रधिक ग्रभिव्यक्ति मिली थी ग्रौर गद्य में यथार्थवाद की श्रेष्ठ ग्रौर लम्बी परम्परा इस समय भी चलती जा रही थी। लेव तोलस्तोय ग्रौर चेख़ोव तथा नरोदवादी होने के बावजूद ग्रपने सृजन में यथार्थवादी ग्रौर जनवादी कोरोलेंको भी रूसी गद्य साहित्य के ग्रगुग्रा थे। ज़ारशाही के प्रतिबन्धों के कारण रूस के जीवन के सभी पक्षों, उतार-चढ़ावों ग्रौर ग्रान्दोलनों को प्रतिबिम्बित करने ग्रौर ग्राम जनता के जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला महान रूसी कथा-साहित्य इस समय भी ग्रपनी श्रेष्ठ भूमिका निभा रहा था, वह ह्रासवाद ग्रौर पलायनवाद के दलदल में नहीं फंसा था, यद्यपि कुछ हद तक प्रभावित हुए बिना न रह सका था। इतना होते हुए भी न तो तोलस्तोय, न चेख़ोव ग्रौर न कोरोलेंको ही लोगों के हृदयों में उमड़ती-घुमड़ती क्रांति-भावनाग्रों को समय के ग्रनुरूप स्वर दे पा रहे थे। यह काम गोर्की ने,

उनकी रोमानी कहानियों ने, उनके सक्रिय और क्रांतिकारी रोमांसवाद ने पूरा किया। रोमानी रंग में लिखी हुई उनकी पहली प्रकाशित कहानी 'मकर चुद्रा' अपना अलग व्यक्तित्व लिये हुए पाठकों के सामने आई। कहानीकार, युवा गोर्की (२४ वर्ष की आयु थी तब लेखक की) ने इस कहानी को एक बूढ़े जिप्सी मकर चुद्रा के मुंह से सुनवाया है। कहानी का नायक है लोइको ज़ोबार और नायिका है राद्दा। वे दोनों जवान और अत्यधिक सुन्दर हैं। दोनों बड़े गर्वीले और अपनी आज़ादी को जी-जान से चाहनेवाले हैं। राद्दा पर बहुत-से लोग लट्टू हो चुके थे, बहुतों ने पैसे की चमक-दमक से उसे जीतना चाहा था, मगर किसी को भी इसमें सफलता नहीं मिली थी। दूसरी ओर बहादुर लोइको ज़ोबार बहुत-सी लड़कियों को अपने इशारों पर नचा चुका था और कभी किसी के वश में नहीं आया था। किन्तु राद्दा के रूप ने उस पर भी जादू कर दिया। वह उससे शादी करना चाहता है, मगर साथ में यह भी कह देता है: "याद रखना, मेरी आज़ादी में ख़लल न डालना—मैं आज़ाद आदमी हूं और जैसे चाहूंगा, वैसे ही रहूंगा।" दूसरी ओर राद्दा भी कुछ कम नहीं थी। बोली: "कभी किसी को प्यार नहीं कर पाई। लेकिन तुम्हें प्यार करती हूं, लोइको। और आज़ादी मुझे भी प्यारी है। आज़ादी को तो मैं तुमसे भी अधिक प्यार करती हूं, लोइको।" सो ये दोनों आज़ादी के दीवाने किसी भी क़ीमत पर उसे नहीं खोना चाहते। यहां तक कि वे अपने प्राणों का भी बलिदान कर देते हैं। इतनी प्यारी चीज़ है आज़ादी! यह था वह स्वर, जो तत्कालीन छटपटाती हुई विद्रोही रूसी आत्मा सुनना चाहती थी। यह कल्पित कहानी है, मनगढ़न्त क़िस्सा है, मगर इसका सन्देश स्पष्ट है—आज़ादी पर हर चीज़, यहां तक कि जान भी क़ुर्बान की जा सकती है। तर्कशील पाठक के मन में यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि आज़ादी का अपने में तो कोई अर्थ नहीं होता, यह तो अराजकतावादी आज़ादी है, जीवन के हर बन्धन से इन्कार है। हां, ऐसे प्रश्न मन में आ सकते हैं। किन्तु ऐसे पाठक को ध्यान में रखना चाहिये कि यह तो केवल मनगढ़न्त क़िस्सा है, वास्तविक जीवन की कहानी नहीं है और लेखक का उद्देश्य केवल आज़ादी के महत्त्व को उभारना, उस पर ज़ोर देना है। वैसे भी लेखक ने कहानी सुनानेवाले जिप्सी के विचारों या उसके मत का समर्थन नहीं किया है। जिप्सी जब लेखक से यह कहता है: "तो तुम दुनिया की धूल छानते फिर रहे हो?

बहुत ख़ूब! बहुत अच्छा रास्ता पकड़ा है तुमने, मेरे सूरमा! ऐसा ही करना भी चाहिये – घूम-फिरकर दुनिया देखो, जब मन भर जाये तो पड़ रहो और सदा के लिये आंखें मूंद लो – बस, क़िस्सा ख़त्म!" तो स्वयं लेखक ने इसी सम्बन्ध में लिखा है: "'ऐसा ही करना भी चाहिये' वाली उसकी बात मुझे जंची नहीं।" इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक गोर्की जिप्सी की सभी बातों को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। जब वह यह कहता है कि किसी आदमी की किसी को ज़रूरत नहीं है, क्योंकि तुम "न तो रोटी हो, न लाठी", तो यह भी गोर्की के नहीं, बूढ़े जिप्सी के ही विचार रहते हैं। जब वह जीवन में काम और मेहनत करने की निरर्थकता का राग अलापता है, तो गोर्की कुछ हद तक ऐसे जीवन-दर्शन की सारहीनता की ओर संकेत करते तथा कुछ सीमा तक इसलिये स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि इस श्रम का फल तो श्रम करनेवाले नहीं, दूसरे लोग हथिया लेते हैं। यह प्रश्न गोर्की ने आवारा लोगों से सम्बन्धित अपनी बाद की कहानियों में भी बार-बार उठाया है।

इसी कहानी में जिप्सी मकर चुद्रा के मुंह से गोर्की ने ये शब्द भी कहलवाये हैं: "एक आदमी से मेरी अच्छी बातचीत हुई। बड़ा धीर-गम्भीर था, कोई तुम्हारा ही रूसी। बोला: 'जैसे मन में आये, वैसे नहीं, बल्कि जैसे ख़ुदा की किताब में लिखा है, वैसे जीना चाहिये। ख़ुदा की बात मानोगे, तो वह तुम्हारी मुराद पूरी करेगा।' वह ख़ुद चिथड़े पहने था। मैंने कहा: 'ख़ुदा से एक नया सूट क्यों नहीं मांग लेते?' इस पर वह बुरी तरह बिगड़ खड़ा हुआ और गालियां देते हुए उसने मुझे भगा दिया। लेकिन कुछ ही क्षण पहले वह उपदेश झाड़ रहा था कि लोगों से प्रेम करना चाहिये, उन्हें क्षमा करना चाहिये। अगर मैंने उसका दिल दुखा ही दिया था, तो कर देता मुझे माफ़। ऐसे होते हैं ये तुम्हारे उपदेशक!" हमें ऐसा लगता है कि इन शब्दों द्वारा गोर्की ने तोलस्तोय के प्रेम और क्षमा के उन उपदेशों पर चोट की है, जिनका उस समय तोलस्तोय प्रचार करते थे, यहां तक कि अकाल-पीड़ितों की समस्या का समाधान भी उन्होंने प्रेम ही बताया था। गोर्की चूंकि स्वयं १८९१–१८९२ के अकाल के समय इन्हीं पीड़ित लोगों में से एक रहे थे, इसलिये उनकी यह तीव्र प्रतिक्रिया १८९२ में लिखी गयी इस 'मकर चुद्रा' कहानी में व्यक्त हुई हो, इसकी बड़ी सम्भावना है। साथ ही भगवान के प्रति गोर्की के रवैये का भी हमें कुछ अनुमान हो जाता है।

इस कहानी के एक अन्य स्थल की ओर हम ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं। एक बहुत ही धनी वृद्ध जब राद्दा को देखते ही उसका दीवाना हो गया और उसने धन के बल पर राद्दा को पाना चाहा, तो राद्दा के पिता दनीलो ने, जो कभी सैनिक रह चुका था, उसे यह उत्तर दिया: "बेचते तो सब कुछ बड़े लोग ही हैं—सुअरों से लेकर अपनी आत्मा तक। और मैं, जो कोशुत (हंगरी की १८४८ की क्रांति का नायक) की कमान में लड़ चुका हूं, बेचने-वेचने का धंधा नहीं करता!" गोर्की ने पहली ही कहानी में यह स्पष्ट कर दिया कि पूंजीवादी समाज में बड़े और धनी लोग ही अपनी आत्मा समेत हर चीज़ का व्यापार कर सकते हैं, जबकि जन-क्रांति में भाग ले चुका सैनिक पैसे की कुछ भी परवाह नहीं करता। स्पष्ट है कि ऐसे बाप की बेटी राद्दा भी धन की उपेक्षा और आज़ादी की भावना को अपनी घुट्टी में लेकर बड़ी हुई थी।

रोमानी शैली में लिखी गयी गोर्की की कहानियों में 'बुढ़िया इज़रगिल' का अपना एक विशेष स्थान है। स्वयं गोर्की ने चेख़ोव को लिखे गये एक पत्र में कहा है: "'बुढ़िया इज़रगिल' जैसी कसी हुई और सुन्दर मैं अन्य कोई रचना नहीं लिख पाऊंगा।" गोर्की के अपने इस मूल्यांकन से सहमत होना जरूरी नहीं, क्योंकि उनकी अन्य कहानियों के सौन्दर्य तथा मार्मिकता से पाठक और भी अधिक अभिभूत हो सकते हैं, फिर भी इस कहानी के तीन भागों में व्यक्त किये गये विचार और भाव, उनमें निहित जीवन-दर्शन और जीवन-सन्देश तथा साथ ही कवित्वपूर्ण शैली और प्राकृतिक वर्णन एवं कौतूहल का पुट इसे बहुत ही सरस तथा मनोरंजक और शिक्षाप्रद बना देते हैं। अगर लोइको ज़ोबार तथा राद्दा के प्रेम और स्वतन्त्रता-प्रेम के द्वन्द्व की कहानी बूढ़ा जिप्सी मकर चुद्रा सुनाता है, तो इसमें बुढ़िया इज़रगिल मानवद्वेषी लारा और स्वयं अपना तथा वीर दान्को के क़िस्से सुनाती है। पहले भाग में लारा (जिसका अर्थ है लांछित और बहिष्कृत) की कहानी है। वह एक सुन्दर नारी और बाज़ पिता का पुत्र है, बाज़ की तरह दम्भी और उद्धत। किसी को अपने समान नहीं समझता, किसी को ख़ातिर में नहीं लाता, बड़ों का आदर-सत्कार नहीं करता और जब वे उसे अपने से दूर, लोगों में से बहिष्कृत कर देते हैं, तो वह बड़ी निर्ममता से एक सुन्दर लड़की की हत्या कर देता है, क्योंकि लड़की उसके आलिंगन की अवहेलना करते हुए उसे परे धकेल देती है। अकस्मात घटनेवाली ऐसी घटना से लोग

पहले तो स्तम्भित रह जाते हैं, किन्तु सम्भलने पर उसकी मुश्कें बांध लेते हैं और फिर ये सोचने लगते हैं कि उसे क्या दण्ड दिया जाये। उन्होंने सोचा कि घोड़ों से उसे रौंदवाया जाये, तीरों से उसका शरीर छलनी किया जाये, ज़िन्दा जलाया जाये, किन्तु उन्हें कोई भी सज़ा नहीं जंची। आख़िर यही दण्ड उपयुक्त प्रतीत हुआ कि बहिष्कार करके उसे अकेला और आज़ाद छोड़ दिया जाये। "वह उन लोगों पर हंसा, जिन्होंने उसे आज़ाद छोड़ दिया था—वह हंसा, अपने आपको अकेला और उतना ही आज़ाद देखकर, जितना कि उसका पिता था। लेकिन उसका पिता मानव नहीं था, जबकि वह था..." सो लारा मनमाने ढंग से रहने, स्वार्थपूर्ण ढंग से अपना स्वतन्त्र और एकाकी जीवन बिताने लगा। किन्तु यही एकाकीपन उसके लिये बोझ बन गया, वह लोगों के बीच रहना चाहता था और यदि ऐसा सम्भव नहीं था, तो लोगों के हाथों मर जाना चाहता था। किन्तु लोगों ने उसकी हत्या नहीं की और दैवी-दण्ड के फलस्वरूप वह आत्महत्या करके भी नहीं मर सका। "तब से वह अकेला और एकदम आज़ाद मौत की प्रतीक्षा कर रहा है। वह बस, इस धरती पर मंडराता रहता है... देख रहे हो न, वह एक परछाईं भर रह गया है और अनन्त काल तक इसी रूप में भटकता रहेगा... न तो वह जीवित है और न उसे मौत ही आती है। और न मानवों के बीच ही उसके लिये कोई जगह है... तो घमण्ड के लिये ऐसा बुरा हाल किया गया था मानव का।"

कहानी के पहले भाग का अन्तिम वाक्य इसके सार को स्पष्ट कर देता है। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने लिये ही जीना चाहता है, समाज की उपेक्षा-अवहेलना करता है, तो उसका ऐसा ही बुरा हाल होता है, वह न तो जीवितों में रहता है और न उससे मरते ही बनता है।

इस कहानी के अन्तिम और तीसरे भाग में बुढ़िया इज़रगिल वीर दान्को का क़िस्सा सुनाती है। दान्को एक ऐसा सुन्दर और साहसी नौजवान है, जो शत्रुओं से पराजित होकर घने जंगल में कठिन और असह्य जीवन बिताने तथा तंग आकर दुश्मन को अपनी आज़ादी भेंट करने की बात सोचनेवाले लोगों का नेतृत्व करके उन्हें मुक्ति-मार्ग की ओर ले जाता है। रास्ते में कठिनाइयों का सामना होने पर लोगों का विश्वास डगमगाने लगता है, वे दान्को को मारने की बात सोचने लगते हैं और तभी दान्को लोगों के हित के लिये एक चमत्कार करता है—"और सहसा

उसने अपना वक्ष चीर डाला, अपने हृदय को नोचकर बाहर निकाला और उसे अपने सिर से ऊंचा उठा लिया... वह सूरज की भांति चमक रहा था, बल्कि उसका प्रकाश सूरज से भी ज़्यादा तेज़ था। जंगल की गरज शान्त हो गयी और इस मशाल का – मानवजाति के प्रति महान प्रेम की इस मशाल का–आलोक फैल चला... 'बढ़े चलो!' दान्को ने चिल्लाकर कहा और अपने जलते हुए हृदय को ख़ूब ऊंचा उठाकर लोगों का पथ जगमगाता हुआ तेज़ी से आगे बढ़ चला... बुढ़िया की सुन्दर कहानी का अन्त होते न होते स्तेपी में भयानक निस्तब्धता छा गयी थी। ऐसा मालूम होता था मानो वीर दान्को की शक्ति से वह भी आतंकित हो उठी हो–जिसने लोगों के लिये ख़ुद अपने हृदय की मशाल जलायी और बदले में किसी भी चीज़ की इच्छा किये बिना मर गया।" तो ऐसा था वीर दान्को, अपने दिल को हथेली पर लेकर लोगों का नेतृत्व करनेवाला, उन्हें राह दिखानेवाला, जन-कल्याण के लिये निस्स्वार्थ भाव से अपने प्राण देनेवाला! स्पष्ट है कि वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता, दान्को तो एक प्रतीक है वीरता का, लोगों की आज़ादी और उनके जीवन की रक्षा करनेवाले साहसी नायक का! किन्तु कितने लोगों को, सो भी केवल रूस के लोगों को ही नहीं, अनेक देशों के स्वतन्त्रता-सेनानियों को प्रेरित किया होगा इस कहानी ने, उन्हें आज़ादी और मातृभूमि की रक्षा के लिये हंसते-हंसते प्राण देने का बल प्रदान किया होगा! गोर्की के 'मां' उपन्यास के नायक पावेल व्लासोव के मूल रूप, क्रांतिकारी मज़दूर ज़ालोमोव ने बिल्कुल ठीक ही लिखा था: "'दान्को के हृदय' ने हम सभी में उमंगों का संचार किया था। उसमें हमें अपने हृदय की भी धड़कन सुनाई देती थी। हममें से प्रत्येक को ऐसा अनुभव हुआ जैसे हमारा हृदय समाजवादी क्रांति की आग से प्रज्वलित हो, और हमें लगा कि हमारा एकमात्र सुख, हमारा एकमात्र महत्त्व इस क्रांति की विजय के संघर्ष में जूझना है।" उन्होंने आगे लिखा है–"'बाज़ का गीत' हमारे लिये सैकड़ों ऐलानों-नारों से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था।"

'बाज़ का गीत' रोमानी रंग में लिखी गयी गोर्की की इस रचना की चर्चा करने के पहले 'बुढ़िया इज़रगिल' के बारे में इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि स्वयं बुढ़िया इज़रगिल भी कुछ हद तक लारा के समान है। वह लारा की भांति दम्भी और घमण्डी तो नहीं, किन्तु स्वार्थी अवश्य है और केवल अपने ही सुख के लिये जीती है। अपनी जवानी में

वह दान्को की तरह साहसी थी, किन्तु दान्को की तरह दूसरों की भलाई के लिये उसने कुछ नहीं किया, अपने मज़े और अपनी ख़ुशी के लिये कभी-कभी दूसरों की जान तक लेने से नहीं चूकी। उसके बारे में गोर्की के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"वह मेरे पास बैठी थी—जीवित, लेकिन उम्र की मार से चुरमुर, रक्तहीन, मांसहीन, इच्छाहीन हृदय और कांतिहीन आंखोंवाली—वह भी तो लगभग छाया ही थी।" उसके हृदय में "दासोचित भयपूर्ण स्वर" गूंजने लगा था। इस तरह गोर्की ने स्वार्थी और दम्भी लारा तथा अपने ही सुख की चिन्ता करनेवाली इज़रगिल की तुलना में दूसरों की भलाई और आज़ादी के लिये प्राण देनेवाले दान्को का स्तुतिगान किया है।

रोमानी अन्दाज़ में ही लिखी हुई गोर्की की एक अन्य प्रसिद्ध कहानी है—'बाज़ का गीत'। लेखक ने यदि मकर चुद्रा जिप्सी से एक कहानी कहलवायी है, बुढ़िया इज़रगिल से दूसरी, तो यह कहानी सुनाता है बूढ़ा रहीम, जो उसे कहानी नहीं, गीत की संज्ञा देता है। वास्तव में यह गद्य-गीत है। कहानी बड़ी छोटी और सीधी-सादी है। एक घायल बाज़ नदी तट पर नीचे गिरता है, जहां चट्टानों के बीच एक सांप कुंडली मारे बैठा था। वह पहले तो डर जाता है और यह देखकर कि बाज़ कुछ ही देर का मेहमान है, उसके पास जाता है और पूछता है—

"'मर रहे हो क्या?'

"'हां, मर रहा हूं... ख़ूब जीवन बिताया है मैंने! बहुत सुख देखा है मैंने! जमकर लड़ाइयां लड़ी हैं। आकाश की ऊंचाइयां मैंने नापी हैं। तुम उसे कभी इतने निकट से नहीं देख सकोगे। तुम बेचारे!.. काश, कि एक बार फिर आकाश में उड़ सकता! दुश्मन को भींच लेता, अपने सीने के घावों के साथ... मेरे रक्त की धारा से उसका दम घुट जाता! ओह, कितना सुख है संघर्ष में!'"

बाज़ ने एक बार फिर उड़ने की कोशिश की, किन्तु पंखों ने साथ नहीं दिया और वह नदी की धारा में बह गया। तब सांप सोचने लगा कि आख़िर ऐसा क्या सुख है आकाश में उड़ने का—

"'मैं भी तो, बेशक थोड़ा-सा उड़कर ही, यह जान सकता हूं'...

"'धरती पर रेंगने के लिये जो जन्मे हैं, वे उड़ नहीं सकते! इसे भूल सांप उछला', नीचे चट्टानों पर जा गिरा, लेकिन गिरकर मरा नहीं और हंसा—

"'सो यही है आकाश में उड़ने का आनन्द! नीचे गिरने में! हास्यास्पद पक्षी!'"

किन्तु सागर की लहरों में मानो "गर्वीले पक्षी का गीत गूंज रहा था... साहस के उन्मादियों की हम गौरव-गाथा गाते हैं। उनके यश का गीत!

"साहस का उन्माद–यही है जीवन का मूलमंत्र!.. हम साहस के उन्मादियों का गीत गाते हैं!" इस रचना में गोर्की ने एक ओर तो सांप की तरह बिल में दुबककर कूपमंडूकी जीवन बितानेवाले लोगों को लक्षित किया है और दूसरी ओर बाज़ जैसे उन साहसी लोगों को सामने रखा है, जो संघर्ष में ही जीवन का सुख और सार समझते हैं, जो आकाश के ऊंचे विस्तारों की ओर उड़ते हैं, ऊंचाइयों और बुलन्दियों के दीवाने हैं, जो निडर हैं और संघर्ष से मुंह मोड़ने के बजाय संघर्ष में अपने प्राण गंवाना कहीं अधिक अच्छा समझते हैं। कितना उत्साहवर्द्धक है यह बाज़ का साहसपूर्ण उन्माद! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि भारत की एक बड़ी दिलेर स्वतन्त्रता-सेनानी मदाम कामा गोर्की की इस रचना पर मुग्ध हो गयी थीं। उन्हीं की भांति न केवल तत्कालीन रूसी क्रान्तिकारियों को, बल्कि दुनिया भर के सभी क्रान्तिकारियों को 'बाज़ का गीत' से संघर्ष की प्रेरणा मिली होगी और आज भी मिल रही है।

'बाज़ का गीत' की तरह ही रोमानी रंग में लिखा गया था एक अन्य गद्य-गीत 'तूफ़ान का अग्रदूत' जो उनके १८९८ में प्रकाशित संग्रहों में नहीं था, बाद में, १९०१ में रचा गया, किन्तु प्रसंगवश हम उसकी भी चर्चा कर रहे हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, १९वीं शताब्दी के अन्त में रूस के वातावरण में बड़ी बेचैनी थी, मज़दूरों में अधिकाधिक जागृति आती जा रही थी, वे संगठित होते जा रहे थे, लेनिन के नेतृत्व में मार्क्सवादियों का पत्र 'ईस्क्रा', जो १९०० में निकला, उन्हें एकबद्ध करने में बड़ा योग दे रहा था, अग्रणी बुद्धिजीवी भी संघर्ष की अगली क़तारों में आते जा रहे थे और देश में कुछ ऐसी स्थिति पैदा हो गयी थी, जब सभी किसी बड़ी उथल-पुथल की प्रत्याशा में थे। स्वयं गोर्की भी मार्क्सवादियों के बहुत निकट आ गये थे। गोर्की ने तूफ़ान के पहले की इस स्थिति को तीव्रता से अनुभव करते हुए 'तूफ़ान का अग्रदूत' गद्य-गीत रचा। "तूफान का अग्रदूत पितरेल पक्षी, ललकार की चीख़ के साथ

उड़ रहा है, काली बिजली की तरह, तीर की तरह बादलों को चीरता हुआ, लहरों के फेन को पंखों से छूता हुआ।

"देखो तो, वह उड़ रहा है दानव की तरह—तूफ़ान के गर्वीले, काले दानव की तरह—और वह हंसता है, और वह सिसकता है... वह बादलों पर हंसता है, वह ख़ुशी से सिसकता है!

"यह समझदार दानव—बादलों के क्रोधपूर्ण गर्जन में—बहुत पहले से ही थकान अनुभव कर रहा है। उसे विश्वास है कि बादल सूर्य को नहीं छिपा सकेंगे—नहीं, नहीं छिपा सकेंगे!

"तूफ़ान! बहुत जल्द आयेगा तूफ़ान!..

"आये, ख़ूब ज़ोर-शोर से आये तूफ़ान!"

कितना ज़ोरदार और खुले शब्दों में तूफ़ान का आह्वान किया है गोर्की ने! लेखक ने साफ़ ही कह दिया है कि उसे विश्वास है कि "बादल सूर्य को नहीं छिपा सकेंगे—नहीं, नहीं छिपा सकेंगे!" गोर्की ने इतना ही नहीं कहा कि तूफ़ान बहुत जल्द आयेगा, बल्कि यह भी—"आये, ख़ूब ज़ोर-शोर से आये तूफ़ान!" सम्भवतः यह कल्पना करना कठिन नहीं होगा कि 'जीज़्न' ('जीवन') पत्रिका के १६०१ के अप्रैल अंक में जब यह रचना प्रकाशित हुई होगी, तो इसने जागरूक पाठकों में कैसी हलचल पैदा कर दी होगी और यदि ज़ार की सरकार ने इसी कारण से 'जीज़्न' पत्रिका के प्रकाशन पर रोक लगा दी और पुलिस गोर्की पर कड़ी नज़र रखने लगी, तो इसमें भी हैरान होने की कोई बात नहीं है। इस गद्य-गीत के बाद गोर्की को न केवल "तूफ़ान का अग्रदूत" बल्कि "तूफ़ान-उद्घोषक" कहा जाने लगा। लेनिन की यह सर्वाधिक प्रिय रचनाओं में से एक थी।

गोर्की की रोमानी कहानियों का संक्षिप्त विवेचन करने के बाद हम उनकी यथार्थवादी कहानियों की ओर आते हैं। रोमानी कहानियों से भिन्न यथार्थवादी कहानियों के कथानक, घटनायें और पात्र वास्तविक जीवन से लिये गये हैं, ऐसी समस्यायें प्रस्तुत की गयी हैं, जो हर दिन के जीवन में सामने आ रही थीं, जिनका स्वयं लेखक को अपने इर्द-गिर्द के जीवन में अनुभव हुआ था और जो तत्कालीन रूस के पुराने सामन्तवादी-पितृ-सत्तात्मक ढांचे के टूटने और पूंजीवाद की ओर तीव्र संक्रमण के फलस्वरूप जन्म लेते हुए नये सामाजिक सम्बन्धों, नये रिश्तों का परिणाम थीं। इनमें जहां मध्यम वर्ग के लोगों की कूपमण्डूकता, उनके बौद्धिक दैन्य, उनकी

उदासीनता, उनकी क्रूरता और संकीर्णता पर ज़ोरदार चोट की गयी है, ऐसे बुद्धिजीवियों तथा साहित्यकारों पर प्रहार किया गया है, जो केवल निजी सुख और अपने स्वार्थ की चिन्ता करते हैं, वहां ऐसे बुद्धिजीवियों को भी प्रस्तुत किया गया है, जो तत्कालीन जीवन से असन्तुष्ट थे, उसे बदलना चाहते थे, उसके लिये यत्नशील ही नहीं थे, बल्कि बड़े-बड़े बलिदान करने को भी तैयार थे। गोर्की ने "जीवन के स्वामियों" अर्थात साधनसम्पन्न शोषक वर्ग के लालच, स्वार्थपरता और उसके मुक़ाबले में ऐसे पात्रों को भी पेश किया है, जो जीवन की ऐसी क्रूर परिस्थितियों के परिणामस्वरूप जीवन के गर्त या तल में पहुंच गये थे, उनमें से कुछ अपने मानवीय लक्षणों या गुणों को भी खो बैठे थे, किन्तु अधिकांश की आत्मा में उनका मानव जीवित रहा था और जीवन के तल में पहुंचने पर भी वे ऐसे गुणों का परिचय देते हैं, जो अधिक सौभाग्यशाली और समृद्ध, किन्तु हृदयहीन, स्वार्थी और निन्यानवे के फेर में पड़े हुए लोगों के बस की बात नहीं है। गोर्की ने उन सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है, उनका विश्लेषण किया है, जो लोगों को पतन की ओर ले जाती हैं, किसी नारी को वेश्या बनने के लिये विवश करती हैं, बच्चों से भीख मंगवाती हैं। गोर्की की कुछ यथार्थवादी कहानियों का विवेचन करते हुए हम उनके दृष्टिकोण के लाक्षणिक तत्त्वों की व्याख्या करेंगे।

१६ वीं शताब्दी के अन्त में रूस के राजनीतिक-सामाजिक वातावरण में जो हलचल और बेचैनी थी, उससे कुलीनों, बड़े व्यापारियों और पूंजीपति वर्ग के लोगों की मानसिक घबराहट और परेशानी कैसे बढ़ रही थी, इसका गोर्की ने अपनी कई प्रारम्भिक कहानियों में बड़ा सुन्दर और यथार्थवादी चित्रण किया है। हम उदाहरण के लिये 'घण्टा' और 'ऊब' कहानियों को ले सकते हैं, जो १८९६ में लिखी गयीं। 'घण्टा' कहानी का ताना-बाना अन्तीप निकीतिच प्राख़ोव के इर्द-गिर्द बुना गया है। वह अपने शहर का सबसे अधिक धनी व्यक्ति है, उसने सभी तरह की हेरा-फेरियों, चालाकियों और धोखा-धड़ी से पैसा कमाया है और अब वह चाहता है कि लोगों को अपने नाम की हर समय याद दिलाने का कोई उपाय ढूंढ़े। उसे वह उपाय सूझ गया—उसने नगर के बाहर एक पहाड़ी पर कभी किसी बड़े ज़मींदार द्वारा बनवाये गये पुराने और जर्जर गिरजाघर की अच्छी तरह से मरम्मत आदि करवाकर उसमें इतना बड़ा

ग्रौर इतनी ज़ोरदार गूंज वाला घण्टा लगवाने का निर्णय किया, जिसकी ग्रावाज़ के सामने बाक़ी सभी गिरजों के छोटे-छोटे घण्टों की ग्रावाज़ का कोई महत्त्व ही न रहे। सो वह ऐसा ही करता है ग्रौर गिरजाघर में घण्टा लग जाता है। वह ख़ुद जब पहली बार इस घण्टे को बजाता है ग्रौर सारे शहर में उसकी ग्रावाज़ गूंज उठती है, तो प्राख़ोव का दिल बल्लियों उछलता है। "वह देख रहा था कि कैसे नीचे सड़कों पर जाते हुए लोग पहाड़ी ग्रौर घण्टे की उस गुमटी की ग्रोर देख रहे थे, जहां वह ख़ुद बैठा था। ज़ाहिर है कि उसे उनकी बातचीत सुनाई नहीं दे रही थी, किन्तु कभी-कभी वे हाथों से ऊपर की ग्रोर इशारे करते थे ग्रौर उसे यह देखकर ख़ुशी होती थी... उसके लिये इससे भी ग्रधिक ख़ुशी की बात यह थी कि नीचे, सड़कों पर जाते हुए ये लोग बहुत छोटे-छोटे, दयनीय ग्रौर तुच्छ थे। वह इस चेतना से ख़ुश होता हुग्रा मुस्कराया कि इन लोगों में से प्रत्येक को उसी की भांति, सुबह की ताज़ा हवा में धरती से काफ़ी ऊंचाई पर, सभी से ग्रधिक ऊंचे खड़े होकर ग्रपना घण्टा बजाना ग्रच्छा लगता। किन्तु सारे नगर में केवल उसी को यह सुख पाने का ग्रधिकार है। ग्रब सारा नगर घण्टे ग्रौर उसकी यानी प्राख़ोव की ही चर्चा करेगा... मगर उसे ग्रपने कुकर्मों की भी याद ग्राती थी... ग्रक्सर वह यह याद करके सोच में डूब जाता था कि कितने लोग उसके सामने रोते रहे, शिकवा-शिकायत करते ग्रौर कोसते रहे। उसी के कारण, उसकी पूंजी के दबाव के नीचे पिसते हुए बहुत-से लोग ग्रभाव ग्रौर दुख-मुसीबत ग्रनुभव करते रहे हैं ग्रौर कर रहे हैं। ग्रौर जब उसे यह याद ग्राता, तो एक विषैली-सी भावना उसके हृदय को विषाक्त कर देती। किन्तु कुछ ही क्षण बाद वह ग्रपने बड़े-से सिर को झटकता ग्रौर धीरे से कहता: 'लगता है कि प्रभु की ऐसी ही इच्छा है। या फिर इसमें मेरा क्या दोष है कि मैं तक़दीर का सिकन्दर बनकर पैदा हुग्रा हूं?.. मेरा इसमें कोई दोष नहीं। भगवान ऐसा ही चाहता है।'"

तो इस तरह वह ग्रपने ग्रन्यायों की चेतना को भगवान की इच्छा के मत्थे मढ़ते हुए ग्रपने दिल को तसल्ली देता रहता है, नगर का मेयर बनने तथा ग्रौर ग्रधिक शक्ति ग्रौर पैसा हथियाने के सपने देखता है ग्रौर पांच साल तक ग्रपना घण्टा बजाता रहता है। किन्तु एक बड़े पर्व के ग्रवसर पर जब वह ग्रपने घण्टे को बहुत ज़ोर से बजाता है, तो वह तिड़क जाता है ग्रौर उसकी गूंज ख़त्म हो जाती है। उसे लगता है कि

मानोय ह दण्ड मिला है उसे उसके पापों, गुनाहों का कि ईसा के पुनर्जन्म के महोत्सव के समय ही यह घण्टा टूटा है, जब वह उसे ख़ूब ज़ोर से गुंजाना चाहता था। "बीते जीवन को याद करते हुए उसे उसमें बहुत कुछ ऐसा दिखाई दे रहा था, जो वह किये बिना रह सकता था और जो अब उसकी आत्मा पर इतना भारी बोझ न बनता। अपने जीवन में लोगों के प्रति अत्यधिक निर्दय और पैसे के लिये बहुत लालची रहा था..." उसे मालूम था कि लोग उससे घृणा करते हैं, यद्यपि डरते हैं और घण्टे के टूटने पर वे कहेंगे: "तांबा भी प्राख़ोव के गुनाहों को बर्दाश्त नहीं कर सका... हे भगवान, हे मेरे भगवान! क्या मैं ही नगर में सबसे अधिक पापी हूं और अपने पुनर्जन्म के दिन पर तुम और किसी को दण्ड नहीं दे सकते थे?" इस तरह गोर्की ने इस कहानी में एक धनी की आत्मा का विश्लेषण करते हुए उसकी मानसिक बेचैनी तथा शोषण पर पर्दा डालने और साथ ही अपना डंका बजाने के साधन के रूप में धर्म की भूमिका पर प्रकाश डाला है। घण्टे का तिड़कना भी एक प्रतीक है, जो ज़ाहिर करता है कि कैसे पुरानी व्यवस्था में दरारें पड़ रही हैं और उसकी गूंज का ज़माना समाप्त होने को है।

'ऊब' कहानी का नायक तीख़ोन पाव्लोविच भी व्यापारी वर्ग का एक बड़ा धनी है, चक्की का मालिक है, अन्य धनी लोगों की तरह अपने जीवन से ख़ुश है, सन्तुष्ट है। उसके पास पैसा है, अच्छी बीवी है, बच्चे हैं, सभी तरह के आराम और सुख के साधन हैं। सभी व्यापारियों-सेठों की तरह वह भी स्वार्थी, लालची और पैसे का पीर है और अपना उल्लू सीधा करने के लिये दूसरों, विशेषत: अपने नीचे काम करनेवाले लोगों, मज़दूरों-नौकरों आदि के साथ ज़्यादतियां और अन्याय करने में कोई बुराई नहीं समझता, किसी तरह की झिझक-हिचक नहीं अनुभव करता। उसकी ज़िन्दगी मज़े में बीत रही है, किन्तु तभी अचानक उसके मन का चैन खो जाता है, उसकी आत्मा परेशान हो उठती है, सभी तरह के प्रश्न, भलाई-बुराई, उचित-अनुचित की समस्यायें उसके मन को घेर लेती हैं, वह अपना सामान्य सन्तुलन और ज़िन्दादिली गंवा बैठता है। यह अकारण ही नहीं होता। इसका कारण यह था कि गांव के अध्यापक ने तीख़ोन पाव्लोविच द्वारा किसानों-दहक़ानों के साथ किये गये अन्याय को अख़बार में छपवा दिया था। उसकी बेटी ने यह पढ़ा, तो पिता से पूछा: "पापा, क्या यह ऐसे ही हुआ था?"

पिता बेटी का यह प्रश्न सुनकर आपे से बाहर हो गया और उत्तर दिया –

"तेरा बाप क्या लुटेरा है? .. उल्लू कहीं की, यही कुछ पढ़ती है हाई स्कूल में?"

बाद में इस घटना को याद करते हुए वह सचाई से इन्कार नहीं कर पा रहा था – "हुआ तो ऐसे ही था, जैसे अध्यापक ने लिखा था। किन्तु बेटी के सामने तो इसे स्वीकार नहीं कर सकता था!" और उसे अध्यापक के ये शब्द भी याद आ रहे थे – "कुछ भी कहिये, आप व्यापारी लोग बुरे हैं... लालची और बुरे।"

चक्की का मालिक झल्ला रहा था और अनुभव कर रहा था – "उसकी बात सच है! लालची हूं, यह भी सच है, बुरा हूं, यह भी सच है।"

मानसिक बेचैनी की इसी अवस्था में उसे यह याद आता है कि कैसे एक आदमी का शव ले जाते हुए लोगों को देखकर वह भी इस जिज्ञासा से कि यह मृत कौन है, उनके साथ हो लिया था और क़ब्रिस्तान में उसे दफ़नाते समय किसी व्यक्ति ने उसके बारे में (जो एक ग़रीब लेखक था) ये शब्द कहे थे: "क़िस्मत ने उसपर एक के बाद एक चोट की और आख़िर इस व्यक्ति की जान ले ली, जिसने अपना सारा जीवन धरती पर सभी लोगों के लिये अच्छी जीवन-व्यवस्था स्थापित करने की तैयारी के कृतज्ञताहीन कार्य को समर्पित कर दिया था।" भाषणकर्त्ता ने आगे कहा: "हमने अपनी आत्माओं को हर दिन की चिन्ताओं के काठ-कबाड़ से भर दिया है और आत्माहीन होकर जीने के आदी हो गये हैं, ऐसे आदी हो गये हैं और यह तक अनुभव नहीं करते कि हम जड़, भावनाहीन और मुर्दा हो गये हैं। और इसके जैसे लोग (अर्थात ग़रीब लेखक जैसे) हमें अजीब से लगते हैं।" ये शब्द सुनकर तीख़ोन पाव्लोविच को लगा कि वक्ता की बात बिल्कुल सही है, वह (यानी तीख़ोन पाव्लोविच) अपनी आत्मा के बारे में भूल गया है। सो इस तरह की मानसिक बेचैनी की हालत में उसे अपने यहां चक्की पर काम करनेवाले मस्त और फक्कड़ कुज़्मा से ईर्ष्या होने लगती है, जो पूरी तरह से बन्धन-मुक्त जीवन बिताता है। तीख़ोन अपने विरुद्ध अख़बार में लिखनेवाले अध्यापक के पास जाता है, उसके साथ कुछ विचार-विनिमय करके मन का चैन लौटाना चाहता है, किन्तु उसे भला-बुरा कहकर शहर चला जाता है, वहां चार-पांच दिन तक शराब और आन्ना नाम की एक औरत की

संगत में रंग-रलियों में डूबकर गांव लौट आता है और फिर वही, पहले जैसी ज़िन्दगी बिताने लगता है, यद्यपि उसकी बेचैनी बनी रहती है, अपने गुनाहों और अपराधों की चेतना उसे शान्त नहीं होने देती। गोर्की लिखते हैं: "तीख़ोन पाव्लोविच ने देखा कि हवा के कारण कुछ देर को हिलने-डुलनेवाला पानी फिर से धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है, गो अभी तक उसमें हल्की-हल्की लहरियां उठ रही थीं, मानो कांप रहा था। उसने पानी को ध्यान से देखा, गहरी सांस ली और यह बड़बड़ाता हुआ गांव की ओर चल दिया – जीवन... यह केवल ऊहापोह है... कम्पन है।" किन्तु उसे इससे सन्तोष नहीं हुआ और अपने को सभी के सम्मुख, ख़ुद अपने सामने अपराधी अनुभव करते हुए रुका, अपनी दाढ़ी को हाथ में लिया, उसे खींचा, सिर को झटका दिया और ज़ोर से कह उठा –

"ओह, तुम बुड्ढे शैतान हो, तीश्का (यानी तीख़ोन)!"

इस तरह हम देखते हैं कि नगरों और गांवों के धनिकों की बढ़ती हुई मानसिक परेशानी, अपने भविष्य के बारे में उनकी घबराहट का, जो दूसरों के प्रति अन्यायों की चेतना के कारण और उग्र हो रही थी, गोर्की ने कितना सच्चा चित्रण किया है। गोर्की की बाद की रचनाओं – 'फ़ोमा गोर्देयेव' और 'अर्तामोनोव परिवार' (हिन्दी में 'टूटती कड़ियां' के नाम से प्रकाशित) में हम इस शोषक वर्ग के कुछ लोगों को अपने वर्ग से टूटते और रसातल की ओर जाते हुए पाते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे चलकर की जायेगी। यहां हम इसी 'ऊब' कहानी के दो अन्य पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं। इसमें ऐसे दो अग्रणी बुद्धिजीवियों – ग़रीब लेखक, जो सभी लोगों के लिये न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के ध्येय को अपना जीवन समर्पित करता है और गांव के उस अध्यापक का उल्लेख मिलता है, जो शोषक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में तीख़ोन पाव्लोविच को अपना शत्रु मानता है और उसके अन्याय का भंडाफोड़ करता है। गोर्की ने जहां इस तरह के अग्रणी, संघर्षकारी और आशावादी बुद्धिजीवियों का स्तुति-गान किया है, उनकी कठिनाइयों-मुसीबतों और बलिदानों, यहां तक कि प्राणों की बलि का वर्णन किया है और उन्हें अनुकरणीय उदाहरण या आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है, वहां ऐसे बुद्धिजीवियों पर ज़ोरदार चोटें भी की हैं, जो केवल अपने लिये, अपने सुख के लिये जीते हैं, सामाजिक कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व की भावना

ग्रथवा चेतना से वंचित हैं। 'ऊब' कहानी के ग़रीब, सोलह रूबल मासिक वेतन पानेवाले तथा रोगी, किन्तु संघर्षशील ग्राम-ग्रध्यापक के मुक़ाबले में हम ग्रध्यापक कोर्जिक को ग्रपने सामने पाते हैं। गोर्की ने बहुत ही सुन्दर ग्रौर संक्षिप्त शब्दचित्र में इस पात्र के मानसिक दिवालियेपन को उभार दिया है। छ्यालीस वर्ष का यह एकाकी ग्रध्यापक ग्रपने जीवन में कोई सार या तुक ग्रनुभव नहीं करता, किसी ध्येय या लक्ष्य से प्रेरित नहीं होता ग्रौर हर शाम को वोद्का की बोतल लेकर बैठ जाता है, पीता है ग्रौर मेज़ पर रखे ग्रपनी मां ग्रौर प्रेमिका, जिसने उसे ग्रंगीकार नहीं किया ग्रौर एक दार्शनिक के चित्रों से बातचीत करता है। उसकी यह बातचीत या स्वगत-भाषण हर दिन एक ही होता है ग्रौर वह रटे-रटाये पाठ की तरह उसे दोहराता है। उसके भाषण का सार इन शब्दों में व्यक्त होता है: "ग्राज के लोग तो भलाई-बुराई के प्रति उदासीन हैं ग्रौर उनकी ग्रात्मा में शक्ति भी नहीं है, भाग्य के पहले ही प्रहार के सामने घुटने टेक देते हैं ग्रौर संघर्ष के बिना, ग्रपने लिये शर्म-हया के बिना दास की भांति उसके ग्रधीन हो जाते हैं। ऐसा ही हूं मैं... ग्रौर ऐसे ही ग्रन्य बहुत-से हैं..." बस, इसी तरह पीते, झींकते ग्रौर ज़िन्दगी के बारे में शिकवा-शिकायत करते हुए वह ग्रपने को ख़त्म करता जाता है। लक्ष्यहीन ग्रौर ग्रादर्शहीन जीवन की तुच्छता का बड़ा भयानक चित्र है यह! इस ग्रध्यापक की तुलना में 'ऊब' कहानी का ग्राम-ग्रध्यापक कहीं ग्रधिक जीवन-ग्रनुप्राणित है। 'वह चुहिया-सी लड़की' कहानी की नायिका भी इसी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। सत्रह वर्षीया युवती को केन्द्र-बिन्दु बनाकर लिखी गयी इस कहानी में यह स्पष्ट किया गया है कि कैसे शहर की पढ़ी-लिखी इस लड़की ने क्रान्ति के ध्येय के लिये, साधारण किसानों के भाग्य के साथ ग्रपना भाग्य जोड़ते हुए, सब कुछ, यहां तक कि ग्रपना जीवन भी न्योछावर कर दिया। ज़ारशाही सरकार ने उसे साइबेरिया के दूरस्थ प्रदेश में निर्वासित कर दिया था। वहां वह गांव के एक किसान-परिवार में जीवन बिताते हुए भी ग्रपने ध्येय की सफलता के लिये यत्नशील रही, दूरस्थ साइबेरिया के किसानों में जागृति लाने का प्रयत्न करती रही। वह जिस किसान-परिवार में रहती थी, उसके वृद्ध मुखिया ने, जो गोर्की के ग्रनुसार सौ से भी ग्रधिक वर्षों का लगता था, इन शब्दों में उस युवती का वर्णन किया है: "ग्राह, ग्रसल चीज़ तो उसका हृदय था। उसका हृदय फ़रिश्ते का हृदय था। उसके हृदय

में हमारी सारी मुसीबतों के लिये जगह थी और उन सबको ख़ुद अपने कंधों पर ओट लेती थी... हम किसानों को वह कितनी अच्छी तरह समझती थी। हमारी हर बात से वह वाक़िफ़ थी, कुछ भी ऐसा न था जो वह न जानती हो... जब वह दफ़नाई गयी तो सारा गांव मौजूद था।" इसी फ़रिश्ते जैसी युवती की आत्मा की शान्ति के लिये किसान-परिवार के वृद्ध-दम्पति बुढ़ापे में सभी तरह के कष्ट झेलते हुए भी यात्रा कर रहे थे, जब उनकी गोर्की से भेंट हुई। इस तरह हम देखते हैं कि गोर्की ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों में ही जनता से जुड़े और जनता से कटे हुए, दोनों प्रकार के बुद्धिजीवियों और उनके भाग्य पर प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त 'ऊब' कहानी में एक अन्य बुद्धिजीवी का भी ज़िक्र आता है। यह है ग़रीब लेखक, जो सभी तरह के कष्ट-मुसीबतें सहता हुआ अपनी लेखनी द्वारा क्रान्ति के ध्येय को आगे बढ़ाता रहता है और दुखों से जर्जर होता हुआ ही दुनिया से चल देता है। साहित्य और लेखक के उद्देश्य तथा कर्त्तव्य के विषय पर गोर्की ने अपनी कई कहानियों में चिन्तन किया है। वास्तव में १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में, जब रूसी साहित्य में ह्रासवादी और निराशावादी प्रवृत्तियां तेज़ी से उभर रही थीं, जीवन में साहित्य और साहित्यकार की भूमिका का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया था। १८९२ के नवम्बर महीने में अ० स० सुवोरिन के नाम लिखे गये चेख़ोव के एक पत्र में हमें ये पंक्तियां पढ़ने को मिलती हैं—"अपने महान पूर्वगामियों से भिन्न, जो स्वयं भी 'कहीं' जा रहे थे और पाठकों को भी अपने पीछे आने का आह्वान करते थे, आधुनिक लेखकों के 'न तो निकट भविष्य और न ही दूर भविष्य के कोई लक्ष्य हैं'"। स्पष्ट है कि चेख़ोव की भांति गोर्की भी दिशा और लक्ष्यहीन होते हुए रूसी साहित्य और साहित्यकारों के बारे में सोचे बिना, चिन्तित हुए बिना नहीं रह सकते थे। गोर्की में तो साहित्य की समाजापेक्षी चेतना और भी अधिक थी। इस सम्बन्ध में गोर्की के दृष्टिकोण को अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट करने और समझने के लिये हम उनकी कुछेक प्रारम्भिक कहानियों की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक समझते हैं।

१८९५ में लिखी गयी और बाद में काफ़ी परिवर्तनों के साथ १८९८ में प्रकाशित की गयी 'एक पाठक' कहानी बहुत अर्थपूर्ण है। उसमें लेखक अपने को एक कल्पित और ईमानदारी से कटु आलोचना करनेवाले पाठक

के सामने पाता है। पाठक उससे साफ़ शब्दों में पूछता है: "तुम लेखक हो, और तुम जो लिखते हो, उसे हज़ारों लोग पढ़ते हैं। तुम किस चीज़ का प्रचार करते हो?" लेखक अपने मन से इस प्रश्न का उत्तर पूछता है: "किस चीज़ का प्रचार करता था मैं? लोगों से कहने के लिये मेरे पास क्या था? क्या वही सब चीज़ें जिन्हें युगों-युगों तक कहा गया और हमेशा कहा जाता तथा हमेशा सुना जाता है—लेकिन आदमी को बदले और अच्छा बनाये बिना?" पाठक उसे लताड़ता हुआ कहता है: "एक समय था जब यह धरती लेखन-कला-विशारदों, जीवन और मानव-हृदय के अध्येताओं और ऐसे लोगों से सम्पन्न थी जो दुनिया को अच्छा बनाने की सर्वप्रबल आकांक्षा से अनुप्राणित थे और मानव-प्रकृति में विश्वास रखते थे। उन्होंने पुस्तकें लिखीं जो कभी विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं होंगी। कारण, वे अमर सचाइयों को अंकित करती हैं और उनके पन्नों से कभी न मलिन होनेवाला सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। उनमें चित्रित पात्र जीवन के सच्चे पात्र हैं, कारण कि प्रेरणा ने उनमें जान फूंकी है। इन पुस्तकों में साहस है, दहकता हुआ ग़ुस्सा और उन्मुक्त तथा सच्चा प्रेम है।" क्या चेख़ोव की तरह गोर्की भी अपने महान पूर्वगामियों की स्तुति नहीं कर रहे हैं? पाठक आगे कहता है: "तुम क्यों लिखते हो?.. क्या इसलिये कि लोगों के हृदयों में शुभ भावनायें जागृत हों? लेकिन अपने ठंडे और थोथे शब्दों से तुम कभी ऐसा नहीं कर सकोगे। केवल इतना ही नहीं कि तुम जीवन में कोई नयी वृद्धि करने में असमर्थ हो, बल्कि पुराने को भी इतनी तुड़ी-मुड़ी शक्ल में पेश करते हो कि सुस्पष्ट चित्र कहीं उभरकर नहीं आते...

"आत्मा के विद्रोह और आत्मा के पुनर्जागरण की आवश्यकता के बारे में लोग कब बोलना शुरू करेंगे? रचनात्मक जीवन की वह ललकार कहां है, वीरत्व के दृष्टान्त और प्रोत्साहन के वे शब्द कहां हैं, जिन्हें सुनकर आत्मा आकाश की ऊंचाइयों को छूती है?.. लोगों के दिमाग़ों को उनके घटनाहीन जीवन के फ़ोटोग्राफ़िक चित्रों का गोदाम बनाते समय अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछो कि ऐसा करके क्या तुम नुक़सान नहीं पहुंचा रहे हो?.. क्या तुम जीवन की नब्ज़ को तेज़ और उसमें संचार करना जानते हो, जैसे कि अन्य लोग कर चुके हैं।" "जीवन के फ़ोटोग्राफ़िक चित्र"—हमें लगता है कि गोर्की ने सीधे-सीधे ही यथातथ्यवादियों (Naturalist) पर चोट की है, जो साहित्य को पूरी तरह उद्देश्यहीन

बनाना चाहते थे। पाठक अपनी फटकार जारी रखते हुए कहता है: "ह्रास की गंध धरती को घेरे है, लोगों के हृदयों में कायरता और दासता समा गई है, काहिली की नर्म जंजीरों ने उनके दिमागों और हाथों को जकड़ लिया है, — और इस घिनौने जंजाल को तोड़ने के लिये तुम क्या करते हो? तुम कितने छिछले और नगण्य हो और कितनी बड़ी संख्या है तुम लोगों की!" जीवन और साहित्य में ह्रासवादी प्रवृत्तियों के उभार पर कितना ज़ोरदार प्रहार किया है गोर्की ने! इस ढंग के बुद्धिजीवियों, ऐसे लेखकों-कवियों के गोर्की ने ख़ूब बखिये उधेड़े हैं। 'कवि' कहानी में भी, जो १८९६ में लिखी गयी, एक ऐसे ही कवि का ख़ाका खींचा गया है, जो "हृदय के भावों की धुंधली कसीदाकारी" का चित्रण करने की कला में पारंगत है। वह शिकायत करता है: "पुस्तक के निकलते देर नहीं हुई कि कमबख़्त आलोचकों ने शोर मचा दिया — ह्रासोन्मुखी।" मगर इस आलोचना से विचलित होकर यह सोचने के बजाय कि एक कवि के नाते उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिये, वह ख़ुश होता है कि आलोचकों के ऐसा फ़तवा देने से उसे लाभ होता है — "वे पुस्तकें ख़रीदते हैं, केवल यह देखने के लिये कि ह्रासोन्मुखी किसे कहते हैं?" यही कवि आलोचकों के बारे में कहता है: "वे मांग करते हैं कि कवि नागरिकों के रोष-क्रोध और दुख-दर्द को वाणी प्रदान करे... बेहूदा बकवास! हमारे आज के जीवन में नागरिक जैसी कोई चीज़ नहीं। केवल लोग हैं — एक ओर तो मूर्ख और अपने आप में सन्तुष्ट और दूसरी ओर थके-हारे तथा कुत्सित भावनाओं को स्वर देनेवाले।" इस कवि के कारण स्कूल की उस बालिका के दिल को कितनी चोट लगती है, जो स्कूल में साहित्य के ऊंचे आदर्शों के पाठ पढ़कर कवि के बारे में एक सुन्दर कल्पना का सृजन करती है! इस तुलना से कवि की नगण्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है।

'भेंट' तो इस विषय की एक अनूठी और बड़ी चुभती हुई कहानी है। इसमें गोर्की ने एक ऐसे लेखक का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है, जिसने कभी ऊंचे लक्ष्यों और आदर्शों को सामने रखते हुए अपना लेखन-जीवन आरम्भ किया था, किन्तु बाद में सभी आदर्शों-उद्देश्यों को भूलकर धनी लोगों के अध्ययन-कक्षों की शोभा बढ़ानेवाले उपन्यास-कहानियां लिखने लगा, स्वयं भी धनी और ख़ूब मोटा-तगड़ा हो गया, आम जनता के सुख-दुख की उसे तनिक भी चिन्ता न रही। एक दिन कुछ ऐसा संयोग हुआ कि कहीं जाते हुए रास्ते में वह एक गांव की सराय में रुका और

वहां दीवार पर चिपकाये गये अख़बारों के काग़ज़ों में अचानक उसे अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में समाचारपत्र के लिये लिखा गया एक व्यंग्यपूर्ण शब्दचित्र दिखाई दिया, जिसका शीर्षक था 'सचाई के लिये'। यह तीस बरस पहले की बात थी। इस अनूठी 'भेंट' से अतीत की स्मृतियां सजीव हो उठती हैं, उसे याद आता है कि कैसे उस ज़माने में वह सचाई के लिये संघर्ष करता था, जीवन को बदलने, बेहतर बनाने के सपने देखता था, न्याय का झण्डा लेकर चलता था। "उसे ख़ुद अपने आप से झेंप महसूस हो रही थी और माथे को मलते हुए उसने गहरी सांस ली। हां, वह बदल गया था, उन विचारों के प्रति उदासीन और भावनाहीन हो गया था, जो उस समय उसके हृदय के इतने निकट थे और जिनके लिये उसके जीवन में अब कोई स्थान नहीं था।" उसने ख्याति प्राप्त कर ली थी, धन कमा लिया था, ऊंचे समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, किन्तु "क्या उसने आत्मा का सन्तुलन प्राप्त किया, क्या वह जीवन के कार्यभारों को ईमानदारी से पूरा करने की चेतना, अपने पर गर्व कर सकने का भाव प्राप्त कर सका?" उत्तर स्पष्ट है—नहीं। यह लेखक अख़बार में छपे इस व्यंग्यपूर्ण शब्दचित्र को दीवार पर से उतार लेता है और स्लेज में बैठकर आगे जाते हुए रास्ते में उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके हवा में उड़ा देता है। कहना चाहिये कि इस तरह से वह अपने आदर्शों की धज्जियां उड़ा देता है, अपने हाथों से ही उनका ख़ून कर डालता है।

१८९७ में लिखी गयी 'उत्पाती' कहानी भी इस दृष्टि से बड़ी दिलचस्प और मार्मिक है। इसमें प्रेस में काम करनेवाला एक जवान कम्पोज़ीटर—निकोलाई सेम्योनोविच ग्वोज्देव जान-बूझकर एक अख़बार के सम्पादकीय लेख में कुछ अटपटे और सम्पादक की स्थिति को ख़राब करनेवाले शब्द जोड़ देता है। प्रकाशक और सम्पादक जब प्रूफ़-रीडर और कम्पोज़ीटरों को इकट्ठा करके उनपर बिगड़ते हैं और जानना चाहते हैं कि किसने यह बदतमीज़ी की है, तो ग्वोज्देव बेधड़क सामने आ जाता है और यह पूछने पर कि उसने ऐसा क्यों किया, जवाब देता है: "तुम ख़ुद जानते हो कि हर दिन तुम कैसी-कैसी सीख देते रहते हो। हां, तो तुम्हारे इन लेखों को मैंने पढ़ा। तुम हमारे—मज़दूरों के—बारे में लिखते हो और जो कुछ लिखते हो, वह सब मैं पढ़ता हूं। लेकिन हृदय घिना जाता है, क्योंकि वह सब कूड़ा होता है। बेहूदा शब्दों का एक ढेर मात्र! 'किसी को लूटो नहीं,' तुम लिखते हो, लेकिन तुम्हारे छापाघर में क्या

हो रहा है? पिछले सप्ताह किर्याकोव ने साढ़े तीन दिन काम किया, तीन रूबल और अस्सी कोपेक उसकी मज़दूरी हुई और इसके बाद वह बीमार पड़ गया। उसकी बीवी पैसे लेने दफ़्तर में आयी और मैनेजर ने उसे टके-सा जवाब दे दिया कि कुछ नहीं मिलेगा, बल्कि यह कि उसे देना है—एक रूबल बीस कोपेक उसके नाम जुर्माना चढ़ा है। यह है तुम्हारा 'किसी को लूटो नहीं'। तुम इस बारे में क्यों नहीं लिखते? या इस बारे में कि मैनेजर किस प्रकार हमपर गुर्राता रहता है और मशीन के काग़ज़ उठानेवाले लड़कों को ज़रा-ज़रा-सी बात पर पीटता है? तुम ऐसी चीज़ों के बारे में नहीं लिखते, क्योंकि तुम अपना असली चेहरा प्रकट नहीं करना चाहते। तुम लिखते हो कि लोगों के लिये आज इस दुनिया में जीना दूभर हो रहा है। तुम यह सब ख़ुराफ़ात सिर्फ़ इसलिये लिखते हो कि इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते। बस, यही सारी बात है—और इसीलिये तुम तुर्की के अत्याचारों पर तो बढ़-चढ़कर भाषण झाड़ते हो और उन अत्याचारों को नहीं देखते जो तुम्हारी आंखों के सामने हो रहे हैं। बोलो, तुम्हारे ये लेख कूड़ा नहीं, तो और क्या हैं? बहुत दिनों से मेरा मन हो रहा था कि तुम्हें लजाने के लिये दो-चार सच्चे शब्द भी तुम्हारे लेख में रख दूं।"

लेखकों-सम्पादकों और बुद्धिजीवियों का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, उन्हें किस तरह उच्चादर्शों और उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम करना चाहिये, इस दृष्टि से तो इस कहानी का महत्त्व है ही, साथ में यह कहानी इसलिये भी उल्लेखनीय है कि मज़दूरों और इसी तबक़े के अन्य लोगों की ज़िन्दगी इतनी बोझल और कठिन थी कि कभी-कभी वे तंग आकर ऐसी हरकतें, ऐसे उत्पात करने को विवश हो जाते थे। गोर्की ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को भी उभारा है। कहानी का नायक ग्वोज़्देव सम्पादक से कहता है: "मैं तुमसे मांग कर सकता हूं कि जीवन में मेरा क्या स्थान है, यह मुझे दिखाओ... मैं जीवन के अन्याय की बात कर रहा हूं। क्या तुम समझते हो कि मुझे किसी भी दृष्टिकोण से रद्द किया जा सकता है? मेरे लिये इस जीवन में एक बित्ता भर भी जगह नहीं है। क्यों? क्या इसलिये कि मैं शिक्षित नहीं हूं? लेकिन अगर तुम्हारा, उन सबका, जो पढ़े-लिखे हैं, दृष्टिकोण का चश्मा लगाकर देखना बन्द हो जाये, तो तुम मेरे बारे में कुछ सोचने और मुझे ऊंचा उठाकर अपने स्तर पर पहुंचाने में जुटो, बजाय इसके कि मुझे अज्ञान और कड़ुवाहट

में सड़ने के लिये यहां पड़ा रहने दो। या शायद किसी दृष्टिकोण से तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये?"

गोर्की ने साहित्य और लेखकों-समालोचकों और सम्पादकों के कार्य-भारों के सम्बन्ध में केवल कहानियां ही नहीं लिखीं, बल्कि आगे चलकर अपने एक नाटक 'बंगलेवाले' में बहुत विस्तार के साथ इस विषय का विवेचन किया है। हम फिर से इस विषय की ओर लौटेंगे। मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग तथा मज़दूरों के जीवन में किस हद तक ठहराव और ऊब थी, इसकी ओर भी गोर्की का ध्यान गया। 'उत्पाती' कहानी में हमें कम्पोज़ीटर ग्वोज़्देव द्वारा की गयी हरकत के रूप में एक उदाहरण मिल चुका है। 'नमकसार' कहानी में गोर्की ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन किया है। रूस के अनेक भागों की यात्रा करते और पेट भरने के लिये जहां-तहां कुछ-कुछ कमाते हुए जवान गोर्की (जो उस समय तक लेखक नहीं बने थे) नमक की खान में मज़दूरी करने गये। वहां के मज़दूरों की ज़िन्दगी में कोल्हू के बैल की तरह हाड़-तोड़ बोझल काम, ठेकेदार की गालियों और ठर्रे की बोतल के सिवा और कुछ भी नहीं था। वे जीवन से बेहद ऊबे हुए, भावना और हृदयहीन हो चुके लोग थे। इसलिये अपने साथियों से भी, और जब कोई नया और अनुभवहीन मज़दूर वहां काम करने आता था, तो वे उसके साथ भी भोंडे और निर्मम मज़ाक़ करते थे। गोर्की के साथ भी उन्होंने ऐसा ही किया। उसके ठेले के हत्थों में दरारें बनाकर बड़ी होशियारी से उनमें खपचियां खोंस दीं और जब गोर्की ज़ोर लगाकर भारी ठेले को धकेलने लगे, तो खपचियां उनकी हथेलियों में चुभ गयीं और उनके दोनों हाथ लहू-लुहान हो गये। "'किसलिये तुमने मेरे साथ ऐसा बुरा बर्ताव किया है?' मैंने चिल्लाकर कहा, 'क्या बिगाड़ा था मैंने तुम्हारा? .. क्या मैं भी तुम सब जैसा इन्सान नहीं हूं? .. आत्मा तो होनी चाहिये तुममें... तुम्हारी तरह मेरे भी पेट है, इसलिये मुझे भी काम करना है... हम सब बराबर हैं, और हमें एक-दूसरे को समझना तथा, जैसे भी हो, एक-दूसरे की मदद करनी चाहिये।'"

कठोर और अर्थहीन तथा ऊब भरी ज़िन्दगी ने इन लोगों को निर्दयी तो बना दिया था, फिर भी उनकी आत्मा पूरी तरह से मरी नहीं थी। गोर्की के शब्दों का उनपर प्रभाव हुआ, उनकी आत्मा ने उन्हें धिक्कारा और उन्होंने कुछ पैसे जमा किये गोर्की को देने के लिये। उनमें से एक

ने कहा: "हम समझते हैं कि हमने तुम्हारी भावनाओं को चोट पहुंचाई, लेकिन अगर तुम ज़रा ढंग से सोचो, तो क्या इसके लिये वास्तव में हम ही दोषी हैं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। इसके लिये मुख्यतः जीवन ही ज़िम्मेदार है! किस तरह का जीवन हम बिताते हैं? कुत्ते का जीवन! छः-सात मनिया ठेले, पांव को चाट जानेवाला नमकीन कीचड़, दिन भर पीठ की चमड़ी झुलसनेवाली धूप, और—पचास कोपेक प्रतिदिन। यह हर आदमी को जानवर बना देने के लिये क्या काफ़ी नहीं? काम, काम, काम, पगार ठर्रे में उड़ा दो और फिर काम। आदि भी यही और अन्त भी यही। कोई पांचेक साल तक ऐसे काम किया और... आदमी जानवर हुआ, बस।" कितना यथार्थ, कितनी सचाई है इस बात में! सन्तोष की बात है कि सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के लिये गोर्की ने अपनी लेखनी की जितनी शक्ति लगायी, उसके फल समाजवादी रूस के मज़दूरों को आज मिल रहे हैं। उनके श्रम को हल्का और सुखद बनाने के लिये सब कुछ किया जा रहा है।

मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग के बाबुओं-कर्मचारियों के ऊब भरे जीवन और उससे कुछ देर को मुक्ति पाने के प्रयास तथा उसके भयानक परिणाम का 'कैसे ऊब मिटे?' कहानी में ऐसा मार्मिक चित्रण हुआ है कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्तेपी के एक छोटे से रेलवे स्टेशन का स्टेशन-मास्टर, उसका सहायक और चौकीदार आदि मिलकर बावर्चिन अरीना और स्विचमैन गोमोज़ोव के साथ भोंडा मज़ाक़ करके अपना मन बहलाते हैं। वे अरीना और गोमोज़ोव को, जो चोरी-छिपे एक-दूसरे से मिलते हैं और इस तरह अपने एकाकी जीवन का बोझ हल्का करते हैं, एक रात दोनों को उस कोठरी में बन्द कर देते हैं, जिसमें अरीना रहती थी और गोमोज़ोव जिसके पास रात बिताने को आया हुआ था। सुबह को स्टेशन-मास्टर, उसकी बीवी, स्टेशन-मास्टर का सहायक, चौकीदार और दूसरा स्विचमैन ताला खोलते हैं, बालटी और भोंपू का बैंड-सा बजाते हुए उन दोनों की ख़ूब खिल्ली उड़ाते हैं। गोमोज़ोव तो चुपके-से खिसक जाता है, मगर लाज की मारी हुई अरीना अपना सन्तुलन नहीं लौटा पाती और आख़िर आत्महत्या कर लेती है। बेचारी असहाय और भाग्यहीन नारी! ऐसा था कठिन, अर्थहीन तथा उद्देश्यहीन जीवन रूस के छोटे शहरों, कस्बों और प्रान्तीय लोगों का।

गोर्की ने समाज की एक शोषित, उत्पीड़ित और अधिकारहीन श्रेणी

के रूप में नारी के भाग्य को भी अपनी अनेक कहानियों तथा अन्य रचनाओं का विषय बनाया है। 'विश्वासाघात' और 'नीली आंखोंवाली नारी' इस विषय की प्रतिनिधि कहानियां कही जा सकती हैं। 'नीली आंखोंवाली नारी' कहानी में गोर्की ने दिखाया है कि कैसे एक सुन्दर, नीली आंखोंवाली जवान नारी, जिसका पति बोट चलाता था, दुर्घटना का शिकार होकर मर गया और जिसके दो छोटे, प्यारे और होनहार बच्चे थे और जिन्हें मां अच्छी शिक्षा देना और यह भी चाहती थी कि उन्हें किसी तरह के अभावों की कटु अनुभूति न हो, वेश्या का धंधा अपनाने को विवश हुई। जिस थानेदार से वह मेले में ऐसा धंधा करने का कार्ड लेने गयी, वह भी चकित रह गया और शुरू में उसने विश्वास नहीं किया कि उसके बच्चे हैं और वह उनके कारण ऐसा करना चाहती है। किन्तु जब वह अपने दोनों बच्चों के साथ जहाज़ में सवार होकर अपने नगर वापस लौटनेवाली थी और थानेदार ने उन तीनों को देखा, तो उसने अपनी टोपी उतार ली और सिर झुकाकर अभिवादन किया। कहानी का अन्त करते हुए गोर्की लिखते हैं: "उन्हें विदा करने के बाद थानेदार ने एक गहरी उसांस छोड़ी और अपनी ड्यूटी पर लौट आया—भारी उदासी और दुख की अनुभूति लिये हुए।"

प्रसंगवश यहां यह भी बता देना उचित होगा कि सामाजिक परिस्थितियों का शिकार होनेवाली ऐसी ही एक युवती से स्वयं गोर्की की भेंट उस समय हुई थी, जब वह केवल १७ वर्ष के थे और ऊस्त्ये बस्ती के समुद्र तट पर बचे-खुचे रोटी के टुकड़े ढूंढ़ रहे थे, क्योंकि उनके पास एक भी पैसा नहीं था और वह बेहद भूखे थे। ऐसी परिस्थितियों में नताशा नाम की एक युवती से वहां उनकी भेंट हुई, जो उनकी भांति ही भूखी थी और रोटी की तलाश में थी। आख़िर उन्हें भीगी हुई एक पाव रोटी मिल गयी, जिसे दोनों ने खा लिया और रात बिताने के लिये एक नाव में लेट गये। नवम्बर के अन्तिम दिन थे, ठण्ड काफ़ी थी और ठण्ड के कारण गोर्की का बुरा हाल था, उनके दांत बज रहे थे और वह बाज़ारू युवती, जिसकी पाशा नाम के नौजवान ने, जिसे वेश्या होते हुए वह प्रेम करने लगी थी और जो उससे पैसे लेकर पीता तथा दूसरी लड़कियों के साथ घूमता था, मार-पीटकर दुर्गति कर दी थी, गोर्की के साथ लेटकर उनका तन गर्मा रही थी और उन्हें तसल्ली दे रही थी कि कोई बात नहीं—रात जल्द ही बीत जायेगी। "तुम भी क्या बोतल के

दीवाने हो गये थे?" उसने पूछा, "क्या इसीलिये तुम्हें नौकरी से अलग कर दिया गया?" गोर्की लिखते हैं: "कितना बड़ा व्यंग्य था यह मेरे लिये! आप ख़ुद ही सोचें। कारण कि उस समय मैं मानवजाति के भाग्य की चिन्ताओं में घुलता था, सामाजिक व्यवस्था के पुनर्गठन, राजनीतिक कायाकल्पों की कल्पना करता था, ऐसी-ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण किताबें पढ़ता था जिनके विचारों की गहराई को स्वयं शायद उनके लेखक भी नहीं समझते होंगे... और मुझे अपने तन से गर्मा रही थी एक वेश्या, क़िस्मत की मारी, बुरी तरह पिटी हुई, बेघर नारी, जिसका जीवन में न तो कोई स्थान था, न ही कोई मूल्य और जिसकी, इसके पहले कि वह मेरी मदद करती, मदद करने की बात मेरे दिमाग़ में नहीं आई और अगर यह बात मुझे सूझ भी जाती, तो भी शायद ही मैं उसकी कोई मदद कर पाता।"

'एक बार पतझर में' शीर्षक वाली १८९५ में लिखी गयी उक्त कहानी में गोर्की ने बड़ी ही सहानुभूति और सहृदयता से समाज की उपेक्षित और कभी-कभी तो अन्यायवश घृणित नारी (वेश्या के रूप में) के भाग्य की ओर समाज के दायित्व का ध्यान आकृष्ट किया है। यहां यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वेश्या नताशा, जो पतिता मानी जाती है, वह गोर्की को सहारा और तसल्ली देती है, मानसिक दृष्टि से अपने को अधिक सशक्त प्रमाणित करती है, जीवन की रात में आनेवाली सुबह की उम्मीद बंधवाती है। "कोई बात नहीं, सब ठीक हो जायेगा।" "वह मुझे सान्त्वना दे रही थी, मेरा हौसला बढ़ा रही थी," गोर्की लिखते हैं।

जीवन के गर्त्त में, जीवन के तल में पहुंचे हुए आवारा, पतित, शराबी, चोर और इसी तरह के अन्य समाजोपेक्षित लोगों का गोर्की के साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गोर्की ने ही उन्हें अपनी कहानियों, नाटक 'रसातल' और अन्य रचनाओं में नायक-नायिकायें बनाया और इस तरह समाज का ध्यान उनपर केन्द्रित किया। लेव तालस्तोय जैसे महान लेखक, चिन्तक और सजग-सचेत व्यक्ति ने भी इसके लिए गोर्की की बड़ी प्रशंसा की थी। 'चेल्काश', 'कोनोवालोव', 'ओर्लोव दम्पति', 'माल्वा', 'सेमागा कैसे पकड़ा गया', 'छब्बीस और एक लड़की' आदि यथार्थवादी कहानियों के कथानक ऐसे ही आवारा और तलछटी लोगों के इर्द-गिर्द

घूमते हैं। गोर्की के ऐसे पात्रों में कुछ सामान्य लक्षण विद्यमान हैं, जैसे कि वे सभी आज़ादी के दीवाने हैं, धन जोड़ने और सम्पत्ति बटोरने की मध्यवर्गीय और टुटपुंजिया प्रवृत्ति से मुक्त ही नहीं, उसके निन्दक और विरोधी हैं, जीवन के तल में चले जाने पर भी उनकी आत्मा के मानवीय गुण लुप्त नहीं हुए हैं और जब कभी ऐसा अवसर आता है, तो उनके ऐसे प्रशंसनीय तत्व उभर उठते हैं और उनकी तुलना में समाज का आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त पात्रों की मानसिक संकीर्णता, उनका रूढ़िवाद, उनकी लालच की प्रवृत्ति आदि लक्षण अधिक उग्र बनकर नकारात्मक रूप में हमारे सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिये हम 'चेल्काश' को ले सकते हैं। वह चोर है, रात के अंधेरे में तस्करी करके पैसा कमाता है और आनेवाले कल की चिन्ता किये बिना मस्ती की ज़िन्दगी बिताता है। दूसरी ओर गांव से आये हुए किसान नौजवान गाव्रीला को हम अपने सामने देखते हैं, जो शहर में पैसे जोड़कर गांव लौटना चाहता है, किसी धनी किसान की बेटी से शादी करके ख़ुद भी धनी बनने के सपने देखता है, चोरी-चकारी के काम से घबराता है, अपनी आत्मा की दुहाई देता है, किन्तु चेल्काश के साथ मिलकर जब तस्करी करता है और जब चेल्काश को पांच सौ से अधिक रूबल मिलते हैं, तो गिड़गिड़ाता है कि वह उसे सारी रक़म दे दे। "तुम्हारी आत्मा के लिये दुआ करूंगा। सारी उम्र दुआ करूंगा—तीनों गिरजों में। तुम इसे यों ही उड़ा दोगे, जबकि मैं? मैं इसे ज़मीन में लगाऊंगा। मुझे दे दो। तुम्हारे लिये यह धन क्या मानी रखता है? कुछ भी तो नहीं। मुझपर एहसान करो..." चेल्काश ने नोटों का बंडल निकालकर उसके सामने फेंक दिया। गाव्रीला सारा धन जेब में डालने के बाद चेल्काश को बताता है कि इसे पाने के लिये वह तो उसकी हत्या तक कर डालने, डांड़ से उसका काम तमाम करके सागर में फेंकने तक की बात सोच रहा था। इसपर चेल्काश को उसकी आत्मा के कमीनेपन और लालच पर क्रोध आ जाता है; वह नोट छीन लेता है। गाव्रीला उसे पत्थर मारकर घायल कर देता है, डरकर भागता है, मगर फिर भी पैसों का लालच उसे वापस लाता है। चेल्काश, चोर चेल्काश, इस कमीने और लालची किसान को, जिसने पत्थर मारकर लगभग उसकी जान ले ली थी, सौ रूबल का एक नोट अपने पास रखकर बाक़ी चार सौ चालीस रूबल दे देता है

ग्रौर—"ग्रच्छा तो ग्रब विदा," चेल्काश ने चलने के लिये मुड़ते हुए कहा। उसकी ग्रावाज़ में उपहास का पुट था।

"वह लड़खड़ा रहा था, उसकी टांगें कांप रही थीं ग्रौर वह ऐसे ग्रजीब ढंग से ग्रपने सिर को पकड़े था मानो डर रहा हो कि कहीं वह गिर न जाये।"

चेल्काश की ग्रावाज़ में उपहास का पुट उस गाव्रीला की ग्रात्मा की नीचता की जैसे खिल्ली उड़ा रहा था। ऐसी उदारता केवल वही दिखा सकता था, संकीर्ण ग्रात्मा का लालची देहाती नहीं।

'सेमागा कैसे पकड़ा गया'—यह भी एक चोर की कहानी है, जो पुलिस से बच निकलने की कोशिश में रात के वक़्त छिपते-छिपाते बढ़ता चला जा रहा था कि उसे एक नन्हे बच्चे के रोने की ग्रावाज़ सुनाई देती है। वह पास जाकर देखता है—बंडल में लिपटा हुग्रा एक नवजात शिशु था, जिसकी मां उसे वहां ठण्ड में फेंक गयी थी। चोर सेमागा की ग्रात्मा के कोमल तार झनझना उठे, वह बच्चे को ग्रपने कोट के नीचे छिपाकर, विचारों में खोया-उलझा चलता जाता है ग्रौर पुलिस वाले उसे पकड़ लेते हैं। वह केवल बच्चे की जान बचाने के लिये ही ग्रपने बचाव की कोशिश नहीं करता, किन्तु थाने में पहुंचने पर बच्चा भी मर जाता है। "ग्राहत होने की चेतना ने उसके हृदय को उमेठा। बच्चे के शरीर की ग्रोर उसने देखा। उसकी नज़र में विक्षोभ था। एक ग्राह भरते हुए बोला: "तुम भी एक ही रहे! तुम्हारी ख़ातिर मैं पकड़ा गया ग्रौर नतीजा कुछ नहीं। मैं सोच रहा था कि... लेकिन तुम ग्रपनी करनी से बाज़ न ग्राये ग्रौर मेरे शरीर पर ही मर गये। भई, वाह!"

चोर की ग्रात्मा में बच्चे के प्रति स्नेह की भावनाग्रों का यह कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है। जीवन में हिसाब-किताब जोड़कर जीनेवाला व्यक्ति कभी ग्रपने को मुसीबत में फंसाने की जोखिम न लेता। किन्तु सेमागा की ग्रात्मा ने ग्रपनी सहज प्रेरणा से ऐसा किया, उसने ग्रपनी चिन्ता नहीं की।

'माल्वा' कहानी की नायिका माल्वा भी स्वच्छन्द जीवन बिताने की ग्रभ्यस्त है ग्रौर गांव से पैसे कमाने के लिये ग्राये वसीली ग्रौर उसके जवान बेटे याकोव में से किसी को भी इसलिये नहीं ग्रपनाती कि 'चेल्काश' कहानी के किसान गाव्रीला की भांति वे भी संकीर्ण मनोभावों ग्रौर लालची प्रवृत्तियों के लोग हैं, उनमें स्वामित्व की भावना प्रबल है ग्रौर वे नारी को भी इसी रूप में ग्रहण करना चाहते हैं।

'वान्का माज़िन' कहानी में एक इमारतसाज़ मज़दूर वान्का माज़िन को कहानी का केन्द्र-बिन्दु बनाया गया है। वह अपने मालिक ठेकेदार कोलोबोव की, जो अक्सर मज़दूरों को गालियां देता और डांटता-फटकारता था, जान बचाता है। बाद में कोलोबोव कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसे तीन रूबल इनाम देना चाहता है। जान बचाने के लिये तीन रूबल इनाम! इससे स्पष्ट हो जाता है कि धनी वर्ग के लोग दिल के कितने छोटे होते हैं। वान्का माज़िन उसे जवाब देता है: "तुम्हारी अजर-अमर आत्मा को बचाने के लिये मैं वहां चढ़ा था, तीन रूबल के लिये नहीं। इसलिये कि कहीं तुम अपने गुनाहों का प्रायश्चित किये बिना ही न मर जाओ। और तुम मुझे तीन रूबल का नोट थमाते हो! ख़ैर मनाओ कि इस पुरस्कार के बदले में मैंने तुम्हारी थूथनी नहीं तोड़ दी।" गोर्की ने यहां भी तथाकथित छोटे लोगों की आत्मिक समृद्धि को उजागर किया है।

'ओर्लोव दम्पति' कहानी का कथानक मोची ग्रिगोरी ओर्लोव और उसकी पत्नी मात्र्योना के इर्द-गिर्द घूमता है। ग्रिगोरी पियक्कड़ है। अच्छा मोची है, लेकिन जीवन में कोई लक्ष्य न होने के कारण वह ऊबभरा जीवन बिताता था और अक्सर कहता था: "यह भी कोई जीवन है कम्बख़्त! मुझे इससे क्या लेना! काम करो और ऊबो, ऊबो और काम करो!" इसी ऊब के कारण वह पीता और बीवी को धुनता। उनके इस तरह के कटु जीवन में उस समय एक करवट आई, जब नगर में हैज़ा फैला और वे दोनों अस्पताल की बारेकों में जाकर रोगियों की देखभाल करने लगे। वहां वे कुछ समय के लिये एक दूसरे के निकट आ गये, उनमें प्यार भी जागने लगा, किन्तु ग्रिगोरी कुछ समय बाद इस तरह के जीवन से भी ऊब गया और उसका आवारा मन बीवी और दूसरे सभी बन्धनों को तोड़कर भाग खड़ा हुआ। दूसरी ओर, उसकी पत्नी मात्र्योना किसी स्कूल में बालकों को मोची का काम सिखाने और शान्तिपूर्ण जीवन बिताने लगी। गोर्की ने ग्रिगोरी का ऐसे चरित्र-चित्रण किया है कि वह पाठक के मन में कभी प्रशंसा का भाव जगाता है, कभी घृणा का और अन्त में उसे फिर से आवारा दिखाकर यह संकेत किया है कि वह मात्र्योना और हज़ारों-लाखों अन्य लोगों की भांति कुछ पैसे कमाने और खा-पीकर धीरे-धीरे मृत्यु तक पहुंचने के सामान्य, घिसे-पिटे जीवन के ढर्रे से समझौता नहीं कर सका। उसका मन कुछ करने को कसमसाता और छटपटाता था, किन्तु जीवन की परि-

स्थितियां उसको सम्भावनायें नहीं देती थीं। इसलिये सामाजिक व्यवस्था के प्रति उसकी खीझ श्रम के प्रति, सामान्य जीवन के प्रति खीझ में बदल गयी थी।

गोर्की के अधिकतर आवारा पात्र इस दृष्टि से उदात्त (Positive) पात्र नहीं हैं, वे नकारात्मक हैं, विरोध प्रकट करते हैं, ग़ैर-ज़िम्मेदारी का व्यवहार करते हैं, किन्तु उनकी ऐसी दुर्गति के लिये, उन्हें इन्सान से हैवान बनाने के लिये वे सामाजिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं, जिन्होंने उन्हें इस तरह नीचे गिरा दिया है। वे एक तरह से सामाजिक अन्याय के जीते-जागते प्रमाण हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जो अपने को ही पूरी तरह दोषी मानते हैं, ऐसा समझते हैं कि हर चीज़ के लिये व्यक्ति स्वयं दोषी है और समाज को नहीं, व्यक्तियों को बदलने की ज़रूरत है। 'कोनोवालोव' कहानी का नायक अलेक्सान्द्र कोनोवालोव ऐसा ही व्यक्ति है। अठारह वर्षीय अलेक्सेई पेशकोव उसके साथ बेकरी में काम करते रहे थे और उन्हीं दिनों उन दोनों के बीच जो बातें हुआ करती थीं, उन्हीं के आधार पर १८९७ में यह कहानी लिखी गयी। कोनोवालोव अपने बारे में कहता है: "मैं क्या हूं? एक आवारा, एक पियक्कड़, एक बेकार आदमी, एक गंदा चरित्र... इस दुनिया में मेरे जीवित रहने में क्या तुक है? किसके काम आता हूं मैं? – न बीवी, न बच्चे, न कोई अपना घर-बार – यहां तक कि इन्हें पाने की कोई चाह तक नहीं।" अलेक्सेई ने तर्क करते हुए परिस्थितियों और वातावरण का ज़िक्र किया, असमानता के बारे में कहा, उन लोगों के बारे में बताया जो जीवन के स्वामी बने बैठे हैं और उन लोगों का भी ज़िक्र किया, जो उनके शिकार हैं। किन्तु वह यही जवाब देता रहा: "हर आदमी ख़ुद अपने भाग्य का स्वामी है और मेरे सिवा अन्य कोई इस बात के लिये ज़िम्मेदार नहीं है, अगर मैं शैतान हूं... दोष जीवन का नहीं, ख़ुद लोगों का है।" स्पष्ट है कि आवारा होते हुए, जीवन के तल में चले जाने पर भी कोनोवालोव को अपने पतन की चेतना है और इसके लिये वह अपने को ही कोसता है, यद्यपि वास्तविकता यह नहीं है। लेखक का अपना रवैया भी स्पष्ट है। वह यह नहीं मानता कि जो आवारा बनने के लिये पैदा हुआ है, जैसा कि कोनोवालोव कहता है, वह आवारा ही रहेगा। लेखक तो जानता है कि कोई जन्म से आवारा नहीं पदा होता। इससे यह भी समझ में आ जाता है कि गोर्की आवारा लोगों को अनुकरणीय उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं करते थे, उनके अराजक-

तावादी विचारों के प्रशंसक नहीं थे, बल्कि उनके प्रति सहानुभूति रखते थे, ऐसा मानते थे कि उन्हें ऊपर उठाया जाना चाहिये, सामाजिक व्यवस्था को बदलकर उन्हें सही अर्थ में इन्सान बनाना चाहिये। कुछ आलोचकों ने गिरे हुए लोगों के प्रति गोर्की के इस सहानुभूतिपूर्ण रवैये को आधार बनाकर उनपर यह आरोप लगाया है मानो उन्होंने आवारागर्दों को रोमानी रंग में पेश किया है, भ्रष्ट सर्वहारा से निराधार और बेकार आशायें बांधी हैं, और उनपर नीत्शे के दर्शन का भी कुछ रंग चढ़ा दिया है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। गोर्की ने उनसे कोई आशायें नहीं बांधी थीं, बल्कि यह दिखाया था कि कैसे वे जीवन के सामान्य सदस्य नहीं रहे और इसके लिये कौन ज़िम्मेदार है, यह कि उनकी आत्मायें पूरी तरह मर नहीं गयी हैं, उन्हें उबारा जा सकता है, उनमें टुटपुंजिया वर्ग की धन-लिप्सा नहीं है, इसलिये वे त्याग और बलिदान भी कर सकते हैं, जैसे चेल्काश ने किया, उनका अराजकतावाद सामाजिक व्यवस्था के प्रति अचेतन और स्वतःस्फूर्त विद्रोह को इंगित करता है। गोर्की ने उनसे तनिक भी ऐसी आशा नहीं की थी कि वे क्रान्ति करेंगे या समाज को बदलेंगे। जहां तक नीत्शे के दर्शन का सम्बन्ध है, तो गोर्की ने उसकी सारहीनता दिखाने के लिये ही उसके कुछ लक्षणों को अपने कतिपय नायकों के साथ जोड़ दिया है। नीत्शे का दर्शन तो "अतिमानवों" यानी समाज के श्रेष्ठ लोगों के अस्तित्व के अधिकार और उनके "दासों" के श्रमशोषण पर आधारित है। यह दर्शन तो गिरते हुओं को गिराने, न कि उन्हें ऊपर उठाने का उपदेश देता है। गोर्की का सन्देश इसके बिल्कुल उलट है। वह तो "स्वामियों" और "दासों" के समाज के बजाय न्यायपूर्ण समाज की कल्पना करते थे, यद्यपि यह सही है कि जब ये कहानियां लिखी गयी थीं, तब तक स्वयं गोर्की को भी अपना उदात्त नायक नहीं मिला था और वह यह भी नहीं जानते थे कि समाज की कौन-सी व्यवस्था होनी चाहिये, जिसमें लोगों को न्याय मिल सकेगा। हां, इतना स्पष्ट था कि "स्वामियों" के समाज को बदलना और उनके मनमाने अधिकारों पर रोक लगाना, उनका विरोध करना ज़रूरी है, नहीं तो वे किस हद बढ़ते चले जायेंगे इसका उदाहरण 'मेरा साथी' कहानी है। १८९४ में लिखी गयी इस कहानी में गोर्की ने यह दिखाया है कि कैसे एक कुलीन, एक राजकुमार शाकरो प्ताद्ज़े ग़रीब और बेरोज़गार लोगों की सेना में शामिल हो जाने पर भी अपने साथी यानी गोर्की से अपना सारा काम करवाता है, अपनी

रईसी की आदतों को बनाये रखता है। गोर्की केवल यह देखने को उसके लिये सब कुछ करते रहे कि अपने इस रोब और अधिकार-भावना के अन्तर्गत वह किस हद तक जा सकता है। गोर्की ने एक तरह से तोलस्तोय के इस विचार की भी आलोचना की है कि बुराई का अगर विरोध न किया जाये, तो वह बढ़ती ही जा सकती है, उसकी कोई सीमा नहीं होती। गोर्की ने आवारा पात्रों के श्रम और दासतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था से इन्कार तथा उनकी अराजकता द्वारा ही यह दिखाया है कि अन्यायपूर्ण समाज में उनके लिये ऐसा स्रोत नहीं है, जो उन्हें श्रम करने की प्रेरणा दे। यह विरोध और विद्रोह नकारात्मक होते हुए भी ख़ामोशी या स्थिति को चुपचाप स्वीकार करने से बेहतर था। इसीलिये ऐसे पात्र पाठकों को अच्छे लगे, उन्हें लोकप्रियता मिली।

छोटी और 'ओर्लोव दम्पति' जैसी बड़ी कहानियां लिखने के बाद (जिन्हें वास्तव में लघु-उपन्यास कहा जा सकता है) गोर्की ने बड़ी रचनायें लिखने की दिशा में क़दम बढ़ाया। १८९९ में उन्होंने 'फ़ोमा गोर्देयेव' और १९०० में 'वे तीन' लघु-उपन्यास लिखे। गोर्की ने अपनी नम्रतावश ही इन्हें लघु-उपन्यासों की संज्ञा दी, ठीक उसी तरह जैसे उन्होंने 'ओर्लोव दम्पति' को, जो लघु-उपन्यास है, कहानी कहा। इन दोनों रचनाओं के सामने आने पर गोर्की कहानीकार ही न रहकर उपन्यासकारों की पांत में भी आ गये और उनके 'फ़ोमा गोर्देयेव' ने तो तत्कालीन पाठकों और आलोचकों का लगभग उतना ही ध्यान आकृष्ट किया, जितना उसी समय प्रकाशित लेव तोलस्तोय के 'पुनरुत्थान' उपन्यास ने। यथार्थवाद और अपने युग की समस्याओं को बड़ी सफल रचनाओं के रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह उनके कृतित्व और यथार्थवाद के विकास का एक नया प्रगति-डग था। 'फ़ोमा गोर्देयेव' में १९ वीं शताब्दी के अन्त में रूस में अत्यधिक तेज़ी से विकसित हो रहे पूंजीवाद की पृष्ठभूमि में एक ऐसे नायक यानी फ़ोमा की कहानी कही गयी है, जो अपने वर्ग से टूटता है, पर जो दूसरे, उभरते हुए श्रमिक वर्ग के निकट होने की खाई नहीं पाट पाता और आख़िर पागल होकर रह जाता है। बात यह है, जैसा कि स्वयं गोर्की ने कहा है, उनके पास जीवन-अनुभूतियों की बड़ी विपुलता थी, उन्होंने नीज़्नी नोव्गोरोद के व्यापारी-पूंजीपति वर्ग के लोगों में घटी ऐसी कई घटनायें सुनी थीं, जिनके अनुसार धनी वर्ग के कुछ लोग अपना घर-बार छोड़कर या तो मठों में चले गये थे, या कुछ ने आत्म-हत्या कर ली थी अथवा पागल हो गये थे।

ऐसा ही एक व्यक्ति गोर्देई चेर्नोव था, जो कुछ हद तक फ़ोमा का मूलरूप था। 'रचना-शिल्प के बारे में' अपने लेख में गोर्की ने लिखा है: "और फिर एक दिन ऐसा आया जब यह आदमी (गोर्देई चेर्नोव), जो अपने कारोबार में इतना सफल, बलवान और सुन्दर था तथा रंग-रलियां मनाता था, अपना कारोबार छोड़कर, अपने बेटे और बेटी से एक शब्द कहे बिना लापता हो गया। बहुत ढूंढ़ने पर भी जब उसका कोई पता नहीं चला, तो लोगों ने सोचा कि किसी ने उसकी हत्या कर दी है। उसकी सम्पत्ति एक सार्वजनिक ट्रस्ट के हवाले कर दी गयी और आश्चर्यजनक हद तक कम दाम पर बेच दी गयी। महाजनों और कर्मचारियों का पूरा भुगतान करने के बाद भी चेर्नोव के बच्चों को हज़ारों रूबल मिले... १८९६ में नीज्नी नोव्गोरोद में अखिल रूसी प्रदर्शनी के समय चेर्नोव फिर से नमूदार हुआ। वह ईसाई भिक्षु बन गया था और पुराने एथन मठ से अपने शहर का उत्सव देखने आया था। और उसने ख़ूब उत्सव देखा। पुराने मित्रों के साथ जी भरकर शराब के कई दौर चलाने के बाद वह अपने ईसाई मठ में वापस चला गया, जहां १९०० में उसका देहान्त हुआ। इस आदमी की कहानी में, जिसने 'सामान्य' जीवन से मुंह मोड़ लिया था और इतने सहज भाव से उसे ठुकरा दिया था, मुझे बहुत दिलचस्पी हो गयी।"

गोर्की की इसी दिलचस्पी, इसी जिज्ञासा ने कि चेर्नोव जैसे धनी व्यक्ति ने "सामान्य" जीवन से क्यों मुंह मोड़ा, वह अपने वर्ग से क्यों टूटा, 'फ़ोमा गोर्देयेव', को जन्म दिया। गोर्की ने स्वयं ही इसके कारण का मानो यह उत्तर भी दिया है: "ऐसी घटनायें अवश्य ही विरली थीं, परन्तु उनसे यह आभास तो मिलता ही था कि जीवन में परिवर्तन की आवश्यकता है। मुझे ऐसा लगता कि 'लौह पुरुषों' (यहां कठोर पूंजीपति से अभिप्राय है) में भी ऐसे लोग हैं, जो स्वीकृत आदर्श पर चलना नहीं चाहते थे, उसे अवैधानिक और 'विरोधी' भी मानते थे।" गोर्की ने बहुत धीरे-धीरे और स्वाभाविक ढंग से फ़ोमा के चरित्र का विकास किया है, दिखाया है कि कैसे एक ओर वह अपने बड़े सफल कारोबारी बाप पर गर्व करता है और ख़ुद उसमें उसके कई लक्षण विद्यमान हैं, जैसे कि वह अपने अधीन लोगों—जहाज़ के कप्तान—तक को अपने इशारों पर नचाने की क्षमता रखता था, साथ ही उसमें मां के स्वभाव का ऊहापोह और असमंजस भी था, उसे अपनी समृद्धि की वास्तविकता पर विश्वास नहीं होता था, छुट-

पन में ही यतीम हो जाने के कारण वह पूरी तरह बाप के सांचे में नहीं ढल सका, उसपर बूढ़ी ग्रनफ़ीसा द्वारा सुनायी गयी भलाई-बुराई की लोक-कथाओं का भी ग्रसर पड़ा ग्रौर उत्पीड़ित, शोषित होते हुए भी मेहनतकशों की श्रम-क्षमता तथा जन-जीवन के ग्रन्य चित्रों ने भी उसके मन पर ग्रपनी छाप छोड़कर उसे जीवन को दूसरे ढंग से देखने को विवश किया। पिता के मित्र मयाकिन (जिसकी सरपरस्ती में वह बड़ा हुग्रा ग्रौर जो बड़ा कांइयां व्यापारी था तथा फ़ोमा को सफल काम-काजी व्यक्ति बनाना चाहता था) की स्वार्थपरता, कठोरता तथा भेड़िये की तरह ज़िन्दगी को देखने की सारी शिक्षा के बावजूद फ़ोमा उस रास्ते पर नहीं चल सका, उसकी ग्रात्मा ग्रधिक विस्तार चाहती थी ग्रौर उसने ग्रपने वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया। किन्तु यह एकाकी व्यक्ति का विद्रोह था ग्रौर उसका वही दुखद ग्रन्त हुग्रा, जो हो सकता था – वह पागल होकर रह गया। उसके विद्रोह का दिशा-निर्देशन करनेवाला कोई नहीं था ग्रौर स्वयं वह ग्रपना मार्ग नहीं जानता था। फिर भी यह पात्र "जीवन के स्वामी" माने जानेवाले वर्ग के मानसिक ग्रसन्तोष, भविष्य के बारे में उसकी घबराहट को प्रकट करता है ग्रौर इस नाते ग्रपने युग की एक ग्रसंगति को प्रतिबिम्बित करनेवाला पात्र है। दूसरी ग्रोर, मयाकिन ग्रर्थात उसका संरक्षक-पिता तो द्रुत गति से विकसित हो रहे पूंजीवाद ग्रौर उसके परिणामस्वरूप पूंजीपति वर्ग की बढ़ती स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद, शोषण-प्रवृत्ति, धन-संचय की ग्रधिकाधिक लालसा ग्रौर पूंजी की शक्ति की चेतना को व्यक्त करनेवाला विशिष्ट बूर्जुग्रा पात्र है।

'फ़ोमा गोर्देयेव' के बाद गोर्की ने 'वे तीन' लघु-उपन्यास रचा, जो 'जीज़्न' ('जीवन') पत्रिका के १६०० के नवम्बर-दिसम्बर ग्रंक ग्रौर १६०१ के पहले चार ग्रंकों में प्रकाशित होता रहा, किन्तु ग्रन्त तक नहीं छप सका, क्योंकि तभी ज़ारशाही सरकार ने इस पत्रिका के प्रकाशन पर रोक लगा दी ग्रौर ऐसे निर्णय का एक कारण इस पत्रिका में 'वे तीन' का छपना था। इसलिये गोर्की ने १६०१–१६०२ में इसका फिर से सम्पादन करने के बाद सम्पूर्ण रूप में "कहानियां" के पांचवें खण्ड में ही प्रकाशित किया ग्रौर तभी ग्रपने एक मित्र क० प० प्यात्नित्स्की को लिखा: "ग्रभी 'वे तीन' पढ़ा। यह ग्रच्छी पुस्तक है, बहुत लम्बी, पुनरावृत्ति के ग्रौर ग्रन्य कई दोषों के बावजूद यह ग्रच्छी पुस्तक है। इसे पढ़ते हुए मैं उदास मन से सोच रहा था कि ग्रगर पन्द्रह साल पहले मैं कोई ऐसी किताब पढ़

पाता तो उतने ही अनावश्यक, जितने कि बोझल विचारों की बहुत-सी व्यथा से बच जाता।" गोर्की ने उक्त पत्र में पन्द्रह साल पहले ऐसी पुस्तक पढ़ पाने की चर्चा की है। यह वह समय था जब गोर्की कज़ान में थे और जब जीवन को बदलने का कोई सही रास्ता न दिखाई देने की मानसिक व्यथा से परेशान होकर उन्होंने आत्म-हत्या करने की कोशिश की थी। वह जिस रास्ते को तब नहीं खोज पाये थे, उसकी रूप-रेखा 'वे तीन' लघु-उपन्यास में स्पष्ट होती दिखाई देती है और इसीलिये गोर्की को अपनी यह पुस्तक अच्छी लगी। तीन मुख्य पात्रों के गिर्द इसका कथानक बुना गया है। ये हैं—इल्या लुन्योव, याकोव फ़िलिमोनोव और पावेल ग्राचोव। लेखक ने इन्हीं के तीन जीवन-मार्गों और भाग्यों की कहानी प्रस्तुत की है। इल्या लुन्योव का दादा एक धनी कारोबारी व्यक्ति था, किन्तु बुढ़ापे में अपने गुनाहों, अत्याचारों और अनाचारों की चेतना और आत्मा की धिक्कार के कारण प्रायश्चित करने के लिये वह सब कुछ छोड़-छाड़कर जंगल की एक कोठरी में अपने जीवन के अन्तिम दिन बिताने चला जाता है। उसका ऐसा व्यवहार हमें नीज्नी नोव्गोरोद के धनी गोर्देई चेर्नोव की याद दिलाता है, जो घर-बार छोड़कर चला गया था। किन्तु इल्या लुन्योव का पिता अपने मन की बेचैनी और खीझ को सभी तरह की शरारतों, झगड़ों और विरोधों के रूप में प्रकट करता है। बेटा इल्या लुन्योव यह सोचता है कि वह कौनसा रास्ता अपनाये? ज़िन्दगी की वास्तविकता से मुंह मोड़ ले, दादा की तरह कहीं भाग जाये या फिर डटकर संघर्ष करे, ज़िन्दगी से टक्कर ले? फ़ोमा की तरह वह भी अकेला ही टक्कर लेने की कोशिश करता है, इस कोशिश में नाकाम होकर आत्महत्या कर लेता है। इस पात्र की मानसिक दशा के चित्रण में गोर्की ने उस पुराने घर का, जिसमें वह रहता है, एक प्रतीक के रूप में उपयोग किया है और पुरानेपन, जर्जरता तथा ठहराव का यह प्रतीक मानो इल्या के अन्तर का दर्पण है। फ़ोमा और इल्या का अन्त लगभग समान है—एक पागल होता है, दूसरा आत्महत्या करता है, किन्तु दोनों उल्टी दिशाओं में बढ़ने का प्रयास करते हुए ऐसा करते हैं। फ़ोमा धनिकों के विरुद्ध विद्रोह करके नीचे वाले लोगों की तरफ़ जाना चाहता है और इल्या नीचे से उठकर ऊपर वालों तक पहुंचना चाहता है।

इल्या लुन्योव का मित्र याकोव फ़िलिमोनोव संघर्ष और विरोध के मार्ग से पूरी तरह इन्कार कर एकदम शान्ति, नम्रता और विनय का जीवन

बिताने का रास्ता चुनता है। किन्तु उसका अन्त और भी बुरा होता है। और केवल इसीलिये सभी तरह की यातनाओं और व्यथाओं को सहन करना पड़ता है कि वह विनय और नम्रता का दामन थामता है, बुराई का विरोध नहीं करता। दूसरी ओर सभी तरह के शोषक, लुटेरे, हत्यारे और बदमाश मज़े की ज़िन्दगी बिताते दिखाई देते हैं और ऐसे ही अनेक लोग सत्ता के तथाकथित रक्षक हैं।

तीसरा नायक, पावेल ग्राचोव ही अपने लिये सही मार्ग चुन पाता है। स्वतःस्फूर्त विरोध के साथ-साथ उसका मानसिक-आत्मिक विकास भी होता है और वह एक कवि के रूप में अपनी इस चेतना को अभिव्यक्ति देता है और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों के घनिष्ठ सम्पर्क से उसमें जीवन के रूप-परिवर्तन का विश्वास पैदा होता है। वह उस अंधगली से बच जाता है, जिसमें उसके अन्य दोनों साथी फंस गये थे और उसे सही मार्ग की आशा-किरण दिखाई दे जाती है।

यहां इस बात का उल्लेख भी उचित होगा कि स्वयं गोर्की इस समय तक नरोदवादियों से दूर हटते हुए मार्क्सवादियों के काफ़ी निकट आ गये थे, उनकी राजनीतिक चेतना ने सही दिशा में मोड़ ले लिया था और वह उस राजनीतिक शक्ति यानी मज़दूर वर्ग के महत्त्व को भी समझने लगे थे, जो क्रान्ति का हरावल बन सकता था। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में जब रूस में फिर से क्रान्तिकारी बाढ़ आयी, तो गोर्की 'तूफ़ान का अग्रदूत' रचे बिना न रह सके और कह उठे: "आये, ख़ूब ज़ोर-शोर से तूफ़ान आये!" वह क्रान्ति के उद्घोषक बन गये।

कवि, कहानीकार और उपन्यासकार गोर्की ने १९०१ में एक नये सृजन-क्षेत्र में पांव रखा। उन्होंने अपना पहला नाटक लिखा। 'करवट' या 'टुटपुंजिया' के नाम से हिन्दी में अनूदित इस नाटक का इसलिये भी ख़ास महत्त्व है कि इसमें गोर्की ने पहली बार नील के रूप में मज़दूर वर्ग के एक ऐसे पात्र की रचना की, जो राजनीतिक चेतना रखता है, अपने वर्ग की शक्ति और उसकी क्षमताओं के बारे में सजग है और यह जानता है कि "स्वामियों" के समाज को बदला जा सकता है और उसे बदलना चाहिये। वह तो साफ़ ही कहता है कि "स्वामी वह है, जो श्रम करता है"।

चेख़ोव का 'मामा वान्या' नाटक देखकर गोर्की नाटक लिखने की ओर प्रेरित हुए। उन्होंने इस बात को समझा कि लोगों तक अपने विचारों,

अपने साहित्यिक उद्देश्यों को पहुंचाने के लिये रंगमंच कितना प्रभावपूर्ण माध्यम हो सकता है। प्रेमचन्द ने सिनेमा को ऐसा माध्यम समझा था, किन्तु वहां से निराश होकर लौटे थे। गोर्की ने दर्शकों पर नाटक के प्रभाव को स्वयं अनुभव किया था। किन्तु उन्हें विश्वास नहीं होता था कि वह नाटक लिख पायेंगे। इसीलिये १६०० के सितम्बर महीने में उन्होंने चेख़ोव को लिखा: "अख़बार व्यर्थ शोर मचा रहे हैं। नाटक मैंने नहीं लिखा और नहीं लिख पाऊंगा।" लेकिन उनकी यह बात ग़लत सिद्ध हुई। इसके विपरीत १६०१ में एक सफल नाटककार के रूप में रूसी तथा विश्व-साहित्य का गोर्की से परिचय हुआ। मास्को आर्ट थियेटर के निर्देशक-प्रस्तोता नेमिरोविच-दांचेन्को इस नाटक से परिचित होने के लिये ख़ास तौर पर गोर्की के पास नीज्नी नोव्गोरोद गये। नेमिरोविच-दांचेन्को को उनका यह पहला नाटक कैसा लगेगा, इस विचार से उन्हें कितनी घबराहट हो रही थी और इस कड़ी परीक्षा में सफल होने पर उन्हें कितनी ख़ुशी हुई, इसका प्रमाण वह पत्र है, जो उन्होंने प्यात्नित्स्की को लिखा: "मैं—आपका अल्योशा—नाटककार होने की उपाधि की प्रारम्भिक परीक्षा में अच्छे ढंग से सफल रहा हूं (अब विलियम शेक्सपीयर की ख़ैर नहीं!)। नेमिरोविच-दांचेन्को ने क़सम खाकर मुझे यह यक़ीन दिलाया कि नाटक अच्छा बना है और मैं यह कार्य करने में समर्थ हूं। मैं उनपर विश्वास करता हूं... आपको बताऊं कि तीन दिन से मैं उनकी राह देख रहा था, अपने आपको छोकरे-सा अनुभव कर रहा था, घबरा रहा था, डर रहा था, कुल मिलाकर, बड़ा अटपटा व्यवहार कर रहा था। जब नाटक पढ़कर सुनाने लगा तो नेमिरोविच-दांचेन्को से इस हास्यास्पद स्थिति को छिपाने के लिये कि मेरी आवाज़ और हाथ कांप रहे थे, मुझे बड़ा यत्न करना पड़ा।"

तो विश्व-विख्यात कहानीकार-उपन्यासकार गोर्की ने बड़ी कठिन परीक्षा देकर नाटककार की उपाधि प्राप्त की। उनके इस पहले नाटक का १६०२ में प्रकाशन हुआ और इसी वर्ष वह मास्को आर्ट थियेटर के रंगमंच पर खेला गया। भारतीय पाठक के लिये शायद यह जानना दिलचस्प होगा कि एक वर्ष में ही इस नाटक का ६० हज़ार प्रतियों का संस्करण समाप्त हो गया था और रंगमंच पर तो यह नाटक आज तक खेला जा रहा है और सम्भवत: भविष्य में भी खेला जाता रहेगा।

इस नाटक की सारो घटनाएं बेस्सेमेनोव परिवार में घटती हैं। ५८ वर्ष

का वसीली वसील्येविच बेस्सेमेनोव मकानों पर रंग करने का काम करता है और अपने संघ का मुखिया है, टुटपुंजिया प्रवृत्ति का आदमी है (बरबस गोर्की के नाना का ध्यान आता है), उम्र भर काम करके, कंजूसी करके धन जोड़ता रहा है ताकि अच्छी ख़ुशहाली की ज़िन्दगी बिताये, बच्चों के लिये आराम-चैन का जीवन बिता पाने के हेतु काफ़ी धन छोड़ जाये। उसका बेटा प्योत्र और बेटी तत्याना बड़े होने पर बूढ़े बाप के सपनों और आकांक्षाओं को पूरा नहीं करते। प्योत्र बाप की तरह ही कूपमंडूकी तथा टुटपुंजिया प्रवृत्ति का नौजवान है, किन्तु बाप की तरह न तो उसमें जीवट है और न कार्य-क्षमता। बेटी तत्याना में न तो शक्ति है, न साहस, वह जीवन को व्यर्थ और जीने योग्य ही नहीं मानती। इसी परिवार में बेस्से-मेनोव दम्पति द्वारा पालकर बड़ा किया हुआ नील भी रहता है, जो इंजन-ड्राइवर है, बड़ा साहसी और सजग नौजवान है। उसे इस बात की चेतना है कि अधिकतर लोगों का जीवन कठिन और दुखद है, फिर भी ज़िन्दगी से बढ़कर कुछ नहीं, कि उसे बदला जा सकता है, उसे बदलना चाहिये। यही नील बूढ़े बेस्सेमेनोव के चैन और सुख से जीवन बिताने, अपनी ही चिन्ता करने, अपने आराम तक ही सीमित सुखी जीवन के सपने को चूर कर देता है। बूढ़ा बेस्सेमेनोव तो यही समझता है कि उसने धन पैदा करके घर में उपलब्ध सारे सुख-आराम की व्यवस्था की है, इसके लिये कंजूसी और दूसरे अनुचित कार्य किये हैं और इसलिये घर में वही सब कुछ है, किन्तु नील उसे बताता है कि "स्वामी वह है, जो श्रम करता है" (अर्थात वह नहीं, जो दूसरों के श्रम का शोषण करता है)। नील यह भी कहता है कि "अधिकार दिये नहीं जाते, लिये जाते हैं"। दूसरी ओर, बेटा प्योत्र (जिसकी मनोरचना तो बाप की तरह ही टुटपुंजियापन में ढली हुई है) इसलिये बूढ़े को निराश करता है कि वह विश्वविद्यालय से निकाल दिया जाता है। उसकी तरह घर-बार बसाकर "सामान्य" जीवन बिताने, बच्चे पैदा करने और धन जोड़ने की चिन्ता न कर वह एक सुन्दर विधवा येलेना के प्रेम के चक्कर में पड़ जाता है। तत्याना भी नील के इश्क में घुलती है और निराश होने पर उसमें जीने की चाह ही नहीं रहती। अक्सर यह कहा जाता है कि गोर्की ने इस नाटक में मानो दो पीढ़ियों के टकराव को, उनके भिन्न रास्तों की टक्कर को नाटक का मुख्य विषय बनाया है, जैसा कि तुर्गेनेव के 'पिता और पुत्र' उपन्यास में हुआ है। किन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि न तो इस नाटक में और न 'पिता और

पुत्र' उपन्यास में ही दो पीढ़ियों की टक्कर है, बल्कि दो विचारधाराओं की टक्कर है। 'पिता और पुत्र' के नायक बज़ारोव और नील में काफ़ी समानता है। बज़ारोव भी नील की तरह कभी-कभी अक्खड़ और रूखा प्रतीत होता है और तुर्गेनेव के समय के अनुसार नील की भांति क्रांतिकारी विचारों का पक्ष-पोषक भी है। इसलिये यही मानना अधिक उचित होगा कि गोर्की के इस नाटक में पीढ़ियों का नहीं, विचारधाराओं का, जीवन-दृष्टिकोणों का—टुटपुंजिया और क्रान्तिकारी विचारों का टकराव होता है तथा नील ही नाटक का केन्द्र-बिन्दु बना रहता है, यद्यपि अन्य सभी पात्रों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है और उनका अच्छा विकास हुआ है। इस नाटक और विशेषतः नील की भूमिका ने २० वीं शताब्दी के आरम्भ में क्रान्ति की ज़ोर पकड़ती भावनाओं की अभिव्यक्ति दी और सेंसर की काट-छांट के बावजूद दर्शकों पर इसका वही प्रभाव पड़ता था, जो लेखक का अभीष्ट था। मास्को आर्ट थियेटर के प्रसिद्ध अभिनेता निर्देशक-प्रस्तोता स्तानिस्लाव्स्की ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि १९०२ के मार्च महीने में जब मास्को आर्ट थियेटर पीटर्सबर्ग में यह नाटक प्रस्तुत करनेवाला था, तो उसकी बड़ी रिहर्सल में ज़ारशाही सरकार के सभी उच्चाधिकारी उपस्थित थे और थियेटर के बाहर पुलिस तथा घुड़सवार फ़ौजी पुलिसवालों का घेरा था। "ऐसा प्रतीत होता था कि बड़ी रिहर्सल की नहीं, बल्कि बड़ी लड़ाई की तैयारी हो रही थी।"

यदि पहले ही नाटक ने गोर्की को सफल नाटककार सिद्ध कर दिया, तो उनके दूसरे नाटक ने (जो हिन्दी-उर्दू में 'तलछट' या 'रसातल' अथवा 'नीचा नगर' के नाम से जाना जाता है) उनकी ख्याति को चार चांद लगा दिये। इस नाटक को उन्होंने १५ जून १९०२ को पूरा किया, इसका पहला प्रकाशन म्यूनिख़ में हुआ, पीटर्सबर्ग में १९०३ में छपा और इस संस्करण की चालीस हज़ार प्रतियां दो सप्ताह में बिकीं तथा १९०३ के अन्त तक ७५ हज़ार प्रतियां बिक चुकी थीं। उस समय तक सम्भवतः किसी साहित्यिक रचना की ऐसी बिक्री नहीं हुई थी। सेंसर की बड़ी बाधाओं, बड़े परिवर्तनों के बाद मास्को आर्ट थियेटर ने दिसम्बर १९०२ में इसे रंगमंच पर पेश किया और स्तानिस्लाव्स्की के शब्दों में "नाटक को चकित कर देनेवाली सफलता मिली। दर्शकगण निर्देशकों, कलाकारों और... स्वयं गोर्की को बार-बार मंच पर बुलाते रहे।" गोर्की का यह नाटक संसार की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है, दुनिया के अनेक थियेटरों में

खेला जा चुका है और इसके अन्तर्निहित विचारों पर अभी तक वाद-विवाद होते रहते हैं। भला क्यों?

इस बात पर कई बार ज़ोर दिया जा चुका है कि गोर्की सोद्देश्य साहित्य की रचना में विश्वास रखते थे। "क्यों और किसके लिये मैं सृजन करता हूं?"—यह प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी में चेख़ोव के सामने भी आया था और बाद में गोर्की ने भी 'एक पाठक' कहानी में इसपर गहन चिन्तन किया। अपने पहले नाटक में समाज को बदलने की शक्ति रखनेवाले मज़दूर वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में नील को पाठकों-दर्शकों के सामने प्रस्तुत करने के बाद दूसरे नाटक में उन्होंने उस जीवन-दर्शन पर चोट की, जो क्रान्ति के मार्ग में आड़े आ रहा था, लोगों को चुप-चाप सब कुछ सहते जाने, परिस्थितियों का प्रतिरोध न करने और झूठी तसल्लियां देने का उपदेश दे रहा था। स्वयं गोर्की ने इस नाटक के सार के बारे में १६०३ में एक समाचारपत्र के साक्षात्कार में कहा था: "मैं मुख्य प्रश्न यह प्रस्तुत करना चाहता था कि सचाई बेहतर है या दया अथवा सहानुभूति? किसकी अधिक आवश्यकता है? क्या दया को उस हद तक ले जाया जा सकता है कि लुका की भांति झूठ का उपयोग किया जाये?" इस नाटक का सारा दार्शनिक ड्रामा जगह-जगह घूमने और लोगों को झूठी तसल्ली देकर जीवन को ज्यों का त्यों स्वीकार करने, शिकवा-शिकायत न करने की शिक्षा देनेवाले बूढ़े लुका के साथ ही जुड़ा हुआ है। इस नाटक के अधिकांश अन्य पात्र गोर्की के वही अन्यायपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के शिकार, उपेक्षित और जीवन के तल में पहुंचे हुए लोग हैं, जिन से हम उनकी कहानियों में परिचित हो चुके हैं। ये सभी लोग, जिनमें कोई चोर है, कोई बेरोज़गार मिस्तरी और भूख से मरती उसकी बीवी है, कोई वेश्या है, कोई बेकार अभिनेता है आदि। ये सभी लोग एक तरह की सस्ती सराय में रहते हैं और उन्हीं के दुख-दर्दों की अलग-अलग कहानियों का सूत्रबद्ध रूप यह नाटक है। बूढ़ा उपदेशक सभी को तसल्ली देता है और इस तरह के वाक्यों से—"तुम आशा रखो!", "तुम भरोसा रखो!" सबको शान्त करता रहता है और उन्हें जीवन की वास्तविकता, उसके कटु सत्य से दूर करते हुए झूठी आशाओं और झूठे सपनों के सहारे जीवन बिताते रहने का उपदेश देता है। वह कहता है: "हमेशा सच ही तो आत्मा के लिये उपचार नहीं होता। क्षमा करना सीखो!" उसके इस झूठी तसल्ली और उदारता के उपदेश से सभी को राहत नहीं मिलती। उदाहरण के लिये वह मौत की

दहलीज़ पर खड़ी आन्ना से कहता है: "तुम ख़ुशी से, चैन से मरो।" उसका तर्क यह है कि तुम कष्ट से मुक्त हो जाओगी और दूसरी दुनिया में ऐसी यातनाएं नहीं हैं। तब आन्ना कहती है: "कुछ और जी लूं... जब उस दुनिया में यातना नहीं है, तो यहां इसे सहन किया जा सकता है... किया जा सकता है।" लुका के दर्शन और उपदेश का सातिन तब पूरी तरह से भंडाफोड़ करता है, जब वह कहता है: "वह झूठ बोलता था... मगर हम लोगों पर तरस खाते हुए... तसल्ली देनेवाला, शान्ति देनेवाला... झूठ लोगों को सिखाता है कि अपने हाल में मस्त रहो... आदमी भूखा मर रहा है और लो झूठ ने भूख के लिये उसी को अपराधी ठहरा दिया... मैं ख़ूब जानता हूं झूठ क्या है! झूठ की ज़रूरत उनको है जो दिल के कमज़ोर हैं या दूसरों के सहारे जीते हैं। कुछ लोगों को झूठ सहारा देता है, कुछ उसकी ओट में अपने को बचाते हैं... किन्तु जो स्वयं अपना स्वामी है, दूसरों के सहारे नहीं जीता, दूसरों का ख़ून नहीं चूसता—उसे क्या ज़रूरत है झूठ की? झूठ धर्म है स्वामियों और दासों का... सच भगवान है स्वतन्त्र व्यक्ति का..." यही सातिन आगे चलकर कहता है: "इन्सान... कितना शानदार है इन्सान... कितनी गर्वीली गूंज है इस शब्द में। इन्सान का आदर करना चाहिये, उसपर तरस नहीं खाना चाहिये... तरस तो अपमान है इन्सान का... इन्सान का आदर करना चाहिये।" किन्तु लुका का चरित्र-चित्रण इतना जटिल और उलझा हुआ है कि उसके शब्दों-वाक्यों, सूक्तियों और उपदेशों के बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये गये और अब भी लगाये जाते हैं। इसीलिये इस नाटक के अत्यधिक सफल प्रथम प्रदर्शन के बाद बहुत-से टीकाकारों और समालोचकों ने लुका के शब्दों को गोर्की के विचार मानते हुए नाटक की अत्यधिक प्रशंसा की और गोर्की को भारी मन से प्यात्नित्स्की को यह लिखना पड़ा: "न तो लोग और न टिप्पणीकार ही नाटक का भाव समझ पाये। प्रशंसा करते हैं—प्रशंसा करते हैं, मगर समझना नहीं चाहते..." कहना न होगा कि इस नाटक में गोर्की ने सहानुभूति के झूठे मानवतावाद और सच्चे, सक्रिय मानवतावाद—इन्सान की इज़्ज़त, उसकी क्षमता, उसकी संघर्ष-पिपासा और शोषण से मुक्ति पाने के दृढ़ प्रयत्नों पर आधारित सच्चे मानवतावाद का प्रश्न उठाया है और अप्रत्यक्ष रूप से क्षमा, उदारता, सभी से प्रेम करने, सहनशीलता और बुराई का प्रतिरोध न करने के तोलस्तोयवादी दर्शन का प्रतिवाद किया

है। यह संकेत कर देना भी उचित होगा कि दार्शनिक महत्त्व की इस समस्या पर ही ध्यान केन्द्रित करने के बावजूद गोर्की ने रूस की तत्कालीन परिस्थितियों – अकाल, भूख, आर्थिक संकट और बेरोज़गारी – की समस्याओं पर भी अपने पात्रों से जहां-तहां टिप्पणियां करवाई हैं। इस नाटक के दार्शनिक और सामान्य जीवन से सम्बन्धित दर्शकों-पाठकों पर पड़नेवाले "हानिकारक प्रभाव" की ज़ारशाही को पूरी चेतना थी, किन्तु देश में अधिकाधिक उभरती और सशक्त होती हुई क्रान्तिकारी लहर के कारण वह इसपर प्रतिबन्ध नहीं लगा पायी।

१८ अक्तूबर १९०१ को प्यात्नित्स्की को लिखे गये एक पत्र में गोर्की ने लिखा था कि उन्होंने चार नाटकों की नाटक-माला लिखने की कल्पना की है और इनमें से प्रत्येक रूसी समाज की एक श्रेणी या तबक़े को समर्पित होगा। "इनमें से एक बुद्धिजीवियों के जीवन-ढंग पर होगा। ढेर सारे आदर्शहीन लोग और अचानक! – उनमें से एक आदर्श लिये हुए! क्रोध, झल्लाहट, चीख़-चिल्लाहट, हल्ला-गुल्ला!" तो निम्न मध्य वर्ग या टुटपुंजिया प्रवृत्ति वाले लोगों पर 'करवट' (उर्दू में 'ढहती दीवारें' या 'फ़िलस्तीन') और तल में जा चुके लोगों पर 'तलछट' या 'रसातल' (उर्दू में 'पाताल में') नाटक लिखने के बाद गोर्की ने ऐसे बुद्धिजीवियों पर एक नाटक लिखा, जिनके सामने कोई आदर्श नहीं था, जो दूसरों के दुख-दर्द की चिन्ता नहीं करते थे, केवल अपने में मस्त और सुखी थे, साहित्य और कला को बौद्धिक विलास के रूप में देखते थे, शुद्ध कला या "कला कला के लिए" जैसे सिद्धान्त के उपासक थे। यह नाटक था 'बंगलेवाले'। इसके पात्रों में सभी तरह के बुद्धिजीवी – वकील बासोव, इंजीनियर सूस्लोव, डाक्टर मरीया ल्वोव्ना, कवि शालीमोव आदि शामिल हैं। नाटक की घटनाएं ग्रीष्मकालीन उपनगरीय बंगलों और उनके आस-पास के जंगलों आदि में घटती हैं। गोर्की इन लोगों के लक्ष्यहीन जीवन, अपने तक सीमित उनकी रुचियों, मानसिक संकीर्णता आदि को घटनाओं और वार्तालापों द्वारा उभारते हैं और नाटक अपने चरम-बिन्दु पर तब पहुंचता है, जब कवि शालीमोव, कवयित्री कालेरिया और व्लास का साहित्यिक टकराव होता है और अन्य बुद्धिजीवियों के साथ-साथ आदर्श या लक्ष्यहीन साहित्यकारों के मानसिक खोखलेपन का पर्दाफ़ाश हो जाता है। इस तरह १९०४ में प्रकाशित इस नाटक में बुद्धिजीवियों के ऐसे दो शिविरों को एक-दूसरे के सामने पेश किया गया है, जिनमें से एक अपने सुख और स्वार्थ के लिये जीता है, देश और सामान्य जनता के भाग्य से नाता तोड़ चुका है, अपने

थे, १६०५ की पहली रूसी क्रान्ति में सक्रिय भाग ले चुके थे और यह जान चुके थे कि कौन-सी शक्ति है, जो रूस को राजतन्त्र और पूंजीवादी जुए से मुक्ति दिला सकती है। यह शक्ति थी – सर्वहारा, संगठित मज़दूर वर्ग, जिसके एक सजग प्रतिनिधि को वह नील के रूप में अपने पहले नाटक में पाठकों और दर्शकों के सामने ला चुके थे – 'दुश्मन' नाटक में गोर्की ने कारख़ानेदारों और मज़दूरों के बीच सीधा टकराव दिखाया है – कारख़ाने का हिस्सेदार-डायरेक्टर मिख़ाईल बड़ा बददिमाग़ आदमी है, मज़दूरों को इन्सान ही नहीं समझता और मनमानी करना चाहता है, उनकी उचित मांगों की परवाह न करके उन्हें झुकाने के लिये कारख़ाना बन्द करना चाहता है, ग़ुस्से से किसी मज़दूर के पेट में लात मार देता है, उन्हें पिस्तौल दिखाकर डराता-धमकाता है और तब कोई मज़दूर गोली मारकर उसकी हत्या कर देता है। जब जांच होती है, तो एक निर्दोष मज़दूर यह अपराध अपने ऊपर लेने की कोशिश करता है ताकि बड़े ध्येय के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण लोग मुसीबत में न फंसें और नाटक की एक पात्र तत्याना मानो भविष्य की घोषणा करती है: "आख़िर जीत इन्हीं लोगों (यानी मज़दूरों) की होगी।" मोटे तौर पर यही कथानक है नाटक का, किन्तु इसकी तफ़सीलें ही वास्तविक अर्थ छिपाये हुए हैं। कारख़ाने के हिस्सेदार हैं ज़ख़ार बार्दिन और उसका भाई याकोव बार्दिन, जो उदार-बूर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि हैं और अपने को दयालु क़िस्म के मालिक ज़ाहिर करते हैं। याकोव बार्दिन तो वैसे ही शराब में डूबा हुआ ढुलमुल-सा पात्र है। इनका हिस्सेदार मिख़ाईल स्क्रोबोतोव, जो कारख़ाने का डायरेक्टर भी है, पूंजीपति वर्ग का ठेठ प्रतिनिधि और स्पष्ट प्रतिक्रियावादी व्यक्ति है। वह खुलकर अपने हितों की बात करता है और उनकी रक्षा करने के लिये छाती ठोंककर सामने आता है, जबकि ज़ख़ार बार्दिन उदारता और दयालुता का नक़ाब ओढ़े रहता है। वह न केवल परायों की आंखों में धूल झोंकता है, बल्कि उसकी अपनी भानजी, अठारह साल की युवती भी अपने मौसा को दयालु व्यक्ति समझती है। किन्तु जब वर्गों के हित टकराते हैं, तो ज़ख़ार बार्दिन भी मज़दूरों को कुचलने के लिये फ़ौजी पुलिस बुलवाने और सत्ता की सहायता लेने में ज़रा आनाकानी नहीं करता। गोर्की का असली प्रहार तो उदारता और भलमनसाहत का मुखौटा चढ़ाये हुए ऐसे पूंजीपतियों पर है। उनके मामले में अधिक सतर्कता की ज़रूरत है। ज़ाहिर है कि सेंसर ने इस नाटक को मंचित करने की अनुमति नहीं दी और अपनी रिपोर्ट में लिखा: "इन

दृश्यों में (गोर्की ने नाटक की जगह दृश्य शब्द ही लिखा था) मज़दूरों और मालिकों की पक्की दुश्मनी को बड़े प्रखर रूप में दिखाया गया है... उल्लेखनीय है कि एक पात्र के मुंह से यह कहलवाया गया है: 'इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि मालिक कैसा भी क्यों न हो, मज़दूरों के प्रति उसका दुश्मन होने के लिये उसका 'मालिक' होना ही काफ़ी है।'" मानना होगा कि सेंसर वालों ने उदार ज़ख़ार बार्दिन और कठोर मिख़ाईल के चरित्रों के अन्तर के बावजूद उनकी हित-समानता की ओर गोर्की के संकेत को समझने में भूल नहीं की।

गोर्की ने जब 'दुश्मन' नाटक लिखा, तो उनके जीवन में यह ऐसा समय था, जब १९०५ के दिसम्बर महीने की पहली रूसी क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने के कारण उनके गिरफ़्तार कर लिये जाने की बड़ी सम्भावना थी और इसलिये बोल्शेविक पार्टी के निर्णयानुसार वह १९०६ के फ़रवरी महीने में विदेश चले गये और इस यात्रा का उद्देश्य उन्हें केवल ज़ारशाही के पंजे से बचाना ही नहीं, बल्कि ज़ारशाही के विरुद्ध यूरोप के देशों में यह प्रचार करना भी था कि वे ज़ारशाही को ऋण आदि की आर्थिक सुविधायें न दें, क्योंकि उनका रूस के जनवादी आन्दोलन को कुचलने के लिये ही इस्तेमाल किया जाता है। स्वीडन और डेन्मार्क होते हुए गोर्की जर्मनी और फ़्रांस तथा स्विटज़रलैंड और फिर संयुक्त राज्य अमरीका गये। इस एक वर्ष में उन्होंने लिखा भी बहुत कुछ। 'स्वर्ण-पिशाच' नाम से अमरीका और 'सुन्दर फ़्रांस' शीर्षक से फ़्रांस पर व्यंग्यपूर्ण शब्दचित्र तथा अन्य कई लेख और 'दुश्मन' नाटक लिखने के अलावा 'मां' नामक वह उपन्यास भी लिखा, जो दुनिया के लगभग हर कोने में पहुंच चुका है, दुनिया की अनेक भाषाओं में जिसका अनुवाद हो चुका है, जिसे लाखों-करोड़ों लोगों ने पढ़ा है, जिससे उन्होंने प्रेरणा ली है और ले रहे हैं और जिसके बारे में अतिशयोक्ति के बिना सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि किसी साहित्यिक रचना ने लोगों के भाग्य पर 'मां' जितना प्रभाव नहीं डाला होगा। इतनी प्रबल गूंज और ऐसे सशक्त प्रभाव वाली यह रचना १९०६ की गर्मियों में संयुक्त राज्य अमरीका में लिखी गयी, यद्यपि गोर्की ने १९०५ की पहली रूसी क्रांति के पहले ही इसे लिखने की तैयारी आरम्भ कर दी थी। देस्नीत्स्की के नाम लिखे गये एक पत्र में गोर्की ने यह कहा है: "मज़दूरों के बारे में एक किताब लिखने का विचार सोर्मोवो के प्रदर्शन के बाद नीज्नी में ही मेरे दिमाग़ में आया था। मैंने तभी इसके लिये सामग्री

जुटाना और विभिन्न टिप्पणियां लिखना आरम्भ कर दिया था। साव्वा मोरोज़ोव ने (ज़ारशाही रूस का एक बड़ा कारख़ानेदार और गोर्की का मित्र) मुझे उसके नाम भेजे गये मज़दूरों के कोई बीसेक बड़े दिलचस्प पत्र दिये और कारख़ाने के जीवन के बारे में अपने निरीक्षणों के आधार पर बहुत-सी दिलचस्प बातें बतायीं... मेरे द्वारा संचित सामग्री ६ जनवरी १६०५ (ख़ूनी इतवार की इस घटना के गोर्की साक्षी रहे थे और उन्होंने खुलकर इसकी भर्त्सना की थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें पेत्रोपाव्लोव्स्क क़िले में बन्द कर दिया गया था) के बाद कहीं खो गयी, शायद फ़ौजी पुलिस-वालों ने वापस नहीं की... सामग्री के बिना, 'याददाश्त के अनुसार' १६०५ की गर्मियों में मैंने अमरीका में 'मां' को लिखा।"

गोर्की की अनेक अन्य रचनाओं की भांति 'मां' के पात्र और घटनायें वास्तविक जीवन से सम्बन्धित हैं, बहुत हद तक दस्तावेज़ी हैं। ऊपर उद्धृत गोर्की के पत्र में सोर्मोवो बस्ती के प्रदर्शन का उल्लेख है, जिसने उन्हें यह पुस्तक लिखने को प्रेरित किया। सोर्मोवो के मज़दूरों का यह प्रदर्शन १६०२ में हुआ था और तब गोर्की नीज्नी नोव्गोरोद में रहते थे और उन्होंने मज़दूरों के क्रान्तिकारी आन्दोलन की ये घटनायें अपनी आंखों से देखी थीं। सोर्मोवो बस्ती के मज़दूरों के जीवन को गोर्की भली भांति जानते थे, प्योत्र ज़ालोमोव और उसकी मां आन्ना किरीलोव्ना (उपन्यास के मुख्य पात्र पावेल व्लासोव और नायिका, उसकी मां निलोव्ना के मूल रूपों) से अच्छी तरह परिचित थे। प्योत्र ज़ालोमोव मज़दूरों के उस जुलूस में झण्डा लिये हुए सबसे आगे चल रहा था। झण्डे पर लिखा था – "राज-तंत्र मुर्दाबाद! राजनीतिक स्वतंत्रता ज़िन्दाबाद!" दस्तावेज़ी सामग्री को इतनी श्रेष्ठ कलाकृति का रूप देने का काम गोर्की जैसा महान लेखक ही कर सकता था। कुछ विद्वानों का कहना है कि अगर गोर्की ने केवल 'मां' उपन्यास ही लिखा होता, तो भी उनका नाम अमर लेखकों की गिनती में रहता। यह सही है। ठीक इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि अगर उन्होंने अपनी रोमानी और यथार्थवादी कहानियां ही लिखी होतीं, तो वह अमर कहानीकार रहते और 'करवट' ('ढहती दीवारें'), 'तल-छट' या 'रसातल' ('पाताल में'), 'बंगलेवाले', 'दुश्मन', 'येगोर बुलिचोव तथा अन्य', 'दोस्तिगायेव तथा अन्य' और 'वास्सा जेलेज़्नोवा' नाटक ही लिखे होते, तो महान नाटककारों में उनकी जगह बनी रहती। फिर भी यह मानना होगा कि 'मां' का अपना एक अलग स्थान है। किस-

लिये है उसका अलग स्थान? उसकी क्रांतिकारी गूंज के लिये? मज़दूरों के उस ठोस शक्ति के रूप में सामने आने के कारण, जो दूसरों के दया-पात्र न रहकर स्वयं समाज का पुनर्निर्माण कर सकते हैं? इसलिये कि इसमें सक्रिय और क्रांतिकारी मानवतावाद का स्पष्ट रूप उभरा है? इस-लिये कि इसने विश्व-साहित्य को एक नई दिशा दी, एक नये युग—समाज-वादी यथार्थवादी युग—की नींव रखी? इन सब बातों के लिये, और इस बात के लिये भी कि इसने बड़े सहज, स्वाभाविक ढंग से यह स्पष्ट किया कि कोई महान लक्ष्य या आदर्श—जब वह समझ में आ जाता है—तो बहुत साधारण, बहुत मामूली, बिल्कुल पिछड़े और दबे-घुटे लोगों में भी ऐसा विश्वास, ऐसी आस्था पैदा कर देता है कि वे बड़े से बड़े ख़तरों, यहां तक कि मौत का भी मुंह चिढ़ा सकते हैं, बड़ी से बड़ी बाधा से भी टक्कर ले सकते हैं। मां की कहानी ध्येय की न्यायपरता पर आधारित विश्वास और आस्था की उस ज्वाला की कहानी है, जिसमें तपकर नि-लोव्ना कुन्दन बनती है, दबी-घुटी, अपढ़ और धर्म-भीरु अधेड़ उम्र की नारी एक ओजपूर्ण संघर्षकर्त्री, एक सच्ची नायिका बन जाती है, सभी तरह के डर, दुविधा और पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाती है। आत्मा का यही पुनर्जन्म, मानव का यही पुनरुत्थान इस उपन्यास की आधारशिला है और उपन्यास के लगभग अन्त में पुलिसवालों के अत्याचारों के जवाब में निलो-व्ना के दृढ़तापूर्वक कहे जानेवाले इन शब्दों—"पुनर्जीवित आत्मा को तो नहीं मार सकोगे!"—में ही इसका सार निहित है। इस तथ्य को समझ लेने पर मन में ये प्रश्न नहीं उठते कि क्यों गोर्की ने पावेल को उपन्यास का हीरो नहीं बनाया, क्यों उन्होंने इसका शीर्षक 'मां' रखा, क्यों कार-ख़ाने के जीवन की विस्तृत चर्चा करने की आवश्यकता नहीं समझी आदि, आदि। उपन्यास में समाजवादी विचारों, मज़दूरों के संघर्ष, सर्वहारा, देहात के ग़रीब किसानों और सजग बुद्धिजीवियों की एकजुटता, उनके साझे मोर्चे आदि के प्रश्नों पर भी बड़ी रोशनी पड़ती है और गोर्की ने कितने अच्छे ढंग से मज़दूरों का पक्ष-पोषण किया है, इसके लिये न्यायालय का दृश्य और पावेल व्लासोव के इन शब्दों को ही ध्यान में रखना पर्याप्त है—"हम समाजवादी हैं। इसका मतलब है कि हम वैयक्तिक सम्पत्ति के ख़िलाफ़ हैं, वैयक्तिक सम्पत्ति की पद्धति समाज को छिन्न-भिन्न कर देती है, लोगों को एक-दूसरे का दुश्मन बना देती है, लोगों के परस्पर हितों में एक ऐसा द्वेष पैदा कर देती है जिसे मिटाया नहीं जा सकता,

इस द्वेष को छिपाने या न्यायसंगत ठहराने के लिये वह झूठ का सहारा लेती है और झूठ, मक्कारी और घृणा से हर आदमी की आत्मा को दूषित कर देती है!" पावेल की अनपढ़ और भोली-भाली मां ने जब इस सत्य को समझ लिया, तो उसकी आत्मा में एक नया आलोक प्रकट हुआ, उसे वह शक्ति मिली, जो सब तूफ़ानों से पंजा लड़ा सकती थी। लेनिन ने बहुत उचित ही यह राय प्रकट की थी: "बहुत-से मज़दूर क्रान्तिकारी आन्दोलन में चेतना के बिना, स्वतःस्फूर्त ढंग से हिस्सा लेते थे और अब 'मां' पढ़कर उन्हें बहुत लाभ होगा"। दूसरे शब्दों में उन्हें ध्येय या लक्ष्य और उसकी न्यायपरता स्पष्ट हो जायेगी, संघर्ष के लिये आत्मिक बल मिलेगा, वे आस्था के बल पर 'मां' की तरह निडर होकर संघर्ष में भाग लेंगे।

गोर्की ऐसे महान लेखकों में से थे (प्रसंगवश प्रेमचन्द के बारे में भी यही कहा जा सकता है) जो बड़ा श्रम करते थे और अपने जीवन के अन्तिम समय तक लिखते रहे। 'मां' के बाद के लगभग तीस वर्ष के जीवन में गोर्की ने बहुत-सी कहानियां, आत्म-कथात्मक तीन उपन्यास, कई नाटक, शब्दचित्र और बड़े विशद चित्रपट वाले 'अर्तामोनोव परिवार' (हिन्दी में 'टूटती कड़ियां') और 'क्लिम समगीन की ज़िन्दगी' जैसे उपन्यास लिखे। हम इन रचनाओं में से कुछेक का संक्षिप्त विवेचन करते हुए इसी बात पर ज़ोर देना चाहेंगे कि गोर्की ने साहित्य के जिस उद्देश्य को सामने रखकर सृजन आरम्भ किया, वह उस उद्देश्य – यानी साहित्य अपने कलात्मक गुणों को सुरक्षित रखते हुए जीवन को बदलने, उसे बेहतर बनाने का साधन होना चाहिये – के प्रति आजीवन निष्ठावान रहे। 'मां' तक का उनका सारा कृतित्व, जिसकी चर्चा हो चुकी है, इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है।

'मां' के बाद के गोर्की-साहित्य में कुछ प्रमुख रचनायें तो ऐसी हैं, जिनमें 'मां' का मुख्य विचार अर्थात मानव आत्मा का विकास, उसका पुनरुत्थान या पुनर्जन्म को ही नये कलात्मक सांचों में ढालकर आगे बढ़ाया गया है। 'इटली की कहानियां', उनके आत्म-कथात्मक उपन्यास 'मेरा बचपन', 'जीवन की राहों पर' और 'मेरे विश्वविद्यालय' तथा 'रूस के आर-पार' की कहानियां इसी शृंखला की कड़ियां मानी जा सकती हैं। 'इटली की कहानियां' में जहां इटली के प्राकृतिक दृश्यों, वहां के रीति-रिवाजों के साथ-साथ साधारण लोगों के दैनंदिन जीवन, उनकी चिन्ताओं-समस्याओं और संघर्षों की झांकी मिलती है, वहां कुछ पुरानी कथायें भी हैं, जिनमें 'माता' और 'देशद्रोही की मां' तो मां का काव्यमय स्तुति-

गान ही हैं। 'माता' कहानी का पहला वाक्य ही यह है–"नारी की, माता की, सर्वविजयी जीवन के उस अक्षय स्रोत की स्तुति में हम अपनी आवाज़ें बुलन्द करें"। इसी तरह 'देशद्रोही की मां' कहानी का पहला वाक्य है–"माताओं की गौरव-गाथा अनन्त है!"। यह कहानी भी बड़ी मर्मस्पर्शी है। इसमें एक मां अपने इकलौते बेटे की इसलिये हत्या करती है कि वह देशद्रोही हो गया था। कहानी का अन्त इस तरह होता है–"माता ने पुत्र को अपने काले लबादे से ढंक दिया, उसके हृदय में छुरा भोंक दिया और बेटे ने थर्राहट के साथ आख़िरी सांस ली। हां, माता से अधिक अच्छी तरह उसके हृदय की गति को कौन जान सकता था? आश्चर्यचकित सिपाहियों के पैरों के पास पुत्र के शव को लुढ़काकर उसने अपने नगर की ओर संकेत करते हुए कहा: 'एक नागरिक के नाते मैंने अपने देश के लिये वह सब कुछ कर दिया जो मैं कर सकती थी और माता के नाते मैं हूं अपने पुत्र के साथ।' और यह कहकर उसने अपने पुत्र के ख़ून से, ख़ुद अपने ही ख़ून से लथपथ वह गरम छुरा ज़ोर से अपनी छाती में भोंक लिया–इस बार भी उसने ठीक निशाना साधा–क्योंकि टीसते दिल को ढूंढ़ना मुश्किल नहीं होता।"

पावेल की मां का पुनर्जन्म हुआ बेटे के साथ संघर्ष में भाग लेकर और देशद्रोही की मां की आत्मा में चेतना आयी, उसकी कर्त्तव्य-भावना जागी बेटे के कुमार्ग पर चलने से। दोनों का आत्म-बलिदान स्तुत्य है।

अपनी आत्मकथात्मक त्रयी लिखने के लिए लेनिन ने ही गोर्की को प्रेरित किया था। गोर्की जब इटली के काप्री द्वीप में रह रहे थे, तो लेनिन उनके पास कुछ दिन रहे थे। तभी गोर्की ने उन्हें अपने जीवन के कुछ संस्मरण सुनाये, जिन्हें सुनकर लेनिन ने कहा: "बन्धु, तुम्हें यह सब कुछ लिखना चाहिये। यह सब तो अद्भुत रूप से शिक्षाप्रद है। अद्भुत रूप से।" और फिर इतना और जोड़ दिया: "'मां' जैसी ही कोई चीज़।" 'मां' और इन आत्मकथात्मक उपन्यासों की आत्मा एक ही है, इनमें एक ही तार–मानव-आत्मा के विकास (अलेक्सेई पेशकोव के रूप में), एक नये मानव और उसकी धीरे-धीरे बढ़ती चेतना का तार झनझनाता सुनाई देता है। अन्तर है तो केवल इतना कि 'मां' उपन्यास भविष्योन्मुख है, जबकि ये तीनों उपन्यास अतीत की कहानी कहते हुए भविष्य की ओर हल्का-सा संकेत करते हैं। किन्तु अतीत को जाने-समझे बिना क्या भविष्य की कल्पना की जा सकती है? अक्तूबर क्रान्ति के पहले के रूस का समूचा

जीवन एक चलचित्र की तरह हमारे सामने आ जाता है। उसमें प्रकाश की किरणें भी हैं और अंधेरे तथा कालिमा के बड़े-बड़े धब्बे भी। इन्हीं विरोधी शक्तियों के घात-प्रतिघात में मानवीय आत्मा का विकास और परिष्कार होता है। इतने दमघोट जीवन की सारी व्यथायें-यातनायें सहने, कभी-कभी आत्महत्या की सीमा तक निराश होने के बावजूद अलेक्सेई पेशकोव में जीवन को बदलने, उसे बेहतर बना पाने का विश्वास बना रहा, यही इन आत्मकथात्मक तीनों उपन्यासों का निचोड़ है। इन उपन्यासों का नायक मानव-द्वेषी और सारे जीवन को ही भेड़ियों का जीवन माननेवाला हिंसक और सबसे घृणा रखनेवाला व्यक्ति न बनकर मानवता, सच्ची मानवीयता का ध्वजधारी बना, उसने सामाजिक विकास के नियमों को समझा, ऐसी शक्तियों का जीवन भर विरोध किया, जो आम लोगों के जीवन को बेहतर बनाने में बाधक होती थीं और उसने जीवन की वस्तुगत परिस्थितियों को बदलकर जीवन को नया रूप देने में बड़ा योग दिया। गोर्की की आत्मकथात्मक त्रयी का यही सार और यही सन्देश है।

'रूस के आर-पार' कथा-माला के अन्तर्गत भी मुख्यत: ऐसी कहानियां ही आती हैं, जिनका सम्बन्ध गोर्की के जीवन के उस समय से है, जब वह रूस के अन्य हज़ारों बेकार और भूखे लोगों की तरह जहां-तहां भटकते हुए थोड़ा-बहुत काम करके अपना पेट भर लेते थे तथा देश के विभिन्न भागों में घूमते हुए तरह-तरह के अनुभव जुटाते रहे थे। इन कहानियों में से एक का उल्लेख यहां आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहानी है 'इन्सान पैदा हुआ'। इसमें गोर्की ने उस सच्ची घटना का वर्णन किया है, जो १८९२ के अन्त में घटी, जब वह काकेशिया के पर्वतों में सुख़ूम-नोवोरोस्सीय्स्क राजमार्ग के निर्माण-स्थल पर मज़दूर के रूप में काम कर रहे थे। तब वहां एक औरत को बच्चा हुआ और चूंकि आस-पास और कोई नहीं था, इसलिये गोर्की ने ही वह बच्चा जनवाया। जब सब कुछ ढंग से हो गया तो बच्चे को जन्म देनेवाली मां अपने सूजे हुए होंठों से शहद चाटते तथा अपनी नीली आंखों को बराबर उस झाड़ी की तरफ़ घुमाते, जहां वह नवजात शिशु शान्तिपूर्वक सो रहा था और फिर गोर्की की ओर देखते हुए गहरी सांस लेकर बोली: "वह कैसे ज़िन्दा रहेगा? तुमने मेरी मदद की, इसके लिये मैं तुम्हें धन्यवाद देती हूं... परन्तु यह इसके लिये अच्छा भी रहेगा या नहीं... मैं नहीं जानती।"

शिशु को जन्म देनेवाली मां की पहली चिन्ता यह थी कि उसके बच्चे

का जीवन कैसे बीतेगा। गोर्की लिखते हैं: "रूस का नया निवासी, ऐसा मानव जिसका भाग्य अज्ञात था, गहरी सांस लेता हुआ मेरे हाथों पर लेटा था।" शिशु की मां के ये शब्द मातृ-स्नेह और एक साधारण व्यक्ति के जीवन की विवशता और उसकी आन्तरिक कामना को कितनी अच्छी तरह व्यक्त करते हैं: "भगवान! मेरे अच्छे भगवान! वह कितना अच्छा है! कितना अच्छा! ओह, अगर मैं इसी तरह चलती रहती, सदैव, दुनिया के अन्तिम छोर तक और वह, मेरा नन्हा बच्चा बड़ा होता जाता, आज़ादी से बढ़ता रहता, अपनी मां की छाती के पास रहकर, मेरा प्यारा नन्हा बच्चा।"

किन्तु तत्कालीन रूस के बच्चों के भाग्य के बारे में कौन-सी मां आश्वस्त हो सकती थी!

गोर्की के जीवन के अन्तिम दशक में विशद चित्रपट पर रची जाने-वाली कृतियों में 'अर्तामोनोव परिवार' और 'क्लिम समगीन की ज़िन्दगी' विशेषतः उल्लेखनीय हैं, यद्यपि इन्हीं वर्षों में उन्होंने 'येगोर बुलिचोव तथा अन्य', 'दोस्तिगायेव तथा अन्य', 'वास्सा जेलेज़्नोवा' नाटक के दूसरे रूप की भी रचना की। इनके पहले 'बूढ़ा' नामक एक दार्शनिक नाटक भी लिखा था, जिसमें गोर्की के ही शब्दों में "मैंने यह दिखाने की कोशिश की कि वह व्यक्ति कितना घृणित है, जो अपने दुख-दर्दों को प्यार करने लगता है और यह मानता है कि उसने जो यातनायें सही हैं, वे उसे दूसरे से बदला लेने का अधिकार देती हैं। यदि कोई ऐसा समझता है कि दुखों और मुसीबतों की आग में झुलसने के कारण उसे अपने को असाधारण व्यक्ति मानने और अपने दुर्भाग्य का दूसरों से बदला लेने का अधिकार प्राप्त हो गया है, तो मेरे मतानुसार ऐसा व्यक्ति आदर का पात्र नहीं रहता। आपको यह बात स्पष्ट हो जायेगी यदि आप किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें, जो इसलिये घरों और नगरों को आग की लपटों में भस्म कर देना चाहता है कि उसे ठण्ड लगती है।" तो गोर्की जीवन के अन्तिम समय तक कहानियों-उपन्यासों के अलावा नाटकों की रचना भी करते रहे। मृत्यु के एक वर्ष पहले यानी १९३५ में गोर्की ने 'वास्सा जेले-ज़्नोवा' को नये रूप में लिखा। क्रान्ति से पहले लिखे गये इस नाटक के नये रूप में गोर्की ने अधिक सूक्ष्मता से रूस में पूंजीवाद के विकास और उसके ह्रास-पतन तथा अन्त को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'वास्सा जेलेज़्नोवा' जो इस नाटक की मुख्य नायिका और केन्द्र-बिन्दु है,

पूंजीपति वर्ग की एक कठोर, काम-काज में दक्ष और चतुर तथा सभी पूंजीपतियों की तरह अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये सभी तरह की चालाकियां, हेरा-फेरियां और तिकड़मबाज़ियां करने में समर्थ महिला है। वही परिवार और उद्यम को अपने ढंग से चलाती है। उसका पति शराबी है, बेटा रोगी है, दोनों बेटियां भी पतनोन्मुख पीढ़ी की प्रतीक हैं और अन्त में वास्सा भी दिल का दौरा पड़ने से मर जाती है–गोर्की ने इस तरह मानो पूंजीवाद के ह्रास और वास्सा की मृत्यु के रूप में उसके अन्त को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी है।

रूस में पूंजीवाद के उद्भव, विकास और नाश की विषय-वस्तु को ही गोर्की ने तीन पीढ़ियोंवाले एक पूंजीपति अर्तामोनोव परिवार की कहानी के आधार पर बड़े उपन्यास का रूप दिया। ऐसा उपन्यास लिखने का विचार, जो कुछ हद तक १८९९ में लिखे गये उनके 'फ़ोमा गोर्देयेव' उपन्यास से कुछ मिलता-जुलता है, १९०० में ही गोर्की के मन में आया था। १९०२ में गोर्की ने अपने इस विचार की लेव तोलस्तोय से चर्चा की। गोर्की ने लिखा है: "मैंने उन्हें (तोलस्तोय को) अपने एक परिचित कारोबारी परिवार की तीन पीढ़ियों की कहानी सुनायी। इस कहानी में ह्रास का नियम विशेष निर्दयता से क्रियाशील था। तब वह उत्तेजित होकर मेरी आस्तीन खींचते हुए मुझसे इसे लिखने का आग्रह करने लगे–

"'यह सब कुछ बिल्कुल सच है! मैं जानता हूं, तूला में ऐसे दो परिवार हैं। इसे लिखना चाहिये। संक्षिप्त रूप से एक बड़ा उपन्यास लिखना चाहिये, समझे न? अवश्य ही!'"

किन्तु यह उपन्यास १९२४-२५ में ही जाकर लिखा गया। १९०८ और १९१० में जब इटली के काप्री द्वीप में लेनिन की गोर्की से भेंट हुई, तब उन्होंने अपने जीवन की गाथा सुनाने के अलावा लेनिन से इस उपन्यास को लिखने की भी बात की। लेनिन ने सुनने के बाद कहा: "बहुत बढ़िया विषय है, ज़ाहिर है कठिन है, मेरे विचार में इसे लिखने में आपको बहुत समय लगेगा, किन्तु यह नज़र नहीं आ रहा कि आप इसे समाप्त कैसे करेंगे। वास्तविकता इसका अन्त तो नहीं दिखाती... नहीं, यह तो क्रान्ति के बाद लिखना चाहिये।"

सो वास्तव में समाजवादी क्रान्ति और रूस में पूंजीवाद के अन्त के बाद ही इस उपन्यास का यथार्थवादी अन्त प्रकट हुआ। उपन्यास का

ताना-बाना परिवार की पहली पीढ़ी के बूढ़े इल्या अर्तामोनोव, दूसरी पीढ़ी के उसके तीन बेटों – प्योत्र, अलेक्सेई (गोद लिया हुआ सगा भानजा) और कुबड़े निकीता तथा तीसरी पीढ़ी के प्रतिनिधियों इल्या, याकोव और येलेना के इर्द-गिर्द बुना गया है। पहली पीढ़ी का बूढ़ा इल्या सामन्ती युग का अवशेष है, उसके विचार और दृष्टिकोण देहाती जीवन के अधिक निकट हैं, उसके बड़े बेटे प्योत्र में भी ऐसे कुछ लक्षण बने रहते हैं, उसमें पूंजीवादी युग की नफ़ासत, धूर्त्तता, व्यवहारकुशलता नहीं है। ये सभी गुण-अवगुण उसके छोटे, फुफेरे भाई अलेक्सेई में हैं और वास्तव में वही कारोबार को चलाता है। वह पूंजीवाद का प्रतिनिधि पात्र है। प्योत्र में एक हीन भाव, कुण्ठा और घुटन पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप वह शराब और वेश्यागमन के पतन-मार्ग की ओर बढ़ता है। तीसरा भाई निकीता, जो कुबड़ा है, पूंजीवादी युग के और भी कम अनुरूप है और दोनों बड़े भाइयों के लालच का शिकार होकर अपने हिस्से की सम्पत्ति त्याग देता है और साधु बनकर मठ में रहने लगता है और वहां भी उसे शान्ति नहीं मिलती। तीसरी पीढ़ी के प्रतिनिधि इल्या और याकोव भी अपने परिवेश से अलग होते, नये मार्ग की ओर बढ़ते या ह्रास की ओर जाते दिखाई देते हैं। प्योत्र का बड़ा बेटा इल्या वैज्ञानिक बनने के सपने देखता है, व्यवसाय के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता और क्रान्तिकारियों का साथ देने लगता है, जबकि उसका बाप उससे कहता है: "कारख़ाने की चिमनियों की ओर देखो... तुम्हारे पूर्वजों ने इसकी नींव डाली थी, अब तुम्हारी बारी है। सीधी-सी बात है। तुम्हें और क्या चाहिये?" किन्तु इस उपदेश का बेटे पर कोई असर नहीं होता। वह रूसी जीवन के उस नये सत्य का प्रतीक है जिसका आरम्भ समाजवादी क्रान्ति के बाद होता है, जबकि उसका छोटा भाई याकोव किसी भी तरह के आदर्श से वंचित आलसी, खाने-पीने और आराम का जीवन बितानेवाला ह्रासोन्मुख अतीत का प्रतिनिधि है। समाजवादी क्रान्ति से अतीत का यह कूड़ा-करकट साफ़ होता है और उस युग का आरम्भ हो जाता है, जिसका भविष्य तीसरी पीढ़ी के क्रान्तिकारी इल्या के साथ जुड़ा हुआ है। इस परिवार के बूढ़े नौकर तीख़ोन को गोर्की ने बड़ी कुशलता और यत्न से रचा है, क्योंकि वह तीनों पीढ़ियों के कार्यकलापों, उनके भले-बुरे कृत्यों, कहना चाहिये कि उनकी आन्तरिक भावनाओं का दर्पण जैसा है।

केन्द्रित कर रहे थे, साहित्य को केवल मनबहलाव या मनोरंजन की चीज़ न रहने दे रहे थे, उसे तिलिस्म और ऐयारी के गोरख-धन्धों से बाहर निकाल रहे थे।

'रूठी रानी' का सम्भवतः १९०७ में प्रकाशन हुआ। प्रेमचन्द के कुछ अध्येताओं के अनुसार यह प्रेमचन्द की अपनी कृति नहीं है और हिन्दी के किसी लेखक का उनके द्वारा किया हुआ उर्दू अनुवाद है। किन्तु इस कथन की कोई पुष्टि नहीं हो पाई है। इसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है और राजपूतों के जीवन से सम्बन्ध रखती है। राजपूतों की आपसी फूट, शत्रुता, राज-दरबारों के षड्यन्त्रों और ऐसे कारणों से देश और राज्य के कमज़ोर होने आदि के पक्षों पर प्रकाश डालने के अलावा यह उपन्यास भी मुख्यतः नारी के भाग्य पर ध्यान केन्द्रित करता है। सामन्ती युग में राजा लोग कई-कई रानियां रखते थे, लम्पट और ऐयाश होते थे, जिसके परिणामस्वरूप जहां राज्य के कार्यों की अवहेलना होती थी, वहां बेचारी पत्नियां यानी रानियां जीवन भर बन्दी-सी बनी रहती थीं, एक ही व्यक्ति से प्यार और शारीरिक-मानसिक सुख की आस लगाये बैठी रहती थीं। जैसलमेर के शासक मानकिरण की बेटी उमादे भी माखाड़ के लम्पट, किन्तु वीर राजा मालदेव की एक ऐसी ही रानी है, जो राजा से इसलिये रूठ जाती है कि वह विवाह के समय ही उसकी सहेली भरेली पर लट्टू हो जाता है। उमादे जीवन भर उससे रूठी ही रहती है और राजा मालदेव के देहान्त के बाद पति के साथ सती हो जाती है। कैसा ज़ोरदार व्यंग्य है यह नारी के भाग्य पर! जीवन में उसे कोई सुख नहीं मिलता, क्योंकि राजा की अनेक अन्य रानियां हैं। इसलिये वह उमादे की उपेक्षा कर सकता है और ऐसा निर्मोही तथा लम्पट पति जब मरता है, तो वह सामन्त युग की भयानक रीति के अनुसार चिता पर ज़िन्दा जलने को बाध्य होती है। फिर भी उमादे में आत्मसम्मान और आत्म-गौरव की भावना बड़ी प्रबल है और वह उसे अन्त तक बनाये रखती है। यह उपन्यास सामन्तवादी युग की अन्य बुराइयों को भी प्रतिबिम्बित करता है।

भारत की राजनीतिक चेतना के इतिहास का यह वह समय था, जब बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में पहली बार स्वराज्य की मांग की गयी थी और "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" यह नारा देश के कोने-कोने में गूंज उठा था। देश के स्वतन्त्रता-संघर्ष में पहली बार

क्रियाशीलता आई थी और इंडियन नेशनल कांग्रेस केवल प्रस्ताव पास करनेवाली संस्था न रहकर संघर्ष के पथ पर बढ़ने लगी थी। सही या ग़लत होते हुए भी अनेक देशभक्तों ने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर ऐसी आतंककारी कार्रवाइयां भी की थीं, जिनसे साम्राज्यवादी अंग्रेज़ सरकार बौखला उठी थी। देशभक्ति के ऐसे प्रबल उभार के समय प्रेमचन्द जैसा सजग लेखक, जो बेशक सरकारी नौकर था और इसलिये अपनी नौकरी और परिवार की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये उसे बेशक ख़तरे का ऐसा रास्ता नहीं अपनाना चाहिये था, समाज-सुधार की समस्याओं तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकता था। साहित्य को देश, जनता और न्याय का पक्ष लेना चाहिये, इसी प्रेरणा ने उन्हें कहानियां, सो भी नये ढंग की कहानियां लिखने को प्रेरित किया और वह उपन्यासकार के साथ-साथ कहानीकार के रूप में सामने आये। इस तरह 'सोज़े वतन' शीर्षक से पांच कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। रोमानी रंग में लिखी गयी इन कहानियों का एकमात्र उद्देश्य लोगों में देशभक्ति की भावना जगाना और उसे तीव्र करना था। क़िस्से के अन्दाज़ में कही गयी ये कहानियां पाठक के मन पर वांछित प्रभाव छोड़ती हैं। उदाहरण के लिये 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' कहानी का यह अन्तिम वाक्य "ख़ून की वह आख़िरी बूंद जो देश की आज़ादी के लिये गिरे, वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है" पाठक के मन को झकझोर देता है, उसके मन में हीरे-मोती और रतन का अर्थ ही दूसरा हो जाता है। या फिर 'शेख़ मख़मर' कहानी के बाहरी कलेवर के भीतर आत्मा की जो पुकार है, उसे अनुभव किये बिना या समझे बिना कोई नहीं रह सकता। कहानी एक विजेता और विजित राजा की है। स्पष्ट है कि विजेता अंग्रेज़ और विजित भारतीय हैं। किन्तु हारनेवाला राजा अपने बेटे को जब यह वसीयत करता है कि "यह मुल्क तुम्हारा है, यह ताज तुम्हारा है, यह रियाया तुम्हारी है। तुम इन्हें अपने क़ब्ज़े में लाने की मरते दम तक कोशिश करते रहना और अगर तुम्हारी तमाम कोशिशें नाकाम हो जायें और तुम्हें भी यही बेसरोसामानी (ख़स्ताहाली) की मौत नसीब हो, तो यही वसीयत तुम अपने बेटे से कर देना और यह ताज जो उसकी इमानत होगी उसके सिपुर्द कर देना।" कितने साफ़ शब्दों में यह सन्देश दिया गया है कि आज़ादी का संघर्ष पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता जाना चाहिये और आज़ादी मिलने पर ही चैन की सांस लेनी चाहिये। इसी प्रकार

'सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम' कहानी में इटली के देशभक्त मैज़ीनी को लेकर आज़ादी का स्तुति-गान किया गया है। मैज़ीनी अपने आप से कहता है: "आज़ादी, हाय आज़ादी, तेरे लिये मैंने कैसे-कैसे दोस्त, जान से प्यारे दोस्त क़ुर्बान किये... आज़ादी तू ऐसी क़ीमती चीज़ है!" इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि अंग्रेज़ सरकार को इन कहानियों में Sedition यानी राजद्रोह दिखायी दिया, प्रेमचन्द की जवाबतलबी हुई और इस पुस्तक की प्रतियां जला दी गयीं तथा प्रेमचन्द के ही शब्दों में वह "सस्ते छूटे"। इसी घटना के बाद वह नवाबराय से प्रेमचन्द बने, किन्तु डरे-घबराये नहीं, उन्होंने अपना रास्ता नहीं बदला और खुल्लमखुल्ला अपनी बात कहने के बजाय इतिहास की आड़ लेने लगे, छिपी, मगर पैनी और निशाने पर ठीक बैठनेवाली चोटें करने लगे। उन्होंने भारतीय इतिहास के उन पृष्ठों को कहानियों के रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ किया, जो दासता की ज़ंजीरों में जकड़ी भारतीय जनता में आत्म-गौरव और आत्म-सम्मान की भावनायें और स्वतन्त्रता की तीव्र कामना पैदा कर सकते थे, देशभक्ति का भाव जगा सकते थे और साथ ही यह भी स्पष्ट कर सकते थे कि अतीत में हमारे पतन, हमारी पराजय के कारण क्या थे और अब हमें फिर से उन्हीं कारणों का शिकार नहीं होना चाहिये। ऐसी कहानियां बुन्देलों और राजपूतों की वीर-गाथाओं को आधार बनाकर रची गयीं। 'रानी सारन्धा' (१९१०), 'राजा हरदौल' (१९११), 'आल्हा' (१९१२) इसी ढंग की कहानियां हैं और 'जलवा-ए-ईसार' (हिन्दी में 'वरदान') नाम का उपन्यास भी इसी श्रेणी में आता है। जैसा कि हम जानते हैं, स्कूलों के सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर के रूप में प्रेमचन्द ने इन क्षेत्रों का दौरा किया था, बहुत-सी ऐसी कथायें सुनी थीं, स्वयं उनके प्रभाव में आकर उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इनसे पाठकों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करने में सहायता मिलेगी। 'विक्रमादित्य का तेग़ा' कहानी में यद्यपि पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह की न्याय-भावना पर ज़ोर दिया गया है, तथापि पूरी समग्रता में उसका प्रभाव भी भारत के गौरव के रूप में ही सामने आता है। इन्हीं कहानियों के आधार पर कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द को पुनरुद्धारवादी (Revivalist) बताया है। किन्तु ऐसा निष्कर्ष प्रेमचन्द के साथ न्याय नहीं करता। प्रेमचन्द इस सामन्ती युग की सभी बुराइयों को अच्छी तरह समझते थे और सामन्ती युग को अपने समय के लिये आदर्श नहीं मानते थे। 'आल्हा' कहानी का

यह वाक्य हमारे कथन का अच्छा प्रमाण है—"आल्हा और ऊदल उसी पुरशोर (कोलाहलपूर्ण) ज़माने की सच्ची तसवीरें हैं और गो कि ऐसी हालतों और ज़माने के साथ जो नैतिक दुर्बलतायें और विषमतायें पायी जाती हैं, उनके असर से वह भी बचे हुए नहीं हैं, मगर उनकी दुर्बलताएं उनका क़सूर नहीं, बल्कि उनके ज़माने का क़सूर हैं।"

इस बात की ओर ध्यान दिलाना भी उचित होगा कि रोमानी रंग में लिखी हुई प्रेमचन्द की ये कहानियां गोर्की की प्रारम्भिक रोमानी कहानियों और विशेषतः 'इटली की कथायें' की कुछ देशभक्तिपूर्ण कहानियों की याद ताज़ा करती हैं। परिवेश और वातावरण के अन्तर के बावजूद दोनों लेखकों की ऐसी रचनाओं में साहस, स्वतंत्रता, स्वाभिमान, न्यायप्रियता, आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान के साझे स्वर बजते सुनाई देते हैं।

'वरदान', जो १९१२ में प्रकाशित प्रेमचन्द के उर्दू उपन्यास 'जलवा-ए-ईसार' का हिन्दी अनुवाद है, आत्म-त्याग, देश-सेवा और देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत है और प्रेमचन्द को इसके मुख्य नायक बाला जी की प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द के चरित्र से मिली थी। उपन्यास के आरम्भ में ही बाला जी (जिसका असली नाम प्रताप है) की मां देवी से ऐसे पुत्र का वरदान मांगती है, जो देश-सेवा में ही अपना सारा जीवन लगा दे। यह उपन्यास कुल मिलाकर कमज़ोर है, घटनायें और पात्र अनेक हैं, किन्तु स्वाभाविक और अच्छे विकसित रूप में सामने नहीं आते। फिर भी इसमें तरंगित हो रही देश-सेवा, जन-सेवा और देशभक्ति की भावनायें सृजनकार के रूप में प्रेमचन्द की इस धारणा की पुष्टि करती हैं कि वह जीवन को सुधारने, उसे बेहतर बनाने में योग देने के उद्देश्य की पूर्त्ति में ही साहित्य की सार्थकता समझते हैं। एक अन्य दृष्टि से भी यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। पहली बार प्रेमचन्द ने शहरों के मध्यवर्गीय और निम्न मध्य वर्ग के लोगों, विशेषकर पीड़ित नारी की समस्या के साथ-साथ देहात और देहात के अत्यधिक पिछड़े, बेहद ग़रीब, अपढ़, पूर्वाग्रहों, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से ग्रस्त लोगों की तरफ़ ध्यान दिया। उपन्यास की नायिका बिरजन अपने पत्र में भारत के ऐसे ही दयनीय गांव का बड़ा सजीव चित्र प्रसतुत करती है। कहना चाहिये कि वास्तव में प्रेमचन्द ने अपने महान कला-पथ के एक पक्ष का, देहाती जीवन से

सम्बन्धित सृजन-पथ का, जिसमें वह अब तक बेजोड़ हैं, इसी उपन्यास में श्रीगणेश किया।

१६०५ से तिलक के नेतृत्व में भारतीय राजनीति में जो गर्मी आई थी और इंडियन नेशनल कांग्रेस के कार्यकलापों में भी जो परिवर्तन हुआ था, वह सब कुछ १६१०–१६११ तक चलता रहा, किन्तु धीरे-धीरे भाटा ज्वार का स्थान लेता गया और कांग्रेस फिर से अपने पुराने, नर्म दलीय रास्ते पर वापस आती गयी। देश की राजनीतिक हलचल के साथ प्रेमचन्द ने भी अपने कृतित्व में एक करवट ली थी, 'सोज़े वतन' की कहानियों और फिर बुन्देलों-राजपूतों की कहानियों में देश की आज़ादी के लिये बेचैन आत्मा को अभिव्यक्ति दी थी, किन्तु जब जीवन का यथार्थ फिर से कांग्रेस के वार्षिक जलूसों और प्रस्तावों तथा अंग्रेज़ सरकार के नाम प्रार्थनाओं की ओर मुड़ गया, तो साहित्य में भी कुछ वर्ष पहले का क्रांतिकारी उत्साह और वह तीव्रता बनाये रखना सम्भव नहीं रहा। प्रेमचन्द ने सरकारी नौकरी की ज़िम्मेदारियां निभाते हुए अपनी साहित्य-साधना जारी रखी और १६१६ में 'सेवा सदन' के प्रकाशन के पहले बीच के ७-८ वर्षों में अनेक कहानियां लिखीं, जिनमें से कुछ तो बहुत ही सुन्दर और सफल कहानियों में गिनी जा सकती हैं। 'बड़े घर की बेटी' (१६१०), 'ग़रीब की हाय' (१६११), 'ममता' (१६१२), 'अमावस्या की रात्रि' (१६१३), 'धर्म-संकट' (१६१३), 'ख़ून सफ़ेद' (१६१४), 'नमक का दारोग़ा' (१६१४), 'पछतावा' (१६१४), 'शिकारी राजकुमार' (१६१४), 'बेटी का धन' (१६१५), 'पंच परमेश्वर' (१६१६) आदि इन वर्षों की उल्लेखनीय कहानियां हैं। 'बड़े घर की बेटी' में यद्यपि प्रेमचन्द ने संयुक्त परिवार प्रणाली का समर्थन किया है, उसे बनाये रखने का पक्ष-पोषण किया है और उन ऐतिहासिक-आर्थिक कारणों की अवहेलना की है, जिनके फलस्वरूप यह प्रणाली टूट रही थी और इसका टूटना अनिवार्य था, तथापि इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत जैसे देश में, जहां बूढ़ों-विधवाओं-यतीमों और अन्य असहाय लोगों के लिये सामाजिक सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है और किसान-परिवारों के टूटने से कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि खेतों के आकार और भी छोटे हो जाते हैं, इस प्रणाली के अस्तित्व का अपना औचित्य भी है, यद्यपि इतिहास की प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता। दीन-हीन और असहायों के पक्षपाती होने और उनकी

चिन्ता के भाव ने उन्हें इस कहानी की प्रेरणा दी। 'ग़रीब की हाय', 'अमावस्या की रात्रि' और 'शिकारी राजकुमार' कहानियों में तो मुख्यतः इसी बात पर ज़ोर दिया गया है कि ग़रीबों के साथ जो अन्याय और ज़्यादतियां होती हैं, उनका अन्त होना चाहिये। 'ग़रीब की हाय' बड़ी प्रभावपूर्ण कहानी है। इसमें एक ओर तो गांव का रईस रामसेवक है, जो भोले-भाले ग्रामीणों और बूढ़ी अथवा विधवा नारियों की आंखों में धूल झोंककर उनका पैसा डकार जाता है और इस तरह उन्हें बलि के बकरे बनाकर मज़े करता है और दूसरी ओर, मूंगा नाम की बूढ़ी विधवा ब्राह्मणी है। वह अपनी जमा-पूंजी यानी कुल पांच सौ रुपये इसी रईस रामसेवक के पास इमानत रख देती है और हर महीने इसमें से कुछ पैसे लेकर निर्वाह करती है। कुछ वर्षों के बाद लालची रामसेवक उसकी आधी से अधिक रक़म दबा लेता है और कुछ अरसे बाद बुढ़िया इसी ग़म से पागल हो जाती है और आख़िर इसी रईस के दरवाज़े पर दम तोड़ देती है। इसके बाद उसकी सूरत एक भूत की तरह रामसेवक और उसकी बीवी का पीछा करने लगती है, पत्नी को डर के मारे जान ही निकल जाती है और ख़ुद रामसेवक भी आख़िर कहीं ग़ायब हो जाता है। कहानी का अन्त रामसेवक के परिवार के सर्वनाश से होता है, जो लेखक की अपनी न्याय-भावना के अनुरूप तो है, पर जिसने कहानी के स्वाभाविक विकास में बाधा डाल दी है। किन्तु यह भी सच है कि रामसेवक और उसकी बीवी जैसे लोग लालची, स्वार्थी और नीच होने के साथ-साथ धर्म-भीरु भी होते हैं और इसलिये इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि मूंगा के ये शब्द "तेरा ख़ून पीऊंगी!", उसका भयानक अट्टहास और मृत्यु के बाद हर जगह उसकी छाया की उपस्थिति से इन लोगों का जीना दूभर हो जाता है और ग़रीब की हाय अपना असर दिखाती है।

'अमावस्या की रात्रि' में भी एक ऐसे ही लालची और स्वार्थी वैद्य शंकरदास तथा देवदत्त नाम के ग़रीब व्यक्ति की मृत्यु-शय्या पर पड़ी पत्नी के प्रति उसकी हृदयहीनता को दिखाया गया है। देवदत्त के बहुत मिन्नत-समाजत करने के बावजूद वैद्य शंकरदास उसकी पत्नी को देखने नहीं जाता, क्योंकि वहां फ़ीस नहीं मिलनेवाली थी और देवदत्त की पत्नी मर जाती है। किन्तु देवदत्त के पुरखों का एक पुराना ऋणी जब उसे बहुत-सा धन लौटाता है और देवदत्त वह सारी रक़म ले जाकर वैद्य के सामने

फेंक देता है, तो वैद्य को अपनी भूल, अपनी हृदयहीनता की चेतना होती है। गोर्की की भांति प्रेमचन्द ने भी बुद्धिजीवी वर्ग की स्वार्थान्धता का भण्डाफोड़ किया है और वैद्य शंकरदास जैसे पात्रों को इस वर्ग का प्रतिनिधि (Type) पात्र कहा जा सकता है। यह सही है कि किसी एक वैद्य या डाक्टर के दयालु हो जाने से सभी निर्धन रोगियों की समस्यायें हल नहीं हो जातीं, किन्तु फिर भी कहानी ग़रीबों की दीन दशा को मुखरित करती है और पाठकों में सामाजिक न्याय के भावों का संचार करती है। प्रेमचन्द ने बाद में 'मन्त्र' कहानी में इसी विषय को और भी अधिक अच्छी तरह से प्रस्तुत किया है।

'शिकारी राजकुमार' को रात के समय अन्याय और अत्याचारों के कई दृश्य अपनी आंखों से देखने को मिलते हैं और उसे इस बात की चेतना होती है कि उसे निरीह हिरणों का नहीं, बल्कि साधारण लोगों को सतानेवाले दुष्टों और अत्याचारियों का शिकार करना चाहिये।

'ममता' में मातृ-स्नेह और 'नमक का दारोग़ा' में ईमानदारी का स्तुति-गान है।

'ख़ून सफ़ेद' और 'बेटी का धन' कहानियां अपने-अपने ढंग से सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करती हैं।

'पंच परमेश्वर' अपने ढंग की अनूठी कहानी है। यह कहानी जहां इस बात को स्पष्ट करती है कि देहात के लोग अपनी बहुत-सी समस्याओं को पंचायतों के ज़रिये ख़ुद ही हल कर सकते हैं और इस तरह कचहरियों की लूट-खसोट से बच सकते हैं, वहां एक सच्चे पंच का आदर्श भी पेश करती है। पंच की गद्दी पर बैठनेवाले व्यक्ति के लिये न्याय ही प्रमुख बात होनी चाहिये।

प्रेमचन्द की उपर्युक्त तथा अन्य कहानियों में भी किसी न किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्या को उठाया गया है और लेखक ने हमेशा पीड़ितों-उत्पीड़ितों, दलित और दीन-दुखियों तथा शोषितों का पक्ष लिया और इसीलिये १६२० में लिखी गयी 'मृत्यु के पीछे' कहानी में यदि हम प्रेमचन्द को ही जीवन भर दुर्बलों की वकालत करते पाते हैं, तो कहानी का कथानक ढीला-ढाला होने पर भी हम ऐसे लेखक के सामने नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकते।

प्रारम्भिक उपन्यासों और कहानियों के बाद प्रेमचन्द का एक बहुत प्रौढ़ और अपने समय में हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ माना जानेवाला उपन्यास

'सेवा सदन' सामने आता है। इसकी विषय-वस्तु बहुत विस्तृत है, इसमें कई पात्र हैं, कई सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को छुआ गया है, किन्तु इसकी मुख्य समस्या भी असहाय नारी ही है। कैसे समाज और पुरुष उसपर अत्याचार करते हैं, कैसे परिस्थितियां उसे पतन की तरफ़ धकेलती हैं, कैसे नारी के वेश्या बनने के लिये समाज ही ज़िम्मेदार होता है, इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह उभारा गया है और उपन्यास की नायिका सुमन का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा सफल विकास हुआ है। डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है: "'सेवा सदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचन्द ने किस तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को उसके निठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इसपर सहसा विश्वास नहीं होता।" हंसराज रहबर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं: "प्रेमचन्द ने समाज में फैली हुई बुराइयों का यथार्थ कारण ढूंढ़ निकाला है और उनके लिये व्यक्तियों को दोषी न ठहराकर वर्तमान सामाजिक पद्धति को ज़िम्मेदार ठहराया है।" मन्मथनाथ गुप्त ने इस उपन्यास को सामन्तवाद पर हमला बताया है। वह लिखते हैं: "ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि केवल परोपजीवी, दुश्चरित्र, लम्पट, कुकर्मी महन्त वर्ग पर ही नहीं, केवल धर्म पर नहीं, जो उसका बाहरी रूप मात्र है, बल्कि यह हमला बीसवीं सदी में मौजूद सामन्तवाद पर है।" धर्म और ज़मींदारी प्रथा पर प्रेमचन्द द्वारा इस उपन्यास में की गई चोट का राजेश्वर गुरू ने भी इन शब्दों में उल्लेख किया है: "धर्म और ज़मींदारी प्रथा पर इतना तिलमिला देनेवाला व्यंग्य इसके पहले किसी की लेखनी से प्रसूत नहीं हुआ था।"

उपर्युक्त निष्कर्ष अपने-अपने ढंग से सही हैं, क्योंकि एक-दूसरी से सम्बन्धित और मिली-जुली हुई कई समस्यायें हमारे सामने आती हैं, किन्तु मुख्य समस्या आर्थिक दृष्टि से पराधीन नारी की है। उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु उसकी नायिका सुमन ही है, वही सारे उपन्यास पर छाई हुई है। उसी के भाग्य-स्रोत से अन्य समस्या-धारायें प्रवाहित होती हैं और उपन्यास के एक पात्र कुंवर अनिरुद्ध सिंह के मुंह से शायद प्रेमचन्द ख़ुद ही बोलते सुनाई देते हैं: "जिस समाज में अत्याचारी ज़मींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र

हों, वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हों? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहां जा सकता है?"

तो प्रेमचन्द सारे समाज, पूरे सामाजिक ढांचे को ही वेश्याओं के अस्तित्व के लिये ज़िम्मेदार ठहराते हैं। यही स्पष्ट करना इस उपन्यास का प्रमुख ध्येय है। किन्तु यह बड़े ही कलात्मक ढंग से किया गया है, कहानी के प्रवाह में कहीं बाधा नहीं आती, दृष्टिकोण को थोपने के लिये, उपदेश देने के लिये कथानक को तोड़ा-मरोड़ा नहीं गया। पात्रों का भी स्वाभाविक विकास हुआ है, प्रत्येक का अपना अलग व्यक्तित्व उभरता है और वे लेखक के हाथों की कठपुतलियां न रहकर जीते-जागते और सांस लेते हुए प्रतीत होते हैं। उपन्यास की भाषा बड़ी मंजी हुई और मुहावरेदार है तथा समाज और धर्म के ढकोसलों पर प्रेमचन्द ने ऐसे व्यंग्य-बाण छोड़े हैं कि पाठकों के हृदय बिध जाते हैं, उन्हें अपने हृदयों में तिलमिलाहट की अनुभूति होती है। मुख्य समस्या वेश्यावृत्ति की है, पर साथ ही दहेज और बेमेल विवाह, महन्तों-ज़मींदारों के जीवन, उनके रंग-ढंग और किसानों पर उनके अत्याचारों और हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रश्न पर भी चिन्तन किया गया है। यहां इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि 'सेवा सदन' की नायिका सुमन 'प्रेमा' अथवा 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा से भी अधिक स्वाभिमानी और नारी की प्रतिष्ठा के बारे में सजग है। उसका पति जब उसका अपमान और अवहेलना करता है, तो वह सभी तरह की मुसीबतें और दुःख सहने को तैयार हो जाती है, पर पति का दमन और अत्याचार बर्दाश्त नहीं करती। हंसराज रहबर का यह मत बिल्कुल सही है कि "यह सुमन की—अबला नारी की—समाज को चुनौती है।" जहां तक इस उपन्यास के अन्त का सम्बन्ध है, तो वह 'प्रेमा' के अन्त के समान ही है। 'प्रेमा' में यदि विधवाश्रम बनाया गया है, तो 'सेवा सदन' में वेश्याओं के उद्धार के लिये भी इसी तरह की संस्था बनायी गयी है। प्रेमचन्द ने वेश्याओं के अस्तित्व के सही कारणों को स्पष्ट कर दिया है, यह बता दिया है कि नारी की आर्थिक पराधीनता ही इसका मुख्य कारण है, कि शोषक वर्ग के कुछ लोगों के पास परिश्रम के बिना शोषण द्वारा बेहिसाब आनेवाला धन ऐसी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित करता है, ऐसा धन भूख और ग़रीबी से पीड़ित नारियों की विवशता से लाभ उठाता है। स्पष्ट है कि "सदन" या "निकेतन" इतनी गहरी जड़ें रखनेवाले कारणों को दूर नहीं

कर सकते, जटिल और गहन सामाजिक समस्या का समाधान नहीं हो सकते। कहना न होगा कि शोषणकारी धनी वर्गों के अन्त और आर्थिक दृष्टि से नारी को आत्म-निर्भर बनाने से ही, उसे पांव की जूती न समझने, बल्कि सच्चे साथी और संगिनी का दर्जा देने से ही यह समस्या हल हो सकती है। किन्तु क्या प्रेमचन्द इस तरह का समाधान प्रस्तुत कर सकते थे, क्या १९२० के आस-पास के भारत में कोई और समाधान प्रस्तुत करना सम्भव था? क्या आज भी, भारत की आज़ादी के ४० साल बाद भी (इस उपन्यास के सृजन को तो लगभग ६८ साल हो गये) कोई ऐसा समाधान सामने आ पाया है, जो समस्या की जड़ पर प्रहार करता हो? क्या आज भी "निकेतनों" और "आश्रमों" का सहारा नहीं लिया जाता? १९२० के भारत में किसी दूसरे समाधान की बात सोचना सम्भव नहीं था, उसके लिये ज़मीन तैयार नहीं हुई थी। यह दूसरी बात है कि प्रेमचन्द वेश्या सुमन के हाथ से समाज के मुंह पर ज़ोरदार तमाचा लगवाकर ही उपन्यास को समाप्त कर देते। किन्तु प्रेमचन्द समाज-सुधार आन्दोलन की घुट्टी पीकर बड़े हुए थे, अपने युग के इसी समाधान की सीमाओं में बंधे हुए थे।

'सेवा सदन' का लेखन और प्रकाशन होने तक प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका था, युद्ध के समय अंग्रेज़ों द्वारा किये गये वादे झूठे साबित हो चुके थे, १३ अप्रैल १९१९ को जलियांवाले बाग़ की भयानक घटना हो चुकी थी, देश का राजनीतिक नेतृत्व गांधी जी के हाथों में आ चुका था, देश एक नये उभार, नये संघर्ष के लिये तैयार हो रहा था और यद्यपि उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था, तथापि इतना आभास अवश्य मिलने लगा था कि वह गांधी जी के उसी असहयोग और अहिंसा के पथ का अनुकरण करेगा, जिसका वे दक्षिण अफ़्रीका, चम्पारन और खेड़ा में सफलता से उपयोग कर चुके थे। गांधी जी का जादू प्रेमचन्द पर भी चल गया था, मार-काट का रास्ता यों भी मध्य वर्गीय लोगों और प्रेमचन्द जैसे शान्तिप्रिय तथा सज्जन व्यक्ति के मन के अनुरूप नहीं था, इसलिये उसे ग्रहण करने में देर न लगी। इसके अलावा तोलस्तोय का प्रभाव भी पहले से ही विद्यमान था। सो अहिंसा और आपसी प्रेम तथा सहयोग की भावनायें उनके मन पर छा गयीं। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की कड़ी शृंखलाओं से मुक्ति पाने का एक व्यावहारिक मार्ग दिखाई देने लगा। स्वतन्त्रता-संघर्ष के लिये इसका कैसे उपयोग किया

जायेगा, यह बात तो अभी आगे चलकर स्पष्ट होनेवाली थी, किन्तु देश की आबादी के तीन-चौथाई से अधिक भाग यानी किसानों के जीवन को बेहतर बनाने, उन्हें शोषक ज़मींदारों के पंजे से मुक्ति दिलाने के लिये यदि गांधी जी के इसी अस्त्र के उपयोग का सुझाव एक उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया जाये, तो कैसा रहे? सम्भवतः 'प्रेमाश्रम' लिखने के विचार का एक प्रेरणा-स्रोत यह था और दूसरा था रूस की समाजवादी क्रान्ति, जिसके फलस्वरूप वहां मज़दूरों-किसानों का राज क़ायम हो गया था, ज़मीनों को जोतनेवाले ही उनके स्वामी घोषित कर दिये गये थे, सामूहिकता तथा सहकारिता के आधार पर कृषि के पुनर्गठन के प्रयास हो रहे थे और इससे सजग-सचेत लोगों को एक नया दृष्टि-विस्तार मिल रहा था।

प्रेमचन्द भारतीय गांवों और वहां के जीवन, किसानों की ज़िन्दगी के सभी पहलुओं से बहुत अच्छी तरह परिचित थे, स्वयं भी उसी वातावरण और उनके बीच पले और बड़े हुए थे। उनके दुख-दर्द, गुणों-अवगुणों को बहुत ही अच्छी तरह जानते थे। अपनी कुछ कहानियों, 'वरदान' तथा 'सेवा सदन' उपन्यासों में किसानों की दुर्दशा, ज़मींदारों और उनके कारिन्दों, पुलिसियों तथा सूदख़ोरों के अन्यायों तथा लूट-खसोट पर कुछ प्रहार भी कर चुके थे, किन्तु अभी तक एक बड़े, विशद पट पर उन्होंने किसानों के जीवन को चित्रित नहीं किया था। यह कार्य उन्होंने 'प्रेमाश्रम' लिखकर पूरा किया। यह बृहदाकार उपन्यास लगभग दो वर्ष (मई १९१८ से फ़रवरी १९२० तक) के परिश्रम का फल था और इसे उचित रूप से ही प्रेमचन्द के सृजनात्मक विकासक्रम का एक संगमील कहा जा सकता है। 'सेवा सदन' ने यदि प्रेमचन्द को एक श्रेष्ठ उपन्यासकार सिद्ध कर दिया था, उनकी लेखनी की धाक जमा दी थी, तो 'प्रेमाश्रम' ने उन्हें एक अन्य ऊंचे शिखर पर पहुंचा दिया और साहित्य तथा साहित्यकार के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की इस धारणा की फिर से पुष्टि कर दी कि उन्हें जीवन की वास्तविक समस्याओं से उलझना चाहिये, तटस्थता का ढोंग न करके, क्योंकि हर तरह का साहित्य किसी न किसी विचार का पक्ष-पोषण और दूसरे विचार का खण्डन करता है, उनका पक्ष लेना चाहिये, जिन्हें उसकी अधिकतम आवश्यकता है, जो उसके अधिकारी हैं। भारत के करोड़ों किसान मानो इस बात की बाट जोह रहे थे कि कोई उनकी ओर भी ध्यान दे, देश के लोगों का ध्यान उनकी ओर

खींचे, उनकी आत्मा की हलचल को वाणी दे, उनकी घुटन को शब्दों का जामा पहनाकर सजग लोगों तक पहुंचाये। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में इस ध्येय की पूर्त्ति का बड़ा सफल शुभारम्भ किया, 'कर्मभूमि' में गांवों के एक और भी अधिक उपेक्षित वर्ग—अछूत खेत-मजूरों की ज़ोरदार वकालत करके 'गोदान' के होरी के रूप में भारतीय किसान की गाथा को अमर कर दिया। ये नई तरह के नायक थे। हिन्दी साहित्य के लिये ही नहीं, भारतीय साहित्य के लिये भी उनके महत्त्व पर ज़ोर दिया जा सकता है। यदि गोर्की ने तलछटी लोगों और फिर साधारण मज़दूरों को साहित्य के ऊंचे आसन पर बिठाया, तो प्रेमचन्द ने फटेहाल और निर्धन-अपढ़, अंधविश्वासों और संस्कारों में जकड़े, किन्तु सजग होते किसानों, अछूतों को वैसा ही ऊंचा स्थान दिया।

एक महान लेखक के नाते प्रेमचन्द की प्रतिभा का एक विशेष लक्षण यह है कि उन्होंने भारत के सामाजिक ढांचे और उसकी वर्ग-रचना को बहुत अच्छी तरह से समझा था। इसीलिये उनकी देशभक्ति की भावना और स्वाधीनता-सम्बन्धी विचारों में एक वर्ग-चेतन चिन्तक का रूप सामने आता है। प्रेमचन्द ने साफ़ समझा था कि भारतीय रियासतों के राजा-महाराजा, सामन्तवाद के आधार बड़े-बड़े ज़मींदार और विकसित होते हुए पूंजीवाद के पूंजीपति भी विदेशी साम्राज्यवादियों की तरह ही शोषकों के वर्ग में आते हैं। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद समूचे भारत और भारतीयों का शोषण कर रहा था और भारतीय उच्च वर्ग के लोग नीचे वाले वर्गों का शोषण करके अपनी इस लूट का कुछ हिस्सा अंग्रेज़ों को दे देते थे और बाक़ी से ख़ुद मौज उड़ाते थे। इसलिये प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में इन्हीं दोनों वर्गों के हितों के टकराव, शोषित किसानों की विवशताओं और शोषक ज़मींदारों तथा उनको सहारा देनेवाली सारी सरकारी मशीनरी को उसके सच्चे, नंगे और घिनौने रूप में पेश किया है। उपन्यास की कहानी घूम-फिरकर लखनपुर गांव पर ही केन्द्रित रहती है और पात्रों में दो विरोधी वर्ग ही अपनी प्रधानता बनाये रहते हैं। जटाशंकर, प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर और राय कमलानन्द कुछ अन्तरों के बावजूद ज़मींदारों-सामन्तों और उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग के प्रतिनिधि हैं और कादिर ख़ां, मनोहर तथा बलराज आदि किसान वर्ग के। जब तक प्रेमचन्द लखनपुर के किसानों को ज्ञानशंकर और उसके सभी पिट्ठुओं-समर्थकों—कारिन्दों, पुलिसवालों तथा न्याय के ठेकेदारों के विरुद्ध जूझते हुए दिखाते हैं, उपन्यास अपनी

की शक्ति होगी, हम और आप खेतों में कुदाल चलाते नज़र आयेंगे।" इसी उपन्यास में साम्यवादी विचारों (काल्पनिक समाजवादी विचारों का समर्थक कहना अधिक सही होगा) का समर्थन करनेवाला प्रेमशंकर यह कहता है: "भूमि उसकी है, जो जोते।" गोर्की के नील नामक पात्र के इस कथन के कितना अनुरूप है यह कि मालिक वही है, जो मेहनत करता है।

डा० राजेश्वर गुरु 'प्रेमाश्रम' का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'प्रेमाश्रम' में ज़मींदारों की तीन पीढ़ियां मिलती हैं। एक है लाला जटाशंकर की, जो समाप्त हो चुकी है, दूसरी है लाला ज्ञानशंकर की, जिसके कारनामे सारे 'प्रेमाश्रम' में बिखरे पड़े हैं, तीसरी है मायाशंकर की, जो साम्यवाद को स्वेच्छा से स्वीकार करता है। क्या इन तीनों पीढ़ियों के द्वारा भारतीय समाज के तीन युगों का चित्रण नहीं किया गया? भारतीय समाज में सामन्तवाद, पूंजीवाद और समाजवाद (या साम्यवाद) का ऐतिहासिक सजीव विवेचन 'प्रेमाश्रम' में मिलता है।

डा० राजेश्वर गुरु के उक्त कथन में सम्भवतः यह जोड़ देना भी उचित होगा कि 'प्रेमाश्रम' ज़मींदारों की तीन पीढ़ियों की ही नहीं, किसानों की तीन पीढ़ियों का भी बृहद उपन्यास है। एक पीढ़ी है कादिर जैसे भाग्यवादी और सहनशील किसानों की, दूसरी है मनोहर जैसे सजग होते किसानों की और तीसरी है बलराज जैसे संघर्षशील किसानों की। तीसरी पीढ़ी को ही आगे चलकर किसानों के भाग्य-निर्माण का कार्य अपने हाथों में लेना पड़ता है। वास्तव में तो ज़मींदारों की पीढ़ियां दम तोड़ती शक्तियों की प्रतीक हैं और किसानों की पीढ़ियां उभरती शक्तियों की। इसलिये 'प्रेमाश्रम' को किसानों के जीवन का महाकाव्य मानना ही अधिक ठीक होगा। प्रेमचन्द के गम्भीर सोवियत अध्येता व० बालिन के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि "'प्रेमाश्रम' पहली ऐसी प्रमुख रचना है, जो हिन्दी-उर्दू साहित्य में इतने साहस से एक नये नायक—किसान नायक—को लायी। लेखक ने किसानों के हर दिन के जीवन को दिखाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। पहले अधिकतर ऊंची सामाजिक स्थितिवाले लोगों को ही नायकों के योग्य माना जाता था।"

बालिन आगे कहते हैं: "प्रेमचन्द के पहले हिन्दी और उर्दू साहित्य में कथानक की भूमिका ही प्रमुख होती थी। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास अपने

ढंग का है। लेखक की अन्य रचनाओं की भांति इसमें भी मानव की मानसिक उथल-पुथल को चित्रित करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। किसानों को ऐसे लोगों के रूप में दिखाया गया है, जो तीव्र भावनायें रखते हैं, साहसपूर्ण और उदात्त कार्य कर सकते हैं। लेखक की सहानुभूति अन्याय का शिकार होनेवाले जनता के नायकों के साथ है।"

"'प्रेमाश्रम' के कथानक-विस्तार, पात्रों के विकास और सामन्तवाद, पूंजीवाद तथा समाजवाद समेत इन तीन अवस्थाओं को समेटने की दृष्टि से इस उपन्यास की गोर्की के 'अर्तामोनोव परिवार' ('टूटती कड़ियां') से तुलना की जा सकती है। गोर्की ने प्रेमचन्द को यह उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी हो, ऐसा तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह उपन्यास गोर्की के उपन्यास से पहले लिखा जा चुका था। राय कमलानन्द जैसे चमत्कारी और अविश्वसनीय पात्र, गायत्री और विद्या जैसे उभर न पानेवाले पात्रों और कमज़ोर अन्त के बावजूद 'प्रेमाश्रम' को हिन्दी का एक सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है।

'प्रेमाश्रम' के बाद प्रेमचन्द का एक अन्य बड़ा उपन्यास 'रंगभूमि' पाठकों के सामने आया। १९२२ के अक्तूबर से अप्रैल १९२४ तक लिखा गया यह उपन्यास १९२५ के आरम्भ तक छप चुका था। भारत के इतिहास में यह वह समय था, जब गांधी जी के प्रभाव में प्रेमचन्द ने अपनी बरसों की पक्की सरकारी नौकरी छोड़ दी थी, असहयोग-आन्दोलन की ज़ोरदार संघर्ष-लहर आकर ठण्डी हो चुकी थी, देश में निराशा छा गयी थी, साम्प्रदायिक दंगे हुए थे और आपसी फूट के बीजों के विषैले फल सामने आ रहे थे। आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद और विशेषतः विदेशी पूंजी की घुसपैठ बढ़ती जा रही थी, देशी और विदेशी पूंजी अपना प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत कर रही थी। यद्यपि प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में पूंजीवाद के कुछ लक्षण—जैसे कि लालच, स्वार्थ, हृदयहीनता की हद तक कठोरता आदि—ज्ञानशंकर के व्यक्तित्व के साथ जोड़ दिये थे, फिर भी वह मुख्यतः पूंजीपति वर्ग का नहीं, सामन्त वर्ग का ही प्रतिनिधि रहता है। पूंजीपति वर्ग व्यवहार में कैसा होता है, कैसे वास्तविक रूप में सामने आता है, कैसी चालों और हथकंडों से काम लेता है, कैसे एक ओर सामन्तों-राजों और दूसरी ओर साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों से सांठ-गांठ करता है, यह सब हमें उद्योगपति जॉन सेवक के व्यक्तित्व में देखने को मिलता है। उसके मुक़ाबले में प्रेमचन्द ने एक अंधे भिखारी सूरदास

को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। सूरदास गांव के भाईचारे, हेल-मेल, ग्रातिथ्य-सत्कार, सादगी-सरलता, उदारता, नेकी ग्रौर भलाई का साक्षात रूप है, गांव के लोगों को ग्रपनी ज़मीन पर पशु चराने देता है, इसलिये ग्रौर इस कारण भी ग्रपनी ज़मीन बेचने को तैयार नहीं होटा कि गांव में सिगरेटों का कारख़ाना लगने से गांव का वातावरण बिगड़ेगा, शराब-सिगरेटों ग्रादि का प्रचार बढ़ेगा, बहू-बेटियों के साथ छेड़-छाड़ ग्रौर ताक-झांक शुरू होगी ग्रौर उसके चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द को बड़ी सफलता मिली है। उद्योगपति जॉन सेवक पैसे, छल-बल ग्रौर ग्रन्य सभी साधनों-उपायों की मदद से सूरदास की ज़मीन ही नहीं, सारा गांव ही ग्रपने ग्रधिकार में ले लेता है ग्रौर लोग सूरदास के नेतृत्व में सत्याग्रह करते हैं, जिसमें गोली लगने से सूरदास का ग्रन्त हो जाता है। यह एक तरह से ग्रसहयोग ग्रान्दोलन की हार ग्रौर साम्राज्यवादी शक्तियों, साम्राज्य के पिट्ठुग्रों—राजों-महाराजों ग्रौर पूंजीपतियों के गठजोड़ की विजय का संकेत है। किन्तु सूरदास हारकर भी नहीं हारता, क्योंकि वह ग्रन्तिम सांसें लेते वक़्त भी यही कहता है: "फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो।" सूरदास के मुंह से प्रेमचन्द ने यह भी कहलवाया है: "यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही... तुम मंजे खिलाड़ी हो। दम नहीं उखड़ता। खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो ग्रौर तुम्हारा उत्साह भी ख़ूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हांफने लगते हैं ग्रौर खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। ग्रापस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता।" भारतीयों की ग्रापसी फूट की कितने दर्द से सूरदास ने चर्चा की है। दूसरी ग्रोर, साम्राज्यवादी-पूंजीवादी शक्तियां ख़ूब मिलकर ग्रौर निपुणता से ग्रपने हित-साधन के ग्रखाड़े में ग्राती हैं। इस उपन्यास के कथानक का केन्द्र-बिन्दु तो सूरदास ग्रौर जॉन सेवक का संघर्ष ही है ग्रौर इसी के साथ-साथ कई ग्रन्य उपकथायें जुड़ी हुई हैं। स्पष्ट है कि सूरदास से सम्बन्धित घटनायें गांव में घटती हैं, इसलिये गांव के रंग-ढंग ग्रौर कई ग्रामीण पात्रों का सजीव चित्रण हुग्रा है। जॉन सेवक की बेटी सोफ़िया ग्रौर कुंवर भरतसिंह के बेटे विनयसिंह के प्रेम की कहानी ग्रौर इसी तरह कुंवर साहब के दामाद महेन्द्रसिंह, ख़ुद कुंवर साहब ग्रौर रानी जाह्नवी तथा मैजिस्ट्रेट क्लार्क के व्यक्तित्व भी ग्रच्छे ढंग से विकसित हुए हैं। हां, विनयसिंह ग्रौर सोफ़िया की प्रेम-कहानी कुछ ग्रलग-सी प्रतीत होती है। किन्तु चूंकि प्रेमचन्द रियासतों ग्रौर देशी राजाग्रों तथा वहां

की जनता की स्थिति पर भी रोशनी डालना चाहते थे, यह स्पष्ट करना चाहते थे कि देशी राजा नाममात्र के राजा हैं और वहां चलती तो अंग्रेज़ों के रेज़ीडेंट की है और इस तरह रियासतों की जनता की हालत और भी ख़राब है, क्योंकि वहां तो रिश्वत, अन्याय-अत्याचार और सभी तरह की धांधली ब्रिटिश शासन के क्षेत्रों से भी ज़्यादा है, इसलिये लेखक विनय को जसवन्त नगर की रियासत में भेजते हैं, वहां तथाकथित डाकू वीर पाल सिंह से उसकी भेंट करवाते हैं, जो राजा के अन्याय के विरुद्ध लड़ने को ही डाकू बनता है और इस तरह रियासतों की जनता की हालत का हमें थोड़ा-सा आभास मिलता है। विनयसिंह एक ढुलमुल क़िस्म का, रईसी-सामन्ती वातावरण की उपज है, जिसमें कभी-कभी देश-भक्ति और क्रान्ति की भावनाओं की लहर आती है, पर वह स्थायी रूप से बनी नहीं रहती, वह कभी जनता का पक्ष लेता है और कभी राजा की ओर लुढ़कता है। इसलिये पाठक के मन पर इस पात्र की कोई विशेष छाप नहीं पड़ती और उसकी आत्महत्या भी एक अस्थिर और अपने ध्येय के बारे में अस्पष्ट व्यक्ति की स्वाभाविक नियति लगती है। सोफ़िया के चरित्र की प्रेरणा प्रेमचन्द ने एनी बेसेंट से ली और वह अपनी सरलता तथा निश्छलता से मन को छूती है, यद्यपि उसके विचारों में भी स्थिरता का अभाव है। ईसाई सोफ़िया और हिन्दू विनयसिंह के प्रेम के द्वारा प्रेमचन्द ने धर्म और जाति के बन्धनों से मुक्त होकर भारतीय राष्ट्रीयता और उससे आगे विश्व-धर्म की भावना का समर्थन किया है।

वास्तव में जॉन सेवक और सूरदास ही उपन्यास के सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। जॉन सेवक सही अर्थ में लक्ष्मी का पुजारी है, उसके लिये पैसा ही सब कुछ है, बेटी की आत्महत्या और बेटी के ग़म में पत्नी के पागल होकर मर जाने से भी उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, उसके लिये तो कारख़ाने का विस्तार और पूंजी की वृद्धि ही सब कुछ है। वह पूंजीपति वर्ग के सभी गुणों-अवगुणों से सम्पन्न है।

सूरदास को स्वयं प्रेमचन्द ने आदर्श पात्र कहा है और अधिकतर आलोचकों ने उसे गांधीवाद का प्रतीक माना है। ऐसा निष्कर्ष निकालना काफ़ी हद तक सही भी है, क्योंकि उसके सत्य, अहिंसा, नैतिक दृढ़ता, अपने आदर्श के लिये प्राणों की बाज़ी तक लगा देने का संकल्प आदि गुणों में गांधी जी के व्यक्तित्व की छाप साफ़ दिखती है और कारख़ानों, बड़े उद्योगों, शराब आदि के विरोध के विचार गांधीवाद से प्रेरित हैं।

ऐसा पक्षपात राष्ट्रीय हित की भावना और देश की आज़ादी के लिये हिन्दू-मुसलिम एकता के उद्देश्य से ही प्रेरित है। जहां तक प्रेमचन्द पर हिन्दू-संगठन के नेता होने का आरोप लगाने का प्रश्न है, तो वह सर्वथा निराधार है। वास्तव में यशोदानन्दन की पत्नी के निम्न विचार ही प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं–"नित्य समझाती रही, इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिये दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिये। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़े मरते हो। न तुम्हारे निगले वे निगले जायेंगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिलजुलकर रहो।" प्रेमचन्द ने बहुत स्पष्ट रूप से इस बात पर ज़ोर दिया है कि हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों के पीछे किसी तीसरी शक्ति का हाथ रहता है, जो दोनों क़ौमों के कुछ लोगों को अपने हाथों की कठपुतलियां बनाकर अपना उल्लू सीधा करने के लिये उन्हें लड़ाते रहते हैं। जहां तक इस समस्या के विश्लेषण का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द ने उसे बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु समाधान के लिये आर्थिक, सामाजिक और अन्य यथार्थवादी उपाय न सुझाकर मानव प्रेम और बन्धुत्व का भावुकतापूर्ण नुस्ख़ा पेश किया है, जिससे बात कुछ बनी नहीं।

हिन्दुस्तानी रियासतों के राजा किस तरह आम प्रजा, किसानों और खेत-मज़दूरों आदि पर अत्याचार करते थे, कैसे अपने ऐश-आराम और विलासिता के लिये उन्हें चूसते-निचोड़ते थे, इसका तो बहुत ही मार्मिक और सच्चा चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जब तक ये लोग गद्दी पर नहीं बैठते, सत्ता इनके हाथों में नहीं आती, लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, आदर्शों का राग अलापते हैं और सत्ता सम्भालते ही अपने असली रूप में सामने आने लगते हैं। राजा विशालसिंह ऐसे ही आदर्शवादी व्यक्ति हैं। राजा बनने के पहले तो वह अपनी रियासत को "राम राज्य" बनाने की बातें करते हैं, विश्वास दिलाते हैं कि वह राज्य का कायाकल्प ही कर देंगे, मगर राजा बनते ही उनके ये सारे आदर्श हवा हो जाते हैं और पुराने ढंग से लूट-खसोट का बाज़ार गर्म कर देते हैं। मज़े की बात तो यह है कि चक्रधर भी, जो साधारण जनता और राष्ट्र-हित की भावना से अनुप्रेरित पात्र दिखाया गया है, जब राजमहल में जाकर रहता है, तो उसके रंग-ढंग और तौर-तरीक़ों में भी बड़ा परिवर्तन हो जाता है। वह भी एक निर्दोष किसान को इतनी

बुरी तरह से पीटता है कि कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। चक्रधर का ऐसा पतन उन नेताओं की क़लई खोलता है, जो वैभव के वातावरण में पहुंचते ही अपने सारे आदर्शों, दया-प्रेम, त्याग-तपस्या आदि को भूल जाते हैं। प्रेमचन्द ने यद्यपि उसे उपन्यास का आदर्श पात्र कहा है, तथापि वह केवल तभी मन को छूता है जब जीवन के कटु सत्य और यथार्थ का दामन थामे रहता है। उपन्यास में खेत-मज़दूरों का अन्याय के विरुद्ध और अपने अधिकारों के लिये किया जानेवाला संघर्ष बहुत ही प्रभावपूर्ण है। भारतीय रियासतों-रजवाड़ों के राजाओं-रानियों की विलासिता, उनके द्वारा जनता की उपेक्षा-अवहेलना, शोषण-उत्पीड़न आदि का भी बड़ा सजीव चित्र उभरता है। प्रेमचन्द के कृतित्व का यही यथार्थवादी पक्ष इस उपन्यास को प्राणवान बनाता है।

'कायाकल्प' के प्रकाशन के लगभग साथ-साथ ही यानी नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक प्रेमचन्द का एक अन्य 'निर्मला' उपन्यास 'चांद' पत्रिका में छपा। यह 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' की भांति कई समस्याओं को उठानेवाली बड़ी रचना नहीं, बल्कि भारतीय दहेज प्रथा तथा उसके कुपरिणामस्वरूप नारी के जीवन के भयानक अन्त का छोटा सामाजिक उपन्यास है। दहेज की प्रथा एक सामन्ती अभिशाप-अवशेष है, जिसका मूल कारण नारी की असमानता और उसकी आर्थिक निर्भरता है तथा धनी लोगों तथा मध्य वर्गीय टुटपुंजिया लोगों में ही इसकी गहरी जड़ें हैं। मेहनत-मजूरी करनेवाले तबक़ों में, जहां नारियां पुरुषों की तरह काम करती हैं, यहां तक कि निम्न मध्य वर्ग में भी जहां लड़कियां पढ़-लिखकर बराबरी के नाते काम करती हैं, दहेज का अभिशाप इतना भयंकर रूप धारण नहीं करता, यद्यपि आधुनिक भारत में यह अभिशाप इस वर्ग में भी उग्र रूप धारण कर रहा है। प्रेमचन्द ने भारतीय नारी के जीवन की त्रासदी के मुख्य कारण—उसकी आर्थिक निर्भरता तथा असमानता को समझ लिया था और इसके फलस्वरूप उसे जिन दुख-दर्दों और मुसीबतों को सहना पड़ता है, उन्हें अपने कई उपन्यासों और कहानियों में व्यक्त किया है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में विधवा की सामाजिक हीन-दशा और 'सेवा सदन' में दहेज के अभाव के कारण सुमन के वेश्या बनने के लिये विवश होने के सामाजिक प्रश्न पर उन्होंने पाठकों का ध्यान केन्द्रित किया। 'निर्मला' में उपन्यास-नायिका निर्मला के जीवन को रोंगटे खड़े कर देनेवाली ट्रेजेडी बनाकर

उन्होंने समाज को झकझोरने का प्रयत्न किया है। निर्मला के पिता उदयभानु की अचानक हत्या हो जाने पर धन का लोभी, विशिष्ट मध्य वर्गीय भालचन्द्र और उसका उसी थैले का चट्टा-बट्टा बेटा निर्मला को इसलिये ब्याह कर घर में लाने से इन्कार कर देते हैं कि अब उन्हें दहेज में बहुत अधिक धन मिलने की आशा नहीं रही थी। निर्मला की मां विवश होकर विधुर वकील तोताराम से बेटी की शादी कर देती है, जिसके पहली पत्नी से तीन बेटे हैं। सो, आर्थिक कारणों से यह बेमेल शादी होती है, वैसे ही जैसे 'सेवा सदन' की सुमन और गजानन की। किन्तु एक बड़ा अन्तर है—सुमन का पति ग़रीब था, किन्तु अधेड़ या बूढ़ा नहीं। इसलिये सुमन को कम से कम वैसी मानसिक और शारीरिक ग्लानि की यातना नहीं सहनी पड़ी, जो निर्मला के भाग्य में बदी थी। प्रेमचन्द ने कितने सुन्दर शब्दों में इसका वर्णन किया है: "निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौन्दर्य की सुषमापूर्ण छाया देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्णा कामना से तड़प उठता। उस वक़्त उसके हृदय में एक ज्वालामुखी सी उठती। मन में आता—इस घर में आग लगा दूं... बांका सवार बूढ़े लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा, चाहे उसे पैदल ही क्यों न चलना पड़े। निर्मला की दशा उसी बांके सवार की सी थी।" प्रेमचन्द ने निर्मला और तोताराम—दोनों को आइने के सामने खड़ा करके कैसा तुलनात्मक दृश्य प्रस्तुत किया है—"वकील साहब (तोताराम) ने कमरे में क़दम रखा तो शीशे पर निगाह पड़ी। अपनी सूरत साफ़-साफ़ दिखाई दी। उसके हृदय को चोट-सी लग गई... भांति-भांति के पौष्टिक पदार्थ खाने पर भी गालों की झुर्रियां साफ़ दिखाई दे रही थीं। तोंद कसी होने पर भी किसी मुंहज़ोर घोड़े की भांति बाहर निकली हुई थी। आइने के ही सामने, किन्तु दूसरी ओर ताकती हुई निर्मला भी खड़ी थी। दोनों सूरतों में कितना अन्तर था—एक रत्नजड़ित विशाल भवन था, दूसरा टूटा-फूटा खण्डहर।"

लगभग पिता की उम्र के व्यक्ति तोताराम को निर्मला अपने मन से कैसे चाह सकती थी, उसपर खुले मन से प्रणय कैसे लुटा सकती थी। इसलिये यदि उसे तोताराम का सबसे बड़ा लड़का मंसाराम, जो उसका हमउम्र था, अच्छा लगता था, तो इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। निर्मला का उसकी ओर खिंचना बिल्कुल स्वाभाविक था। यद्यपि

वह अपनी सहेली से यह कहती है कि "मेरे मन में पाप का लेश भी न था", तथापि यह भी स्वीकार करती है: "यह मैं जानती हूं कि अगर उसके (मंसाराम के) मन में पाप होता, तो मैं उसके लिये सब कुछ कर सकती थी।" प्रेमचन्द ने निर्मला के मन का कितना स्पष्ट मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर, तोताराम का हीनवृत्ति का शिकार होना, निर्मला और बेटे मंसाराम के हेल-मेल तथा निर्मला के स्नेहदान से उसके मन में सन्देह की ग्रंथियों-गांठों का पैदा होना भी बहुत स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा वास्तविक और यथार्थ जीवन के अनुरूप है। सन्देह का यही कीड़ा इस परिवार की तबाही का कारण बन जाता है। बाप अपने बेटे से ईर्ष्या करने लगता है, उसे छात्रावास में जाकर रहने को विवश करता है, मातृस्नेह से वंचित और अब विमाता की मधुर संगति से भी दूर कर दिये गये किशोर का कोमल और भावुक मन मुरझाने लगता है, वह बीमार हो जाता है, उसे टी० बी० हो जाती है और वह दुनिया से कूच कर जाता है। मंसाराम के छोटे भाई जियाराम पर बड़े भाई की मृत्यु का जो प्रभाव होता है और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उसका उद्दंड हो जाना, बाप से घृणा करना, उसकी बात न मानना, चोरी करना आदि भी किशोर मन की उग्रता, हताशा और झुंझलाहट की स्वाभाविक अभिव्यक्तियां हैं। अपने बड़े भाई की मृत्यु के लिये पिता और विमाता को अपराधी समझनेवाला किशोर ऐसा सब कुछ कर सकता है। किन्तु उसकी आत्मा कलुषित नहीं हुई, वह केवल अपने मानसिक असन्तोष को किसी तरह शान्त करने के लिये ऐसी हरकतें करता है और इसीलिये निर्मला के गहने चुराने और इस चोरी का भेद खुल जाने पर आत्म-ग्लानि से आत्महत्या कर लेता है। दो बड़े भाइयों के इस तरह मर जाने पर यदि तीसरा सबसे छोटा, सियाराम, साधु बनकर घर से भाग जाता है तो कथानक के बहुत दुखद हो जाने पर भी वह अस्वाभाविक नहीं लगता। उधर तोताराम की मनःस्थिति को भी समझा जा सकता है। उसे तो शुरू से ही निर्मला का प्यार नहीं मिला, मंसाराम की मृत्यु के बाद वह और भी अधिक बुझी-बुझी रहने लगी, दूसरे बेटे जियाराम के कार्यकलापों और फिर आत्महत्या से उसे एक और बड़ा धक्का लगता है तथा जब सबसे छोटा बेटा सियाराम भी घर छोड़कर भाग जाता है, तो उसके धैर्य और सहनशीलता का प्याला छलक जाता है। आख़िर तो वह बाप था, निर्मला का प्यार शायद बेटों को खोने के

दुख की कुछ पूर्त्ति कर देता, किन्तु वह तो उसे मिला ही नहीं और इसलिये यदि उसमें घर से विरक्ति अथवा पुत्र-स्नेह की भावना बलवती हो उठती है और वह घर छोड़कर बेटे की खोज में निकल जाता है, तो कुछ अटपटा नहीं लगता। इसलिये श्री हंसराज रहबर के इस कथन का खण्डन करने को मन होता है कि "कोई भी पात्र रक्त-मांस का बना हुआ जान नहीं पड़ता और एकदम इतनी हत्यायें अस्वाभाविक ही नहीं, पढ़ते-पढ़ते मन ऊब जाता है और क्षोभ उत्पन्न होता है। यह कहने को जी चाहता है कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार ने यह उपन्यास क्यों लिखा।" नहीं, ऐसी बात नहीं है। उपन्यास बड़ी तेज़ी से अपने चरमबिन्दु, अपने अन्त की ओर बढ़ता है, दुख की छाया अधिकाधिक धनी होती जाती है और निर्मला की मृत्यु ही इसका एकमात्र उचित तथा यथार्थवादी अन्त है, जो पाठक को दहेज के रूप में नारी को क्रय-वस्तु बनानेवाली सामाजिक व्यवस्था का घिनौनापन पूरी तीव्रता के साथ स्पष्ट कर देता है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में 'प्रतिज्ञा' की विधवा पूर्णा या 'सेवा सदन' की सुमन की तरह निर्मला के उद्धार का कोई प्रयत्न नहीं किया, कोई काल्पनिक समाधान या उपाय नहीं बताया और इस तरह वह यथार्थ-वाद की ठोस ज़मीन पर खड़े दिखाई देते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने हास-परिहास की चुटकियां भी ख़ूब ली हैं। तोताराम जिस तरह से अपने को जवान ज़ाहिर करने के लिये सभी तरह के नाटक करता है, उन्हें पढ़ते हुए बरबस हंसी आती है। मध्य वर्गीय बुद्धिजीवियों की संकीर्णता, धन-लोलुपता, कूपमंडूकी दृष्टिकोणों और टुटपुंजियापन के लक्षणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कई पात्र इस उपन्यास में हैं, जो गोर्की के इसी ढंग के पात्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

आडम्बर, धनी होने का ढोंग करना, झूठी शान दिखाना और डींग हांकना—मध्य वर्ग के लोगों के ये सर्वविदित लक्षण हैं। वे अपनी आर्थिक सीमाओं-क्षमताओं को ध्यान में न रखते हुए ब्याह-शादियों के मौक़ों पर और इसी तरह के अन्य रीति-रिवाजों को पूरा करने के लिये बढ़-चढ़कर ख़र्च करते हैं, उच्च पूंजीपति वर्ग से अपनी निकटता दिखाने के लिये न केवल ऋण लेते हैं, बल्कि यार-दोस्तों से बढ़िया चीजें मांग कर भी अपनी सम्पन्नता का ढोल पीटने का प्रयास करते हैं। प्रेमचन्द की 'मांगे की घड़ी' कहानी में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस वर्ग के पुरुषों की भांति इस वर्ग की नारियां भी बढ़िया पहनावे और विशेषतः गहनों से लद-

फंद कर अपनी धाक जमाने के लिये लालायित रहती हैं। मध्य वर्ग की ऐसी नारियों की एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मुख आती है 'ग़बन' की नायिका जालपा और आडम्बर तथा दिखावे के फेर में पड़ते हैं जालपा का पति रमानाथ और उसके पिता दयानाथ। १९३१ के आरम्भ में प्रकाशित प्रेमचन्द का यह उपन्यास यद्यपि एक सामाजिक कुसंस्कार यानी मध्य वर्ग की नारियों में गहनों के प्रेम और पुरुषों में झूठे दिखावे की समस्या को लेकर चलता है, तथापि आगे चलकर इसमें भारत की स्वतन्त्रता, देशभक्तों के बलिदानों, साम्राज्यवाद की रक्षक पुलिस की तिकड़मों आदि के प्रश्न घुल-मिल जाते हैं और 'निर्मला' की भांति यह सामाजिक न रहकर विशद चित्रपट वाला सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास बन जाता है।

जालपा को गहनों से प्रेम है और ऐसा क्यों है, प्रेमचन्द ने इसकी पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए लिखा है: "जब वह तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उस वक़्त उसके लिये सोने के कड़े बनवाये गये थे। दादी जब उसे गोद में खिलाने लगती, तो गहनों ही की चर्चा करती। तेरा दूल्हा तेरे लिये बड़े सुन्दर गहने लायेगा। ठुमुक-ठुमुककर चलेगी।" तो कहना चाहिये कि गहनों का प्यार उसे घुट्टी में ही मिला और ज्यों-ज्यों वह होश सम्भालती गयी, गहनों के प्रति यह लगाव भी बढ़ता गया, क्योंकि अपने आसपास सखी-सहेलियों और गांव की अन्य नारियों में इन्हीं गहनों की चर्चा और प्रशंसा सुनती रहती थी। इसलिये जब उसकी शादी हुई और पति रमानाथ के पिता दयानाथ ऋण लेकर बहुत-से गहने बनवा लाये, मगर चन्द्रहार न ला सके जिसका वह बचपन से सपना देखती थी, तो उसे बड़ी निराशा हुई। वह रमानाथ से ज़रा खिंची-खिंची रहने लगी। रमानाथ ने उसे ख़ुश करने तथा तसल्ली देने के लिये ख़ूब डींगें मारीं। किन्तु वास्तविक स्थिति तो यह थी कि ऋणदाताओं ने अपने ऋण वापिस करने के तकाज़े शुरू कर दिये थे। चुनांचे रमानाथ के पिता ने सलाह दी कि जालपा से कुछ ज़ेवर लेकर सर्राफ़ को वापिस कर दिये जायें। मगर झूठी शान दिखाने और डींगें मारनेवाला रमानाथ किस मुंह से पत्नी को सचाई बताये और गहने मांगे? चुनांचे वह बीवी के गहनों का डिब्बा चुरा लेता है और ख़ुद ही ऐसी चोरी हो जाने का शोर मचा देता है। जालपा को स्वभावतः बहुत दुःख होता है। इसी बीच रमानाथ को चुंगी के मुंशी की नौकरी मिल जाती है, जहां ऊपर से भी कुछ कमाई हो

जाती है। फिर भी गहने बनवाने की उसकी बहुत सामर्थ्य नहीं है। पत्नी के रूप का दीवाना रमानाथ उधार गहने ख़रीदता है, सर्राफ़ का छः सौ रुपये का क़र्ज चढ़ जाता है। एक धनी वकील इन्द्रभूषण की बीवी रतन से जालपा की मैत्री हो जाती है, जिसे जालपा के कंगन बहुत अच्छे लगते हैं और वह वैसे ही कंगन बनवा देने के लिये जो छः सौ रुपये रमानाथ को देती है, सर्राफ़ अपने ऋण की भरपाई के रूप में उन्हें रख लेता है और रतन को कंगन नहीं मिलते। रतन को तसल्ली देने के लिये ही रमानाथ चुंगी के छः सौ रुपये घर लाता है और रमा की ग़ैरहाज़िरी में जालपा उन्हें रतन को लौटा देती है। अब रमानाथ क्या करे ? चुंगी के रुपये न लौटाने पर गिरफ़्तारी और जेल जाने का ख़तरा सामने आता है। पत्नी से खुलकर बात कहने की हिम्मत नहीं होती, क्योंकि बहुत झूठ बोलता और बेपर की उड़ाता रहा था। इसलिये एक पत्र लिखकर वास्तविक स्थिति से पत्नी को परिचित करना चाहता है, मगर उसे भी उसके हाथ में देने का साहस नहीं कर पाता। संयोग से पत्र पत्नी के हाथ लग जाता है और उसे पढ़ते देख रमानाथ पर घड़ों पानी पड़ जाता है और वह घर से भाग निकलता है। वह तो यही समझता है कि ग़बन के अपराध में पुलिस उसे गिरफ़्तर करेगी, यद्यपि जालपा ने गहने बेचकर छः सौ रुपये चुंगी को लौटा दिये थे। चूंकि रमानाथ को यह सचाई मालूम नहीं थी, इसलिये वह पुलिस से डरता रहता है और इसीलिये कलकत्ता में पुलिस के जाल में फंस जाता है, जो उसे क्रान्तिकारियों के विरुद्ध एक मुक़दमे में सरकारी गवाह बनाकर क्रान्तिकारियों के लिये मृत्यु-दण्ड की घोषणा करवा देती है। किन्तु जालपा के कलकत्ते पहुंच जाने और रमा को धिक्कारने-फटकारने पर उसकी आंखें खुलती हैं, वह न्यायाधीश को सचाई बताता है और क्रान्तिकारी दण्ड-मुक्त हो जाते हैं।

हंसराज रहबर सहित कुछ समालोचकों ने जालपा के चारित्रिक विकास, उसके एकदम बदल जाने, गहनों का मोह छोड़ देने, रमानाथ को भी रास्ते पर लाने की क्षमता को अस्वाभाविक माना है। उनका कहना है कि "कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को अकस्मात नहीं बदल सकता। जन्म और वातावरण के संस्कारों को एकदम छोड़ देना बहुत कठिन होता है... मनुष्य का बदलना इतना सहज नहीं है, जितना जालपा के चरित्र में दिखाया गया है।" सामान्यतः यह सही है, किन्तु हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कभी-कभी जीवन में एक ज़ोरदार

झटका या कोई प्रबल आघात मानव का कायाकल्प कर देता है, उसमें अचानक न केवल एक नयी चेतना, बल्कि बड़ी शक्ति भी आ जाती है। जालपा में ऐसा अकस्मात परिवर्तन इसलिये भी सम्भव था कि वह आर्थिक दृष्टि से पति पर निर्भर नारी थी, उसे गहनों से प्यार था, किन्तु गहने पाने का आधार तो पति ही था। यदि वही जेल में सड़ेगा, तो वह क्या गहनों को लेकर चाटेगी? वह भारतीय नारी है, जो यह समझती है कि अगर पति बना रहेगा, तो गहने फिर भी बन जायेंगे और फिर रमा के पत्र से वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान हो जाने पर संकट में पति की सहायता न करना भी तो उसके लिये सम्भव नहीं था। इसलिये बदली हुई स्थिति ही जालपा का परिवर्तन आवश्यक और स्वाभाविक बना देती है। पति के रक्षा-कवच या उसपर निर्भरता की स्थिति से मुक्ति पाकर उसके चरित्र का स्वतन्त्र विकास होने लगता है और तब वह अपनी सारी निहित क्षमताओं और सूझ-बूझ का बहुत अच्छा परिचय देती है। ऐसी सीधी-सादी नारियां ही आगे चलकर स्वतन्त्रता-संघर्ष में कूदती हैं।

रमानाथ विशिष्ट मध्य वर्गीय ढुलमुल चरित्र का, लोभी और शेख़ी-बाज़ पात्र है। किन्तु वह ऐसा नहीं है कि नीचे ही नीचे गिरता चला जाये। यदि प्रतिकूल परिस्थितियों में फंसकर वह पतन की ओर बढ़ता है, तो अनुकूल परिस्थितियां होने पर, धिक्कार-फटकार के कोड़े पड़ने पर वह अपना रास्ता बदल भी सकता है। उसी के दुर्बल चरित्र की बदौलत पुलिस अपना उल्लू सीधा करती है और प्रेमचन्द ने शान्ति और व्यवस्था के इन ठेकेदारों, अंग्रेज़ सरकार के कठपुतलों की ख़ूब अच्छी क़लई खोली है। वास्तव में उपन्यास के कलकत्ता से सम्बन्धित उत्तरार्द्ध में तो झूठे राजनीतिक नेताओं और पुलिस को पाठकों के सामने बिल्कुल नंगा कर दिया गया है।

इस उपन्यास में देवीदीन खटीक और उसकी पत्नी के पात्र बहुत ही सजीव और मनमोहक हैं। इलाहाबाद से भागकर रमानाथ इन्हीं के घर में शरण पाता है। देवीदीन और उसकी पत्नी के बीच सच्चे दाम्पत्य जीवन का रूप देखा जा सकता है, वे दोनों सही अर्थ में एक दूसरे के साथी हैं, सुख-दुख में एक दूसरे पर पूरा भरोसा करने और मिल-जुलकर सुख से आनन्दित होने और दुख का सामना करने की क्षमता रखनेवाले लोग हैं। देवीदीन ने जीवन के अनुभवों से बहुत कुछ सीखा है, देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में दो जवान बेटों के प्राणदान का दुख सहा है, ख़ुद भी उनके

न रहने पर उनकी जगह संघर्ष कर चुका है, सच्चा देशभक्त है, किन्तु यह भी समझता है कि देशभक्ति का ढोंग करनेवाले धनी राजनीतिक नेता लोगों की आंखों में धूल झोंकते हैं। इसीलिये दान द्वारा अपने पापों-अत्याचारों पर पर्दा डालने की कोशिश करनेवाले एक सेट के बारे में वह यह कहता है: "सेठ की जूट की मिल है। मज़दूरों के साथ जितनी निर्दयता उसके मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से। चरबी मिला घी बेचकर उसने लाखों कमा लिया... अगर साल में दो-चार हज़ार का दान न कर दे, तो पाप का धन कैसे पचाये।" पाखण्डी नेताओं के बारे में उसका यह कथन कितना सही है: "एक बार यहां एक बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर ख़ूब कूदे। जब वह नीचे आये तो मैंने उनसे पूछा–साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौनसा रूप तुम्हारी आंखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेज़ी ठाठ बनाये घूमोगे; इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा... अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो; जब तुम्हारा राज हो जायेगा, तब तो तुम ग़रीबों को पीसकर पी जाओगे।" यही सचाई है ऐसे नेताओं की! प्रेमचन्द के लिये सही आज़ादी का अर्थ भी स्पष्ट था। वह गोरों की जगह कालों को सत्ता सौंप देने को ही आज़ादी नहीं मानते थे।

लगभग 'ग़बन' के लेखन काल में ही लिखी गयी 'आहुति' कहानी में प्रेमचन्द ने बड़े स्पष्ट शब्दों में रूपमणि के मुंह से ये भाव व्यक्त करवाये हैं–"अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूंगी–ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा... जिन बुराइयों को दूर करने के लिये आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसीलिये सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं। कम से कम मेरे लिये तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाय। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूं, जहां कम से कम विषमता को आश्रय न मिल सके।" स्पष्टतः प्रेमचन्द की सारी सहानुभूति किसानों-मज़दूरों और साधारण लोगों के पक्ष में है।

'ग़बन' उपन्यास में वकील इन्द्रभूषण को तो पूरी तरह से गोर्की

द्वारा चित्रित ऐसे मध्य वर्गीय बुद्धिजीवियों के समान कहा जा सकता है, जो केवल अपने लिये जीते हैं और जिनके जीवन का लक्ष्य धन कमाना, धन जोड़ना और फिर उसे किसी उत्तराधिकारी के लिये छोड़ जाना होता है। वे पूरी तरह कूपमंडूक, स्वार्थी, लालची और मानसिक दृष्टि से खोखले होते हैं। वकील इन्द्रभूषण भी ऐसा ही है। कुछ हद तक वह 'निर्मला' के तोताराम का ही दूसरा रूप है। किन्तु 'ग़बन' में निर्मला नहीं, रतन है और वह जितने ज़ोर से नारी के अधिकार और सम्मिलित परिवार में उसके साथ होनेवाले अन्याय की बात करती है, वह भी मानो प्रेमचन्द के एक नये, विकसित और परिवर्तित दृष्टिकोण की घोषणा है। १६१० में लिखी गयी प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'बड़े घर की बेटी' में यदि इस बात की प्रशंसा की गयी है कि बड़े घर की बेटी एक सम्मिलित परिवार को टूटने से बचा लेती है, तो 'ग़बन' की रतन इसकी ख़ूब भर्त्सना करते हुए कहती है: "न जाने किस पापी ने यह क़ानून बनाया था कि स्त्री का पति की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहां कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूंगी: क्या तेरे घर में मां-बहिनें न थीं? तुम्हें उनका अपमान करते लज्जा न आई? अगर मेरी ज़बान में इतनी ताक़त होती कि सारे ज़माने में उसकी आवाज़ पहुंचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती: बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना।" गांव में साझी खेती की बात दूसरी है, ज़मीन छोटे टुकड़ों में बंटने से बच जाती है, सम्मिलित परिवार के कुछ अन्य लाभ भी हैं, मगर शहर में मध्य वर्ग के लोगों के लिये यह अभिशाप बन गया है, प्रेमचन्द ने इसे अच्छी तरह समझा और यह अनुभव कर लिया था कि संयुक्त या सम्मिलित परिवारों का कोई भविष्य नहीं है। उपर्युक्त उद्धरण में इन शब्दों पर भी ध्यान देना चाहिये—"अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहां कोई न्याय होता है, तो।" ईश्वर के अस्तित्व और उसके न्याय में प्रेमचन्द की आस्था कम होती जा रही थी और वह धीरे-धीरे नास्तिकता की ओर बढ़ रहे थे।

काल्पनिक समाधानों से भी अब प्रेमचन्द अधिकाधिक दूर हटते हुए यथार्थ की ठोस ज़मीन पर मज़बूती से क़दम जमाते जा रहे थे।

गांव के किसानों की जो बुरी हालत थी, उससे भी ज़्यादा बुरी स्थिति

थी गांव के अछूत किसानों की और शहर में काम करनेवाले अछूतों की। भारतीय समाज के इस वर्ग की समस्या पर प्रेमचन्द ने १६३२ में प्रकाशित 'कर्मभूमि' में बहुत विस्तार से प्रकाश डाला है। और इस उपन्यास का कथानक गांव और शहर दोनों में अछूतों की समस्या को लेकर चलता है। प्रेमचन्द ने इस समस्या को मुख्यतः दो पहलुओं में बांट कर प्रस्तुत किया है। एक पहलू तो है सामाजिक-धार्मिक और दूसरा आर्थिक-राजनीतिक। सामाजिक-धार्मिक पहलू के अन्तर्गत तो अछूतों की सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न सामने आता है। मानवतावादी प्रेमचन्द को यह असह्य था कि धर्म के नाम पर समाज के एक वर्ग को अछूत माना जाये और उसे दूसरे वर्गों के बराबर दर्जा न दिया जाये। इसीलिये वह अछूतों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिये आन्दोलन करवाते हैं और उन्हें बड़े ज़ोरदार संघर्ष और बलिदानों के बाद उसमें विजय मिलती है। इस तरह प्रेमचन्द समाज के इन "तुच्छ" और "उपेक्षित" लोगों की मानवीय प्रतिष्ठा का यश-गान करते हैं। प्रेमचन्द मानव-मानव के बीच भेद करनेवाले धर्म पर अपने पहले उपन्यास से ही बड़ी करारी और चुभती हुई चोटें करते आये थे, जो इस उपन्यास में बहुत ही तीखी हो गयी हैं। इसलिये बहुत-से पुरातनपन्थी हिन्दू तिलमिला उठे और उन्होंने प्रेमचन्द को "घृणा का प्रचारक" कहा। किन्तु प्रेमचन्द ने इसकी तनिक भी परवाह न की और ऐसे लोगों को उन्होंने अपने एक लेख 'जीवन में घृणा का स्थान' में मुंहतोड़ जवाब दिया। समस्या के दूसरे, आर्थिक-राजनीतिक पहलू के अन्तर्गत प्रेमचन्द गांव के अछूत किसानों और खेत-मजदूरों को सामने लाते हैं, जिनका महन्त-ज़मींदार बुरी तरह से शोषण करते हैं। यहां प्रेमचन्द ज़मीन के मसले, लगान कम करने और ज़मींदारी शोषण के अन्य बहुत-से रूपों को ख़त्म करने के प्रश्नों को अपने पात्रों के माध्यम से उभारते हैं। ज़मींदार वर्ग और किसान वर्ग, विशेषतः अछूत किसान वर्ग का टकराव ही इस उपन्यास का मुख्य विषय है। अप्रत्यक्ष रूप से यह टकराव साधारण, उत्पीड़ित और शोषित जनता तथा साम्राज्यवाद का टकराव भी बन जाता है। कारण कि जब किसान ज़मींदारों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हैं, तो ज़मींदारों की रक्षा को साम्राज्यवादी अंग्रेज़ी सरकार की सारी मशीनरी—सभी अफ़सर, पुलिस आदि—सक्रिय हो जाती है और इसलिये किसानों को ज़मींदार से ही नहीं, अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से भी टक्कर लेनी पड़ती है। चुनांचे इस उपन्यास में भी आम जनता

पर अंग्रेज़ सरकार और उसकी पुलिस के भयानक आतंक की रोंगटे खड़ी करनेवाली तसवीर हमारे सामने आती है। किन्तु अछूत किसान ख़ूब डटकर मुक़ाबला करते हैं और आख़िर सरकार को समझौता करने के लिये झुकना पड़ता है। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि प्रेमचन्द ने अछूत किसानों के इस सारे आन्दोलन को अहिंसावादी ढंग से संचालित करवाया है और इसका नेतृत्व भी अमरकान्त जैसे मध्य वर्ग के लोग करते हैं और इसलिये इन पात्रों में मध्य वर्ग की सभी त्रुटियां—समझौतावाद और चारित्रिक ढुलमुलपन—साफ़ दिखाई देती हैं। इस दृष्टि से उपन्यास के नायक अमरकान्त का तो बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण हुआ है। वह मध्य वर्गीय असंगतियों और मानसिक उलझावों का जीता-जागता नमूना है।

देहात में यदि अछूतों की आर्थिक समस्या ज़मीन और लगान कम करने की है, तो शहर में रोज़गार और उनके रहन-सहन की स्थिति की है। इसलिये इस उपन्यास में शहरों में अछूतों के मकानों के प्रश्न को लेकर म्युनिसिपल कमेटी के विरुद्ध आन्दोलन कराया गया है, जिसमें अमरकान्त की पत्नी सुखदा और बहन नैना बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। नैना तो शहीद हो जाती है और आन्दोलन सफल होता है। वास्तव में तो प्रेमचन्द ने इसी उपन्यास में सबसे अधिक नारी-पात्रों को बहुत ही साहसी, ध्येयनिष्ठ और सक्रिय दिखाया है। इसी उपन्यास में हमारे सामने सकीना, सलोनी, मुन्नी, सुखदा, नैना और रेणुका देवी जैसे अनेक सजीव, सजग और सुदृढ़ नारी-पात्र उभरते हैं। इसका कारण भी समझ पाना कुछ कठिन नहीं है। यह उपन्यास १९३१–१९३२ में लिखा गया था और उस समय देश भर में चल रहे सत्याग्रह आन्दोलन में नारियों ने बहुत ही सक्रियता और वीरता का परिचय दिया था। डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द का यथार्थवाद और बुलन्दी पर पहुंचा है... मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर है। मुन्नी और अन्य नारी-पात्रों के चित्रण में आम तौर से प्रेमचन्द ने एक महान कलाकार की सहृदयता का परिचय दिया है। सुखदा और नैना के त्याग और सच्ची देशभक्ति के सामने अमरकान्त और समरकान्त तुच्छ मालूम होते हैं।"

इस उपन्यास में एक बात और विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह यह कि प्रेमचन्द ने पहली बार शहर के अछूतों और तथाकथित नीची

किन्तु इस आन्दोलन की असफलता और समझौते से उनकी आस्थाओं को बड़ा धक्का ज़रूर लगा था। इसीलिये उन्होंने लिखा: "गोल मेज़ सभा ने अपने तीनों पन भोगकर जीवन लीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा न थी... लेकिन वह इस हद तक बंध्या होगी, इसका हमें ख़्याल न था... तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता, देखते कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है। लेकिन कुछ भी न हुआ।" सो यह थी कटु सचाई! व्यक्तिगत जीवन में भी बहुत-से तीखे-कड़ुए अनुभव हो चुके थे, इसलिये अपने मन को तसल्ली देनेवाले, तह की गहराई को न छू पानेवाले सतही समाधानों का मोह मन से जाता रहा था और जीवन के अन्तिम तीन-चार सालों में क्या लेखों, क्या कहानियों और क्या अपने अनूठे, विराट और अत्यधिक प्रभावपूर्ण 'गोदान' एवं अधूरे 'मंगलसूत्र' उपन्यास में हम उन्हें एकदम यथार्थवादी पाते हैं।

'प्रेमाश्रम' की भांति 'गोदान' भी किसानों के जीवन का महाकाव्य है, फिर भी यह 'प्रेमाश्रम' से कई बातों में भिन्न है। यह इसलिये भिन्न है कि इसमें किसान और गांव के जीवन का पूर्णतः यथार्थवादी, अधिक गहन और सच्चा चित्रण हुआ है। विचार-परिपक्वता की दृष्टि से तो डा० इन्द्रनाथ मदान के इस कथन को बिल्कुल सही माना जा सकता है कि "यह उपन्यास ('गोदान') केवल होरी का गोदान नहीं है, प्रेमचन्द की आस्था का भी गोदान है, सदनों, निकेतनों, आश्रमों में लेखक की आस्था का भी गोदान है"। यह उपन्यास इसी कारण अधिक प्रभावशाली भी है कि प्रेमचन्द इसकी कहानी का स्वाभाविक, युक्तियुक्त अन्त करते हैं और होरी की मौत के बाद उसकी पत्नी धनिया जिस तरह पछाड़ खाकर गिरमी है और बेहोश होती है, पाठक के मन पर उसकी अमिट छाप रह जाती है। वह यह सोचने लगता है कि कब अन्त होगा ऐसी सामाजिक व्यवस्था का, जिसमें इस तरह जीवनभर मुसीबतें झेलते हैं, अपमान सहते हैं, भूखे रहते और हमेशा शोषण और उत्पीड़न का शिकार होते हैं ग़रीब भारतीय किसान! इस उपन्यास में 'प्रेमाश्रम' की तरह समाधान का सन्तोष नहीं है, एक प्रश्न चिह्न है जो मानो पूछता है: क्या उत्तर है तुम्हारे पास इस समस्या का? प्रेमचन्द कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते, किन्तु उसकी ओर संकेत अवश्य करते हैं। उपन्यास के एक बहुत सजीव, चिन्तनशील और दार्शनिक पात्र, प्रोफ़ेसर मेहता के मुंह से प्रेमचन्द ये शब्द कहलवाते हैं:

"जड़ पर जब तक कुल्हाड़े नहीं चलेंगे, पत्तियां तोड़ने से कोई नतीजा नहीं निकलेगा।" मतलब यह कि ग्रावश्यकता पूरे समाज को बदलने की है। यह नया स्वर है प्रेमचन्द के कृतित्व का। ग्रब छोटे-मोटे सामाजिक सुधारों से उन्हें सन्तोष नहीं होता दिखाई देता। इस उपन्यास का नायक भी एक ग्रसली किसान का सोलह ग्राने सही रूप है। उसमें गुण भी हैं, ग्रवगुण भी, वह झूठा भी है, सच्चा भी, ईमानदार भी है, बेईमान भी, सबल भी है, दुर्बल भी। यह उपन्यास समूचे भारतीय समाज की पृष्ठभूमि में किसान के जीवन का चित्रण करता है। इसलिये इसका चित्रपट बहुत ही विस्तृत है। इसमें गांव के वर्ग भी हैं, शहर के भी ग्रौर उनके ग्रापसी हितों का मेल तथा टकराव भी बहुत गहराई में जाकर स्पष्ट किया गया है। गांव में शोषक हैं—ज़मींदार ग्रौर उनके सहायक तथा सूदख़ोर—ग्रौर शोषित हैं किसान, खेत-मज़दूर ग्रौर ग्रछूत। शहर में ज़मींदार हैं, जो शहरी जीवन ग्रौर पूंजीवादी सभ्यता के लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु जो स्वयं पूंजीपति वर्ग—मिल-मालिकों, कारख़ानेदारों ग्रौर बैंकरों पर निर्भर हैं। पूंजीवादी शहरी प्रेस ग्रौर बुद्धिजीवियों की भी ग्रपनी भूमिकायें हैं। प्रेमचन्द ने 'गोदान' लिखने के समय तक ग्रच्छी तरह से यह समझ लिया था कि गांव की पुरानी ग्रर्थव्यवस्था टूट रही है, पुराने ग्रार्थिक ग्रौर सामाजिक सम्बन्ध समाप्त हो रहे हैं, सूदख़ोरों के रूप में गांवों में पूंजी की घुसपैठ हो रही है, किसान की ज़मीन छिन रही है, वह सर्वहारा बनने के लिये विवश हो रहा है ग्रौर इसी भांति शहर की बड़ी पूंजी ज़मींदारों को हड़पती जा रही है। किन्तु जब तक ये पुराने ग्रार्थिक सम्बन्ध पूरी तरह नहीं टूट जाते, तब तक इस संक्रान्तिकाल का सबसे ग्रधिक बोझ किसान के कंधों पर ही पड़ता रहेगा। सूदख़ोर भी उसे ही चूसते हैं ग्रौर ज़मींदार तथा उसके कारिन्दे भी, पुलिस के ग्रफ़सर ग्रौर दूसरे लोग भी। डा० रामविलास शर्मा का मत है कि "'गोदान' की मूल समस्या ऋण की समस्या है"। हमें खेद से यह कहना पड़ रहा है कि वास्तव में ऋण की समस्या तो किसान के जीवन की सर्वतोमुखी समस्याग्रों का एक ग्रंग ही है। 'गोदान' में किसान के जीवन के सभी पहलुग्रों ग्रौर वास्तव में सारे भारतीय समाज का विश्लेषण किया गया है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द ने समाज के सभी वर्गों की जानकारी प्राप्त करके वर्गगत समाज को समझा ग्रौर ग्रपने पात्रों के माध्यम से उनकी गतिविधियों पर प्रकाश डाला है। प्रेमचन्द के कृतित्व में इस उपन्यास की महत्ता ग्रौर लेखक की महानता

एक अन्य दृष्टि से भी निहित है। अंग्रेज़ी शासन के दमनचक्र और गांधी जी तथा कांग्रेस के नेतृत्व में दो बार सत्याग्रह आन्दोलन के असफल हो जाने के फलस्वरूप लोगों में, विशेषकर बुद्धिजीवियों में निराशावाद ने घर कर लिया था। रूस में १९०५ की क्रान्ति की असफलता के बाद भी ऐसा ही हुआ था। इसलिये भारतीय साहित्य में आम तौर पर और हिन्दी-उर्दू साहित्य में ख़ास तौर पर निराशावादी, रोमानवादी, रहस्यवादी और पलायनवादी प्रवृत्तियां प्रबल होती जा रही थीं। ऐसे वातावरण में भी प्रेमचन्द न केवल लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहे, उन्होंने न केवल अपनी साहित्यिक परम्परा को सुरक्षित रखा, बल्कि आगे बढ़े, युग-सत्य और यथार्थवाद की तरफ़ बहुत ही ठोस क़दम बढ़ाया। हिन्दी-उर्दू साहित्य के लिये प्रेमचन्द का यह बहुत ही युगान्तरकारी काम था। उन्होंने सही अर्थ में साहित्यिक नेतृत्व किया और उस प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के लिये ज़मीन तैयार की, जिसका बीज भी उनके जीवन के अन्तिम वर्ष में, उन्हीं की अध्यक्षता में डाल दिया गया था। प्रेमचन्द का समूचा साहित्य और विशेषकर 'गोदान' उपन्यास तथा उनकी अत्यधिक यथार्थवादी 'पूस की रात' और 'कफ़न' जैसी कहानियां ही उस प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन का आधार बनीं, जिसने गोर्की की साहित्यिक परम्परा से सीधा सम्बन्ध जोड़ा। क्या इस दृष्टि से भी प्रेमचन्द की साहित्यिक भूमिका गोर्की की भूमिका के निकट नहीं जा पड़ती? क्या गोर्की ने भी ह्रासवाद, प्रतीकवाद और रहस्यवाद की भूल-भुलैयां से रूसी साहित्य की धारा को समाजवादी यथार्थवाद की ओर मोड़ने का बहुत बड़ा क्रान्तिकारी काम नहीं किया था? प्रेमचन्द के लगभग सभी अध्ययनकर्त्ताओं ने वैचारिक और कला की दृष्टि से भी इस उपन्यास को बहुत उत्कृष्ट माना है। उदाहरण के लिये सोवियत विद्वान व० बालिन ने लिखा है: "कलात्मक दृष्टिकोण से भी 'गोदान' प्रेमचन्द की एक अत्यधिक परिमार्जित रचना है।" डा० राजेश्वर गुरु के मतानुसार "'गोदान' निर्विवाद रूप से प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति है। एक ओर, यह परिपक्व चिन्तन का परिणाम है, दूसरी ओर, इसमें उपन्यास के शिल्प-विधान का अन्यतम स्वरूप मिलता है।" हंसराज रहबर की राय में "'गोदान' प्रेमचन्द की सर्वोत्तम कृति है। यह एक महाकाव्य है। पढ़िये, बार-बार पढ़िये, तबीयत नहीं भरती।" उपन्यास के नायक होरी के बारे में उन्होंने लिखा है: "हिन्दी-उर्दू साहित्य का होरी एक महान पात्र है। शायद हम आगामी पचास वर्ष में भी उसकी

टक्कर के पात्र का निर्माण न कर सकें।" मन्मनाथ गुप्त नें यह मत प्रकट किया है: "इस उपन्यास का सामाजिक कैनवास इतना बड़ा है, जितना उनके (प्रेमचन्द के) लिखे हुए किसी भी उपन्यास का नहीं है। सच बात तो यह है, इसमें भारतीय शहरी और ग्राम्य जीवन की सभी परिस्थितिया तथा समस्यायें किसी न किसी रूप में आ जाती हैं। शरत् या रवीन्द्र के भी किसी उपन्यास का क्षेत्र इतना विशाल नहीं है, यद्यपि उनकी रचनाओं में हम 'गोदान' के आकार के उपन्यास कई पाते हैं। 'गोदान' में हम पचास साल के भारतीय इतिहास को जिस ख़ूबी से वर्णित पाते हैं, वह लेखक की महान रचना शक्ति का परिचायक है।" शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "'गोदान' उनकी कला की अन्तिम पूर्णिमा है। उनके... कृतित्व का सारांश है।" डा० रामदरस ओझा के मतानुसार "'गोदान'– यह प्रेमचन्द का ही नहीं, हिन्दी-उपन्यास साहित्य का श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है।" गंगाप्रसाद विमल का विचार है कि "कथा-विकास के हर कोण से देखा जाये तो 'गोदान' में एक 'समय' का यथार्थ ही प्रतिबिम्बित नहीं हुआ, बल्कि उसमें भारतीय किसान का इतिहास संरक्षित हुआ है। परन्तु वह घटनात्मक इतिहास की भांति शुष्क नहीं है अपितु कलात्मक चित्रों की भांति अर्थों की परत खोलनेवाला एक व्यापक चित्र-फलक है।" गोपाल-कृष्ण कौल का मत है कि "प्रेमचन्द का 'गोदान' बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में अपने युग का अग्रदूत ही नहीं, नये युग का सूत्रधार भी है।" डा० रामविलास शर्मा के अनुसार "होरी का चरित्र भारत के अजेय किसान का चरित्र है। 'गोदान' उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है।" डा० इन्द्रनाथ मदान की राय में "उपन्यास का प्रमुख पात्र होरी उपन्यास-कार की अमर सृष्टि है... उसके चरित्र का चित्रण करने में प्रेमचन्द ने अपनी समस्त कला उंडेल दी है।" डाक्टर महेन्द्र भटनागर ने लिखा है: "'गोदान' तो कृषक जीवन का महाकाव्य ही है। होरी का जीवन तत्कालीन भारत के लाख-लाख किसानों का जीवन है।"

ऊपर दिये गये अनेक उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गोदान' अपने समय की एक श्रेष्ठ युगान्तरकारी रचना है। लगभग सभी आलोचकों ने इसे प्रौढ़ चिन्तन, जीवन के अनुभवों का सच्चा निचोड़ और कलात्मक निखार का परिणाम माना है। फिर भी सभी आलोचकों ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए किसी न किसी बात पर विशेष ज़ोर दिया है। हमारी दृष्टि में इस उपन्यास का महत्त्व किस बात में निहित है? वह क्यों युगान्तर-

कारी है? हमें इसका कारण यही प्रतीत होता है कि गांधीवादी वर्ग-समन्वय की भावना से मुक्त होकर प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में सीधे वर्ग-संघर्ष और वर्ग-विभाजन का मार्ग अपनाया है। समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में बंटा हुआ है—शोषक और शोषित। शोषक आरम्भ से अन्त तक शोषक ही रहते हैं, वे देशभक्ति और राष्ट्रीयता की बातें भी करते हैं, किन्तु अपने हितों को नहीं भूलते, हर तरह से उनकी रक्षा करने की कोशिश करते हैं। वे स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भी भाग लेते हैं, जेल भी जाते हैं, मगर अपना शोषण ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहते हैं। इस दृष्टि से इस उपन्यास के दो पात्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं—रायसाहब अमरपालसिंह, जो बड़े ज़मींदार हैं और दम तोड़ते हुए सामन्तवाद के प्रतिनिधि हैं और दूसरे हैं बैंक और मिल के मालिक मिस्टर खन्ना, पूंजीवाद के प्रतीक। इनका चरित्र-चित्रण बहुत ही यथार्थवादी है। प्रेमचन्द ने अपनी विशेष शैली में इनका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है, व्यंग्य की मीठी चुटकियां भी ली हैं और कुछ ही शब्दों में इनकी सच्ची तस्वीर भी खींच दी है। देखिये रायसाहब का चरित्र-चित्रण—"पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाक़े के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। यह नहीं कि उनके इलाक़े में असामियों के साथ कोई ख़ास रियायत की जाती हो... मगर यह सारी बदनामी मुख़्तारों के सिर आतीं थी। रायसाहब की कीर्ति पर कोई आंच न आती थी... असामियों से वह हंस कर बोल लेते थे।"

आगे कितना प्यारा व्यंग है—"सिंह का काम तो शिकार करना है: अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार मिल जाता।" आगे देखिये कि कैसे यह ज़मींदार दुरंगी चाल चलता है—"रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाये रखते थे। उनकी नज़रें और डालियां और कर्मचारियों की दस्तूरियां जैसी की तैसी चली आती थीं।"

प्रेमचन्द फ़ौरन यह बात साफ़ कर देते हैं कि अपने हितों की रक्षा के लिये उन्हें सरकारी मशीनरी की ज़रूरत थी और इसलिये एक तरफ़ वह राष्ट्रवादी थे और दूसरी तरफ़ साम्राज्यवाद के स्तम्भ।

इसी तरह केवल दो-तीन वाक्यों में ही वह खन्ना का कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं—

"दो बार जेल हो आये थे... खद्दर न पहनते थे और फ़्रांस की शराब पीते थे... जेल में शराब छुई तक नहीं और ए० क्लास में रहकर भी सी० क्लास की रोटियां खाते रहे।"

यही राष्ट्रवादी और देशभक्त खन्ना अपने मिल-मज़दूरों के साथ बड़ी निर्दयता से पेश आते हैं।

ज़ाहिर है कि इन दो बड़ी जोंकों के अलावा गांव की दूसरी भयानक जोंकें—सूदख़ोर और इनकी समर्थक पूरी सरकारी मशीनरी भी—शोषक दल के साथ हैं। उपन्यास का एक पात्र, सूदख़ोर झिंगुरीसिंह बिल्कुल साफ़ शब्दों में कहता है: "क़ानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। क़ानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई ज़मींदार किसी कास्तकार के साथ सख़्ती न करे, मगर होता क्या है? रोज़ ही देखते हो। ज़मींदार मुसक बंधवाकर पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है... कचहरी-अदालत उसी के साथ हैं जिसके पास पैसा है।"

तो यही है असलीयत पूंजीवादी समाज के न्याय की! ऐसे समाज को प्रेमचन्द ने पूरी तरह नंगा करके हमारे सामने खड़ा कर दिया है। उच्च वर्ग के लोग भेड़िये हैं और अन्त तक भेड़िये ही रहते हैं। प्रेमचन्द पहले की तरह उनका हृदय-परिवर्तन नहीं कराते। यह ठोस यथार्थवाद है।

इसी उपन्यास में प्रेमचन्द तंखा के रूप में पूंजीवादी प्रेस के सम्पादकों और प्रेस की भी क़लई खोलते हैं। वह दिखाते हैं कि किस तरह प्रेस और उसके सम्पादकगण पूंजीपतियों और ज़मींदारों के हितों की रक्षा करते हैं और कैसे पैसे के बल पर उन्हें आसानी से ख़रीदा जा सकता है।

समाज के एक छोर पर हैं शोषक और दूसरे पर शोषित और उनके बीच की कड़ी बनाकर प्रेमचन्द प्रोफ़ेसर मेहता और डाक्टर मालती के रूप में शिक्षित मध्य वर्ग को पेश करते हैं। प्रेमचन्द ने बुद्धिजीवी वर्ग की वास्तविक प्रगतिशील भूमिका को स्पष्ट करने के लिये ही इन दो पात्रों को, विशेषत: प्रोफ़ेसर मेहता को बड़े यत्न से रचा है।

शोषित वर्ग में भारत के ८० प्रतिशत किसानों का प्रतिनिधि इस उपन्यास का नायक होरी है। उसके चरित्र-चित्रण में तो प्रेमचन्द ने कमाल ही कर दिया है। प्रेमचन्द की पूरी सहानुभूति उसके साथ है, मगर वह उसकी तस्वीर खींचते समय किसी तरह की रियायत नहीं बरतते, उसके अच्छे-बुरे दोनों पहलुओं को बड़ी ईमानदारी से दिखाते हैं। वह ख़ुशामदी

है, अपने स्वार्थ के लिये चालाकी भी करता है, बेईमानी भी करता है, मगर वह सामाजिक परिस्थितियों का शिकार है। प्रेमचन्द उपन्यास के शुरू में ही होरी की ग़रीबी की तस्वीर खींच देते हैं। वह ख़ुद चालीस साल का भी नहीं, लेकिन बूढ़ा लगता है, बीवी ३६ साल की है, मगर "सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गयी थीं। सारी देह ढल गयी थी, सुन्दर गेहुआं रंग संवला गया था और आंखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो।"

होरी अपने गांव के एक दूध बेचनेवाले, भोला से अपने दुख और ग़रीबी की कहानी इन शब्दों में कहता है—

"सब तरह किफ़ायत करके देख लिया। भैया कुछ नहीं होता। हमारा जनम इसीलिये हुआ है कि अपना रक्त बहायें और बड़ों का घर भरें।"

कितनी सचाई है इन शब्दों में। होरी जीवन भर इसी तरह ख़ून-पसीना एक करता रहता है, मगर न तो उसे, न उसके बीवी-बच्चों को भरपेट रोटी नसीब होती है, अच्छे कपड़ों या किसी तरह के आराम की तो चर्चा ही क्या हो सकती है। वह जीने के लिये, मर्याद निभाने के लिये संघर्ष करता जाता है, मंगल के लिये एक गाय ख़रीद पाने के हेतु मज़दूरी तक करता है और अपनी इस छोटी-सी चाह को भी पूरा किये बिना ही मर जाता है। यहां प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गांव में सूदख़ोर के रूप में पूंजी ज़मीन को अपने अधिकार में लेती जाती है, किसान के हाथ से निकलकर वह सूदख़ोर यानी छोटे पूंजीपतियों के हाथों में जा रही है जो उसे मज़दूरों से जुतवाकर मुनाफ़ा हासिल करते हैं। प्रेमचन्द ने न केवल शहरों में, बल्कि गांव में पूंजीवाद की घुसपैठ को बिल्कुल ठीक तरह से समझा था। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या होरी की मौत का मतलब है किसान की हार? नहीं, प्रेमचन्द यह बताना चाहते हैं कि किसान का संघर्ष जारी है और नाश उस समाज का होना यक़ीनी है, जो इस तरह के अन्याय और अत्याचार पर आधारित है। रहबर ने ठीक ही लिखा है कि होरी की मौत के बाद पाठक को लगता है: "यह समाज गया। कोई सुधार और उपचार इस व्यवस्था को टूटने से नहीं बचा सकता, अब तो जीवन के नवनिर्माण की बात सोचना ही हितकर है।" वास्तव में प्रोफ़ेसर मेहता के मुंह से लगभग यही बात प्रेमचन्द ने कहलवायी है। वैसे इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' के मनोहर और बलराज जैसे दो किसानों की भी रचना की है। अपने अधि-

कारों के प्रति पूरी तरह सजग और उनके लिये डटकर संघर्ष करने को तैयार किसान के रूप में रामसेवक हमारे सामने आता है। वह तो कुछ ही शब्दों में किसान के शोषण का पूरा चित्र खींच देता है और फिर यह घोषित करता है कि "संसार में गऊ बनने से काम नहीं चलता। जितना दबो उतना ही लोग दबाते हैं। थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत—सब हैं हमारी रक्षा के लिये, लेकिन रक्षा कोई नहीं करता। चारों तरफ़ लूट है। जो ग़रीब है, बेकस है, उसकी गर्दन काटने के लिये सभी तैयार रहते हैं... यहां तो जो किसान है, सब का नर्म चारा है।"

वह आगे बताता है कि कैसे ज़मींदार ने उसके गांव में लगान बढ़ा दिया। तब उसने क्या किया—

"मैंने गांव भर में डोंडी पिटवा दी कि कोई बेसी लगान न दो और न खेत छोड़ो, हमको कोई कायल कर दे, तो हम जाफ़ा देने को तैयार हैं, लेकिन जो तुम चाहो कि बेमुंह के किसान को पीसकर पी जायं तो यह न होगा। गांववालों ने मेरी बात मान ली, और सब ने जाफ़ा देने से इनकार कर दिया। ज़मींदार ने देखा, सारा गांव एक हो गया है, तो लचार हो गया। खेत बेदख़ल कर दे, तो जोते कौन! इस ज़माने में जब तक कड़े न पड़ो, कोई नहीं सुनता। बिना रोये तो बालक को भी मां से दूध नहीं मिलता।"

ऐसा ही दूसरा पात्र है होरी का बेटा गोबर। वह किसानों की नयी पीढ़ी का प्रतीक है और कुछ हद तक 'प्रेमाश्रम' के बलराज से मिलता-जुलता है। वह अपने बाप की भलमनसाहत, उसके दब्बूपन, उसके भाग्य-वादी दृष्टिकोणों का विरोध करता है और बहुत खुलकर ज़मींदारों तथा सूदख़ोरों की वास्तविकता का भंडाफोड़ करता है। किन्तु 'प्रेमाश्रम' के बलराज की तरह गोबर किसान ही नहीं रहता। उसका चरित्र बलराज से कहीं जटिल और आत्म-विरोधी है। प्रेमचन्द ने उसको सजग किसान भी दिखाया है, मगर साथ ही उसमें किसान की लालचभरी प्रवृत्ति भी दिखाई है। जब वह शहर में जाकर छोटा-सा धन्धा करके कुछ पैसे जमा कर लेता है, तो ख़ुद भी सूद पर रुपया देकर शोषण करने लगता है। वह गांव के सूदख़ोरों की निन्दा करता था, मगर ख़ुद भी इसी प्रवृत्ति का शिकार होता है। बरबस हमें गोर्की की चेल्काश कहानी के किसान नौजवान गाव्रीला का ध्यान आ जाता है। गोबर की तरह वह भी लालची है, उसमें भी यही लालसा दिखाई देती है कि वह धनी हो जाये, दूसरों का शोषण

दृष्टि से सम्पूर्ण मानवजाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिये कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिये भी हितकर होगी। हां, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे... पर जो सत्य है, एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।" प्रेमचन्द की इसी आस्था और विश्वास को लेकर जिन लेखकों ने हिन्दी-उर्दू साहित्य में गोर्की और प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया, उनमें कृश्न चन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी, सादत हसन मण्टो, ख़्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफ़री जैसे उर्दू के जाने-माने साहित्यकारों के साथ-साथ हिन्दी के निराला, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, अमृतराय, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, फनीश्वरनाथ 'रेणु', मोहन राकेश, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, भीष्म साहनी आदि उपन्यासकारों-कहानीकारों के नाम जोड़े जा सकते हैं। समालोचक शिवकुमार मिश्र के इस विचार से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है—"इन लेखकों को जो बात प्रेमचन्द और उनकी परम्परा से घनिष्ठ रूप में जोड़ती है, तमाम अन्य बातों के साथ वह एक बात, उनका प्रेमचन्द के ही मार्ग पर चलकर उपन्यास को यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के सबसे सशक्त माध्यम के रूप में मान्यता देना और अपनी कृतियों द्वारा उसे प्रमाणित करना है... प्रेमचन्द की परम्परा को प्रगतिशील जीवन-दृष्टि से प्रभावित कथाकार न केवल आगे बढ़ाते हैं, समसामयिक अनेक कथाकारों के विपरीत प्रयत्नों से उसकी रक्षा करते हुए उसे पुष्ट भी करते हैं।" उपन्यासों की भांति कहानी के क्षेत्र में भी प्रेमचन्द ही अपने बाद की पीढ़ी के लिये अनुकरणीय आदर्श बने हुए हैं, उन्हीं की परम्परा को हम आगे बढ़ते और समृद्ध होते हुए देख रहे हैं। प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी', 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम' तथा अन्तिम वर्षों में लिखी गयी 'पूस की रात' तथा 'कफ़न' जैसी कहानियां सही अर्थ में प्रेमचन्द के बाद के कहानीकारों की पीढ़ी की रहनुमाई कर रही हैं, उनके लिये पथप्रदर्शक बनी हुई हैं। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के बाद के लेखकों ने सामाजिक जीवन के अनेक नये पक्षों की ओर ध्यान दिया है, नयी समस्याओं और नयी विषय-वस्तुओं को चुना है, शैलीगत परिवर्तन और प्रयोग किये हैं, किन्तु उनके रचनाकार की सोद्देश्यता, समाज के पीड़ित-दलित व्यक्तियों, श्रेणियों और वर्गों का पक्ष-पोषण, सच्चे और जुझारू मानवतावाद की नैतिकता का

समर्थन, समाज को बदलने की आवश्यकता और उसमें न्याय और समानता के भावों का प्रतिपादन तथा भविष्य में जीवन के अधिक मानवीय रूप लेने का विश्वास—ये ऐसे तत्त्व हैं, जो हिन्दी के इन लेखकों को गोर्की और प्रेमचन्द की परम्परा के साथ जोड़ते हैं, जीवन-दर्शन और जीवन-दृष्टिकोणों की ऐसी सादृश्यता ही गोर्की और प्रेमचन्द तथा सोवियत एवं हिन्दी-उर्दू साहित्य की परवर्ती पीढ़ियों को सूत्रबद्ध करती है। गोर्की और प्रेमचन्द की परम्परा जीवित है और सदा जीवित रहेगी, क्योंकि वह सच्चे मानवतावाद की परम्परा है।

पाठकों से

रादुगा प्रकाशन को इस पुस्तक की विषयवस्तु ग्रौर डिज़ाइन के संबंध में ग्रापकी राय जानकर ग्रौर ग्रापके ग्रन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। ग्रपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें:

रादुगा प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।

मक्सिम गोर्की (१८६८–१९३६)–रूसी सो
वियत लेखक तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता
साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद के जन्मदाता
सोवियत लेखक संघ के प्रथम अध्यक्ष।

प्रेमचन्द (१८८०–१९३६)–हिन्दी-उर्दू सा
हित्य में यथार्थवादी साहित्य परम्परा
प्रवर्त्तक। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथ
अध्यक्ष।

"प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों लेखकों की प्रतिभा
उन पक्षों को विद्वत्तापूर्वक उद्घाटित किया गया
है जिनसे अमर साहित्य की रचना होती है।"

('नवभारत टाइम्स')

"गोर्की और प्रेमचन्द के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन पहले भी प्रस्तुत किया गया है, पर प्रस्तुत पुस्तक में शायद, पहली बार रूस और भारत की तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इन दो महान लेखकों का क्रमबद्ध और बहुमुखी चित्र प्रस्तुत किया गया है।"

('कादम्बिनी')

"प्रस्तुत पुस्तक दो महान लेखकों के कृतित्व के अनेक वर्षीय अनुसंधान का सुफल है। पुस्तक रोचक है और इसकी यह रोचकता आरंभ से अन्त तक वनी रहती है। सारगर्भित होने के साथ-साथ इसकी अच्छी सज्जा इसे और भी आकर्षक बना देती है।"

('इंडिया')

"प्रस्तुत पुस्तक में अच्छी तरह से दिखाया गया है कि सामाजिक और राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि में दो महान लेखकों के जीवन का कटु अनुभव उनके कृतित्व में कैसे प्रतिबिम्बित हुआ है। गोर्की और प्रेमचन्द के साहित्य के अध्ययन और उसे अच्छी तरह समझने की दृष्टि से इस पुस्तक को अवश्य पढ़ा जाना चाहिये।"

('जनोदय')